TIGHT BINDING BOOK

UNIVERSAL
LIBRARY

OU_186103

UNIVERSAL
LIBRARY

Osmania University Library

Call No. H 81 K 21D

Accession No. G.H 3608

Author कौल गोपाल कृष्ण. H.S

Title दिनकर : सृष्टि और दृष्टि

This book should be returned on or before the date last marked below.

दिनकर : सृष्टि और दृष्टि

सम्पादक

गोपाल कृष्ण कौल

हरप्रसाद शास्त्री

प्रकाशक

वातायन प्रकाशन

गाजियाबाद

एक मात्र वितरक

सहयोगी प्रकाशन

गाजियाबाद

प्रकाशक :
वातायन प्रकाशन
गाजियाबाद ।

सर्वाधिकार सुरक्षित हैं

प्रथम संस्करण

मूल्य दस रुपये
रु० १०·००

मुद्रक :
प्रस ग्रॉफ दी वर्कर्स,
किनारी बाजार, दिल्ली ।

अनुक्रम

१.	सम्पादकीय	५
२.	कवि की दृष्टि में उसकी सृष्टि—गोपाल कृष्ण कौल [दिनकर जी से भेंट-वार्ता]	१७— ३२
३.	ओजस्वी कवि दिनकर—डा० विश्वम्भर नाथ उपाध्याय	३३— ४१
४.	आलोचक दिनकर—डा० पद्मसिंह शर्मा 'कमलेश'	४२— ५४
५.	छायावाद : दिनकर की दृष्टि में—उदयभानुसिंह	५५— ५९
६.	प्रयोगवाद : दिनकर की दृष्टि में—अजितकुमार	६०— ६५
७.	दिनकर के काव्य की मूल चेतना—हरप्रसाद शास्त्री	६६—१०१
८.	दिनकर का गीतिकाव्य—जगदीश वाजपेयी	१०२—१०७
९.	अर्द्धनारीश्वर की भावना और दिनकर काव्य—कमला रत्नम्	१०८—१२६
१०.	दिनकर का सांस्कृतिक राष्ट्रीय चिंतन—सेवाराम यात्री	१२७—१३९
११.	दिनकर का विद्रोही स्वर—डा० जयचन्द राय	१४०—१४७
१२.	युगधर्म की पुकार : रेणुका और हुँकार—हरप्रसाद शास्त्री	१४८—१५८
१३.	सामधेनी : यौवन के उद्दामवेग की वाणी—डा० विश्वनाथ मिश्र	१५९—१६५
१४.	सरस भावों की रसधार : रसवन्ती—डा० शिवशंकर शर्मा	१६६—१८१
१५.	मंगल कामना का काव्य : कुरुक्षेत्र—डा० प्रभाकर माचवे	१८२—१८९
१६.	विचारक कवि की उदग्रवाणी कुरुक्षेत्र—कुमार विमल एम० ए०	१९०—२०३
१७.	रश्मिरथी—जीवन प्रकाश जोशी	२०४—२१०
१८.	नीलकुसुम और प्रयोगवाद—बालस्वरूप राही	२११—२१३
१९.	प्रौढ़ किन्तु सुकुमार रचना : उर्वशी—डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी	२१४—२२२
२०.	अन्तर्मन्थन का काव्य : उर्वशी—डा० नगेन्द्र	२२३—२३५
२१.	मणिकुट्टिम काव्य : उर्वशी—नरेन्द्र शर्मा	२३६—२४२
२२.	रंगमंच की दृष्टि में उर्वशी—वीरेन्द्र नारायण	२४३—२५१
२३.	दिनकर : एक जनतन्त्री विचारक—डा० देवराज	२५२—२५४
२४.	संस्कृति के चार अध्याय—मन्मथनाथ गुप्त	२५५—२६३
२५.	संस्कृति की सामासिकता और दिनकर—राजेन्द्र द्विवेदी	२६४—२६७

२६. अर्धनारीश्वर—रामगोपाल सिंह चौहान— २६८—२७३
२७. दिनकर के काव्य के प्रेरणास्रोत—पी० रामेश्वरम् २७४—२८१
२८. दिनकर की काव्य-भाषा और छन्दोविधान—डा० अम्बाप्रसाद 'सुमन' २८२—२९४
२९. श्री रामधारी सिंह दिनकर : एक परिचय—आचार्य शिवपूजन सहाय २९५—२९९
३०. कविवर दिनकर—बनारसीदास चतुर्वेदी ३००—३०४
३१. हातिम—सुहेल अजीमाबादी ३०५
३२. दिनकर : एक संस्मरण—मनोरंजन एम० ए० ३१२
३३. दिनकर भैया—ब्रजकिशोर 'नारायण' ३१७
३४. जीवन-क्रम—त्रिलोकी प्रसाद ३१९

सम्पादकीय

'दिनकर' विचारक एवं गतिशील कवि हैं। भाषा में ओज, कथावस्तु में परम्परा का सांस्कृतिक गौरव, अनुभूति में तीव्र असंतोष की वेदना, अभिव्यक्ति में तीखापन और प्रखरता, विचारवस्तु में विवेक की युगधर्मिणी सजगता और सतर्कता और कला में जनवादी सहजता ये सब मिलकर जिस काव्य स्वरूप की झाँकी प्रस्तुत करते हैं—हिन्दी कविता में दिनकर का बहुत कुछ वैसा ही कृतित्व कहा जा सकता है। स्रष्टा के रूप में वह किसी उपलब्धि के पड़ाव पर आकर रुक नहीं गए, उसके आनन्द के उपभोक्ता बनकर तृप्तकाम नहीं हुए; बल्कि निरन्तर व्यक्तित्व की खोज में आगे बढ़ते रहे हैं और भावनाओं के आवेग की उलझन भरी राहों में भी उनके विवेक का सूर्य सदा रोशनी की किरणें बिखेरता रहा है।

दिनकर को इन काव्यगत विशेषताओं के कारण न तो पूरी तौर से छायावादी, न ही प्रगतिवादी और न ही प्रयोगवादी कहा जा सकता है। शायद इसीलिये आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने हिन्दी साहित्य के इतिहास में उनका उल्लेख स्वच्छन्द धारा में किया है। शुक्लजी ने उनकी तीन ही रचनाओं का हवाला दिया है—प्रणभंग, रेणुका और हुँकार। ऐसा लगता है कि स्वच्छन्द धारा के कवियों में पं० माखनलाल चतुर्वेदी, सियाराम शरण गुप्त, बालकृष्ण शर्मा 'नवीन'; श्रीमती सुभद्राकुमारी चौहान, हरिवंशराय बच्चन, रामधारी सिंह 'दिनकर', ठाकुर गुरुभक्त सिंह और उदयशंकर भट्ट का नाम गिनाकर शुक्ल जी ने एक इतिहासकार का कर्त्तव्य तो निभा दिया, लेकिन इन कवियों की काव्यगत विशेषताओं का मूल्यांकन करके इनके काव्य के महत्त्व का निर्धारण नहीं किया। शुक्लजी ने आधुनिक काल के वर्गीकरण में जो सीमायें निश्चित कीं, उन सीमाओं से इन कवियों के काव्यगत मूल्य या तो कुछ इतर थे या शुक्लजी इनका पूरा मूल्यांकन करने का अवसर नहीं पा सके थे। स्वच्छन्द धारा का स्पष्टीकरण करते हुए शुक्लजी ने लिखा भी है—"उन सब की अपनी अलग-अलग विशेषता है, इस कारण उनको एक ही वर्ग में नहीं रखा जा

सकता, सुभीते के लिए ऐसे कवियों की समष्टि रूप से स्वच्छन्द धारा प्रवाहित होती है।"[1]

इसके विपरीत 'अज्ञेय' दिनकर को 'रोमाण्टिक नेशनलिस्ट' (राष्ट्रवादी)[2] कवि मानते हैं। 'अज्ञेय' का यह अभिमत शायद इस आधार पर हो कि जब छायावाद का श्रेष्ठ काव्य रचा जा रहा था उस समय राष्ट्रीय या राष्ट्रवादी काव्य धारा की भी श्रेष्ठ रचनायें लिखी जा रही थीं। छायावाद कालीन इन राष्ट्रीय कविताओं को दृष्टि में रखकर 'अज्ञेय' ने दिनकरजी को 'रोमाण्टिक' और 'नेशनलिस्ट' दोनों विशेषणों से विभूषित कर दिया। इसका मतलब यह बिल्कुल नहीं है कि जो कवि रोमाण्टिक है वह नेशनलिस्ट नहीं हो सकता और जो नेशनलिस्ट है वह रोमाण्टिक नहीं हो सकता, लेकिन केवल ऐसे विशेषणों से किसी कवि का समुचित मूल्यांकन संभव नहीं है।

हिन्दी-साहित्य में राष्ट्रीय कविता नाम से अधिकतर उस कविता का मूल्यांकन किया गया है जिसमें भारत के स्वाधीनता-संग्राम या राष्ट्रीय आन्दोलन का तत्कालीन संदेश जोश या दर्द के साथ व्यक्त किया गया हैं। ज्यादातर इस सामयिक मूल्य की कसौटी पर राष्ट्रीय काव्य को परखा जाता था। इसका परिणाम यह भी हुआ कि खादी, चरखा, तकली एवं राष्ट्रीय नेताओं की प्रशस्ति में लिखी जाने वाली कवितायें भी अपने प्रचारात्मक महत्त्व के कारण राष्ट्रीयता के गौरव से मण्डित कर दी गई। इसमें शक नहीं कि आन्दोलन के राजनैतिक कारणों की दृष्टि से राष्ट्रीयता के सामयिक मूल्य भी महत्त्वपूर्ण होते हैं लेकिन साहित्य में राष्ट्रीयता का मूल्य व्यापक सांस्कृतिक एवं मानवीय मूल्यों के आधार पर निर्धारित होता है। इस दृष्टि से राष्ट्रीय काव्य या राष्ट्रीय साहित्य की सीमा में प्रायः श्रेष्ठ साहित्य ही आता है जिसमें केवल देश की भौगोलिक राष्ट्रीयता की वंदना ही नहीं होती; बल्कि उसकी सांस्कृतिक गरिमा और उदात्त मानवीय उपलब्धियों की भावना, परम्परा का बल, वर्तमान का द्वन्द्व और भविष्य के स्वप्नों की कल्पना छिपी रहती है। राष्ट्रीयता की इस व्यापक दृष्टि से मैथिलीशरण गुप्त, निराला, पंत, प्रसाद, माखनलाल चतुर्वेदी, दिनकर सभी राष्ट्रीय कवि माने जा सकते हैं, लेकिन इन कवियों में जो अंतर है, उसको जितना स्पष्ट किया जायगा उतनी ही इन कवियों की काव्यगत विशेषतायें अलग-अलग स्पष्ट होती जाएँगी। यदि राष्ट्रीयता की कसौटी देशभक्ति है तो ये सभी कवि राष्ट्रीय हैं। अपने-अपने स्तर पर सभी में सामाजिक असंतोष की झलक दिखाई पड़ती है और अपने-अपने माध्यमों से सभी राष्ट्रीय आन्दोलन से प्रभावित हैं, लेकिन पंत, प्रसाद

---

[1]. हिन्दी साहित्य का इतिहास—रामचन्द्र शुक्ल

[2]. कन्टम्पोरेरी इंडियन लिटरेचर—स. ही. वात्स्यायन

और निराला पूरी तरह छायावादी क्यों माने जाते हैं और दिनकर उसी तरह छायावादी क्यों नहीं माने जाते। इस पर विचार करने से एक भेद स्पष्ट होता है, वह भेद है अनुभूति के स्तर का भेद और अभिव्यक्ति की शैली का भेद। अनुभूति के स्तर पर इन कवियों से दिनकर जी अधिक यथार्थवादी हैं और अभिव्यक्ति के स्तर पर अधिक जनवादी हैं। दूसरी ओर दिनकर की राष्ट्रीय भावना मैथिलीशरण गुप्त की राष्ट्रीय भावना की तरह सुधारवादी आदर्शवाद से इतनी अनुप्राणित नहीं है जितनी विद्रोही यथार्थवाद से। फिर दिनकर के काव्य के कई स्तर-भेद भी हैं जैसे—रेणुका, हुंकार और द्वन्द्वगीत का विद्रोही स्वर, कुरुक्षेत्र और रश्मिरथी में सांस्कृतिक परम्परा का आधुनिक संदर्भों में मानवीय चित्रण, रसवंती और 'नीलकुसुम' में नवीन रस-बोध और सौन्दर्य-बोध की अभिव्यक्तियाँ और उर्वशी में आधुनिक मानव की तीव्र जिज्ञासा। इसके अतिरिक्त हिन्दी कविता को छायावादी काव्य-भाषा से, जो जनता के हृदय से दूर होती जा रही थी, मुक्ति दिलाने में दिनकर जी की भाषा-शैली का महत्त्वपूर्ण योगदान है। इस कार्य में बच्चन जी का नाम भी उल्लेखनीय है। भले ही दिनकर जी की भाषा पर यह आरोप लगाया जाय कि इनकी भाषा में वह संगीत नहीं होता जो काव्य को मधुर बनाता है लेकिन उसमें जो प्रखरता और तीखापन है, आधुनिक युग की अभिव्यक्ति के लिए उसकी सामर्थ्य में संदेह नहीं किया जा सकता। और फिर जैसी विचार-वस्तु एवं भावना होती है उसके अनुकूल वैसा ही अभिव्यक्ति का माध्यम यदि न हो तो अभिव्यक्ति की शैली अशक्त और प्रभावहीन हो जाती है। विद्रोही विचारों और ओजस्वी भावनाओं की अभिव्यक्ति के लिए कोमल भाषा का माध्यम असंगत ही नहीं अस्वाभाविक भी है। इसलिए दिनकर जी की अभिव्यक्ति-शैली में जो प्रखरता और तीखापन है वह भाषा की काव्यानुकूल संगीतहीनता के कारण नहीं बल्कि भाषा की शक्ति को समझकर अनुकूल शब्द-संकेतों के प्रयोग के कारण है, चाहे उनके संगीत की ध्वनि कोमल न हो क्योंकि भाषा का संगीत केवल कोमल ही नहीं होता ओजस्वी भी होता है।

दिनकर में छायावादी कवियों की भाँति संस्कृत-प्रधान भाषा के प्रति मोह नहीं है। संस्कृतनिष्ठ कृत्रिमता के वे विरोधी हैं, इस सम्बन्ध में उनका एक संस्मरण है—

१ "नवीन जी में जब तक कुछ अरबी-फारसी के शब्द भी दिखाई दे जाते थे। जैसे-जैसे समय व्यतीत होता गया, निराला जी की कुछ कविताओं में अरबी-फारसी के कुछ शब्द बढ़ते गए किन्तु नवीन जी की भाषा में से ऐसे शब्द लुप्त होने

1. बट-पीपल—ले० दिनकर।

लगे। एक घटना याद आती है—श्रीनगर में मैं दो-चार व्यक्तियों के सामने रश्मिरथी का एक अंश सुना रहा था—उसमें कर्ण शल्य से कहता है—

समझोगे नहीं शल्य इसको यह करतब नादानों का है।
यह खेल जीत से बड़े किसी मकसद के दीवानों का है॥

सुनते ही नवीन जी के मुख से बेसाख्ता निकल पड़ा—"नो नो कर्ण काण्ट स्पीक इन दैट लैंग्वेज" (नहीं-नहीं कर्ण इस प्रकार की भाषा नहीं बोल सकता) द्वापर का चरितनायक अरबी-फारसी के शब्दों का प्रयोग करे, इसे वे किसी भी तरह स्वीकार नहीं कर सकते।"

[1] एक किस्सा और है—"सन् १९५४ या ५३ ई० में मैंने नर्तकी नाम की एक कविता लिखी जो 'नीलकुसुम' में संग्रहीत है, उसमें अरबी-फारसी के भी कुछ शब्द हैं। यह कविता जब मैंने नवीन जी को सुनाई—उन्होंने कागज मुझसे ले लिया और मैथिलीशरण जी के साथ बैठकर भाषा की दृष्टि से कविता का पूरा संशोधन कर डाला। स्पष्ट ही यह संशोधन अगर को 'यदि' तथा चीज को 'वस्तु' बनाने के लिए था। जब कविता मुझे उन्होंने लौटाई—मैंने विनय-पूर्वक निवेदन किया—"संग्रह में तो इस कविता का मूल रूप ही जायगा लेकिन यह संशोधित प्रति भी मैं जुगाकर रखूँगा।"

इन संस्मरणों से स्पष्ट है कि दिनकर भाषा के सम्बन्ध में न तो मौलवी हैं और न पंडित, बल्कि एक जनवादी कवि के रूप में सदा उस काव्य-भाषा के लिए सचेष्ट हैं, जो कवि के हृदय से निकलकर जनमानस तक सहज-भाव से पहुंचती है। जिस युगधर्म का स्वर उनकी कविता में गूँजा है, उसके लिए ऐसी ही भाषा की जरूरत थी, जो छायावाद के अलौकिक जगत से कविता को लोक की यथार्थ भूमि पर ला सके। देवताओं की वाणी को मानव की वाणी बनाना इस भाषा की खूबी है। भगवती चरण वर्मा का यह कथन कि, "दिनकर हमारे युग के यदि एक मात्र नहीं तो सबसे प्रतिनिधि कवि हैं।" इसलिए सार्थक है कि दिनकर ने युग के असंतोष को वह वाणी दी जिसकी उसे जरूरत थी। हिन्दी-कविता में यह एक महत्त्वपूर्ण घटना है।

काव्य में भाषा की इस महत्त्वपूर्ण भूमिका के सम्बन्ध में दिनकर ने स्वयं लिखा है—[2] "मेरे भीतर बचपन का अर्जित तुलसी का संस्कार था और पीछे जब मैं कबीर का अध्ययन करने लगा तब कबीर से भी यही प्रेरणा मिली कि कविता

१. वट पीपल—ले० दिनकर।
२. चक्रवाल (भूमिका)—ले० दिनकर।

समझ में आने योग्य होनी चाहिए जिससे पाठक उसका अधिक से अधिक आनन्द ले सकें। आज ऐसी बहुत सी छायावादी कवितायें मेरी समझ में आने लगी हैं जो उन दिनों दुरूह लगती थीं, किन्तु इस दुरूहता के भय ने उस समय मुझे छायावादी आन्दोलन के साथ एकात्म होने नहीं दिया।"

[1]. "अपनी रुचि का मैंने जो विवरण दिया है उससे एक सिद्धान्त बड़ी आसानी से निकाला जा सकता है कि मैं सौन्दर्य से अधिक सुस्पष्टता का प्रेमी हूँ। कविताओं में अनुभूतियों की बारीकियाँ या ऊँचे-ऊँचे भाव मुझे तभी जँचते हैं, जब वे अनुरूप शैली में स्वच्छता से अभिव्यक्त किए गए हों। प्रायः पच्चीस-तीस वर्षों तक विभिन्न कविताओं का अध्ययन करते-करते मेरी यह धारणा दृढ़ हो गई है कि अभिव्यक्ति की अस्वच्छता से पीड़ित कविताओं के पक्ष में जो कुछ भी कहा जाता है, सब बकवास है।"

[2] "न जाने कब यह बात अनेक आलोचकों और कवियों की समझ में आएगी कि कविता की महत्ता का कारण भावों की उच्चता नहीं, अभिव्यक्ति की सफाई होती है।"

दिनकर का अभिव्यक्ति की स्वच्छता का यह सिद्धान्त उनकी भाषा के सौन्दर्य को समझने के लिए ही पर्याप्त नहीं है, बल्कि उनके काव्य-शिल्प को समझने की भी एक सीढ़ी है। भाषा में अभिव्यक्ति की स्वच्छता पर कायम रहते हुए भी उनके काव्य-विकास में जो नये स्तर बनते गये हैं, उनमें कोई बाधा नहीं पड़ी है। ऊपर से देखने पर 'रेणुका', 'हुँकार', 'कुरुक्षेत्र', 'रसवंती', 'नीलकुसुम' और उर्वशी' की भाषा एक-सी नजर आती है लेकिन इन काव्यों के भावस्वरों की आन्तरिक दृष्टि से भावानुकूल भाषा-शिल्प का प्रयोग अलग-अलग स्तरों पर दिखाई देता है। अभिव्यक्ति की स्वच्छता का पालन करते हुए विषयवस्तु और अनुभूति के विभिन्न छवि-चित्रों के लिए अलग-अलग शब्द-संकेतों को खोज निकालना कवि की शिल्पगत सफलता है।

युग-धर्म के मर्म को समझने वाला ऐसा कवि अपने जीवन में कितनी प्रतिकूल परिस्थितियों में फँसा रहा, यह एक अद्भुत प्रसंग है इस सम्बन्ध में मन्मथनाथ गुप्त का यह कथन विचारणीय है :—

[3] 'अचरज की बात यह है कि हिन्दी का वह कवि (दिनकर) अंग्रेजी सरकार की मा हती में फँस गया जिसके भीतर से भारत की राष्ट्रीयता अपनी सबसे निर्भीक आवाज उठाने वाली थी। अंग्रेजों के अधीन रहने पर भी दिनकर जी ने अपनी

---

[1],[2]. चक्रवाल (भूमिका)—ले० दिनकर।

[3]. आज के लोकप्रिय हिन्दी कवि : रामधारी सिंह दिनकर—ले० मन्मथ नाथ गुप्त।

आवाज़ की नहीं रोका, यह उनके आंतरिक व्यक्तित्व की विशेषता थी। और जनता जो उन्हें अपना प्यार देती रही, उसका भी यही कारण था कि हमारा यह कवि पेट और परिवार-पालन की व्यवस्था में नौकरी में फँस गया है, फिर भी वह हमारा काम काफी निर्भीकता से कर रहा है।"

किसी भी कवि की ऐसी जीवन परिस्थितियों पर उसकी उपलब्धियों से चिढ़कर व्यंग्य करना सरल है, किन्तु विपरीत परिस्थितियों में कोई कवि अपने व्यक्तित्व को सच्चाई की मंजिल तक ले जाने के लिए कितनी कठोर अग्नि-परीक्षा और मानसिक यातना में से गुजरता है, यह अपने आप में एक कठिन साधना है। दिनकर स्वयं इस सम्बन्ध में लिखते हैं—

[1]. "मेरी राष्ट्रीय कविताओं और मेरे जीवन के बीच एक प्रकार की भिन्नता रही है, जो उस व्यक्ति के चारित्रिक विरोधाभास का प्रतीक है जो कहता कुछ और तथा करता कुछ और है फिर भी यह सत्य है कि मेरे वचन और कर्म के बीच की खाई अत्यन्त संकीर्ण थी और किसी भी धक्के के साथ मेरा कर्म मेरे बचनों का अनुगामी बन सकता था।"

इन परिस्थितियों का यह परिणाम भी हो सकता था कि दिनकर सरकारी नौकरी छोड़कर राष्ट्रीय आन्दोलन के एक राजनैतिक कार्यकर्ता बन जाते, लेकिन यह अपने आप में कोई बड़ी घटना नहीं होती। राष्ट्रीय आन्दोलन हमेशा अनेक छोटे-बड़े राजनैतिक कार्यकर्ताओं को जन्म देता है और उनका अपना एक ऐतिहासिक महत्त्व भी होता है। लेकिन राष्ट्रीय आन्दोलन के गर्भ से विद्रोही कवि कम पैदा होते हैं और जो होते हैं वे अनेक राजनैतिक कार्यकर्ताओं से ज्यादा महत्त्वपूर्ण होते हैं। भारत के राष्ट्रीय आन्दोलन ने हिन्दी-साहित्य को दिनकर के रूप में एक विद्रोही कवि की भेंट दी है। इस सम्बन्ध में दिनकर का यह कथन महत्त्वपूर्ण है—[2]. "अपने समय की धड़कन सुनने को जब भी मैं देश के हृदय से कान लगाता, मेरे कान में किसी बम्ब के धड़ाके की आवाज़ आती, फाँसी के झूले पर झूलने वाले किसी नौजवान की पुकार आती अथवा मुझे दर्द-भरी ऐंठन की वह आवाज सुनाई देती जो गाँधी जी के हृदय में चल रही थी, जो उन सभी राष्ट्रनायकों के हृदय में चल रही थी जिनसे बढ़कर मैं किसी को श्रद्धेय नहीं समझता था।"

"मुझ जैसे लोग राष्ट्रीय एवं क्रांतिकारी भावनाओं के प्रवाह में बह गये। मेरी वैयक्तिक अनुभूतियाँ धरी रह गईं और मेरा सारा अस्तित्व समाज और राष्ट्र की अनुभूतियों के अधीन हो गया।"

---

[1], [2]. चक्रवाल (भूमिका)—ले० दिनकर

दिनकर के राष्ट्रीय काव्य में समष्टि की अनुभूति ही उनकी अपनी अनुभूति बनकर प्रकट हुई है। स्वाधीनता की आकांक्षा, गुलामी के प्रति विद्रोह और समाज में फैली विषमता के प्रति आक्रोश, उनकी राष्ट्रीय कविता के स्थायी स्वर हैं, लेकिन राष्ट्रीयता की भावना उनके लिए राजनैतिक नारेबाजी नहीं बन सकी। राष्ट्रीयता के भाव को उन्होंने व्यापक और सांस्कृतिक परम्परा के आधारों पर ग्रहण किया, इसीलिए उनके काव्य में भारत के सांस्कृतिक विकास के प्रतिबिम्ब क्रमशः नये रूपों में आते चले गये हैं। इस अर्थ में 'हुँकार' से लेकर 'उर्वशी' तक अलग-अलग स्तरों पर नये-नये संदर्भों में संस्कृति के छवि-चित्रों का अंकन हुआ है।

दूसरी ओर दिनकर हिन्दी-कविता के तीन महत्त्वपूर्ण युगों से होकर गुजरे हैं—छायावाद, प्रगतिवाद और प्रयोगवाद। और उनके काव्य-व्यक्तित्व पर तीनों की कुछ न कुछ छाप है। ठीक उसी प्रकार जैसे—कई राहों से गुजरने वाले पथिक का व्यक्तित्व अपना बना रहे मगर रास्तों की धूल का स्पर्श उसे अवश्य मिल जाता है। फिर भी उनके काव्य में छायावाद की धूमिलता, प्रगतिवाद की राजनैतिक संकीर्णता और प्रयोगवाद की कुंठाग्रस्त कृत्रिमता देखने को नहीं मिलती। इस प्रकार युगपथों के महत्त्वपूर्ण प्रभावों से अपने काव्य की शैलीगत और भावगत विशेषताओं के स्वरूप को अक्षुण्ण रखते हुए जो विचारपूर्ण गतिशीलता दिनकर के काव्य में प्रारम्भ से अब तक विद्यमान है—यह कवि के उस सजीव व्यक्तित्व का प्रमाण है जो विरोधों से भी शक्ति ग्रहण करके रचनात्मक साधना में निरत रहता है।

स्वाधीनता से पूर्व उनके काव्य में उद्दाम वेग से विद्रोही स्वर मुखर हुआ है। उस समय हिन्दी के राष्ट्रीय काव्य में विद्रोह की इतनी आग दूसरी जगह कम ही देखने को मिलती है। वह 'युगधर्म की हुँकार' बनकर गूंज रहे थे। स्वाधीनता-पूर्व के उनके काव्य—रेणुका, हुंकार, द्वन्द्वगीत और कुरुक्षेत्र सभी में यह स्वर प्रमुख है। दिनकर के इस विद्रोही राष्ट्रीय काव्य की तुलना बँगला के प्रसिद्ध कवि काजी नजरुल इस्लाम से की जा सकती है। दोनों में अग्निवीणा की झंकार है। काजी नजरुल इस्लाम की 'तरुण' शीर्षक कविता का अंश है—

"आमि झंझा, आमि घूर्णि
आमि पथ सम्मुखे यांहा पाइ आइ चूर्नि"

अर्थात् मैं आँधी हूँ, बवंडर हूँ। जो भी मेरे रास्ते में पड़ता है उसे मैं चूर-चूर कर देता हूँ।

"महाविद्रोही रण क्लान्त
आमि सेइ दिन हव शान्त

यवे उत्पीड़ितेर क्रन्दन-रोल आकाशे वातासे ध्वनिवे ना,
अत्याचारीर खड्ग कृपाण भीम रण-भूमे रणिवे ना,
विद्रोही रणक्लान्त
आमि सेइ दिन हव शान्त।''

अर्थात् मैं विद्रोही हूँ, मुझे रण की पिपासा है, मैं उसी दिन शान्त होऊँगा 'जिस दिन पीड़ितों की व्यथा और क्रन्दन के स्वर आकाश में नहीं गूँजेंगे और अत्याचारी का अत्याचार समाप्त हो जायगा।''

और दिनकर 'आलोकधन्वा' शीर्षक कविता में अपने कवि के बारे में कहते हैं—

ज्योतिर्धर कवि मैं ज्वलित सौर मंडल का,
मेरा शिखण्ड अरुणाभ, किरीट अनल का।
रथ में प्रकाश के अश्व जुते हैं मेरे,
किरणों में उज्ज्वलगीत गुथे हैं मेरे।
स्वर को कराल हुँकार बना देता हूँ,
यौवन को भीषण ज्वार बना देता हूँ।
शूरों के दृग अंगार बना देता हूँ,
हिम्मत को ही तलवार बना देता हूँ।
मस्तक में भर अभिमान दिया करता हूँ,
पतनोन्मुख को उत्थान दिया करता हूँ।

लेकिन स्वाधीनता के बाद दिनकर का यह विद्रोही स्वर शान्त नहीं हुआ। इसकी अभिव्यक्ति दूसरे रूपों और दूसरे संदर्भों में होने लगी। अत्याचारों के विरुद्ध कवि की विद्रोही चेतना सदा जागरूक रहती है—स्वाधीनता से पूर्व वह गुलामी के खिलाफ थी और स्वाधीनता के बाद समाज में व्याप्त अनेक प्रकार की मानव-द्रोही विषमताओं के खिलाफ। राज्य-सभा के सदस्य बनने के बाद भी सन १९५४ में दिल्ली को ललकारते हुए कवि कहता है—

किस्मतें रोज़ छप रहीं, मगर, जलधार कहाँ ?
प्यासी हरियाली सूख रही है खेतों में ;
निर्धन का धन पी रहे लोभ के प्रेत छिपे,
पानी विलीन होता जाता है रेतों में।
तो होश करो, दिल्ली के देवो, होश करो
सब दिन तो यह मोहनी न चलने वाली है ;
होती जाती है गर्म दिशाओं की साँसे,
मिट्टी फिर कोई आग उगलने वाली है।

राष्ट्रीय आन्दोलन के समय के उन राष्ट्रवादी कवियों की काव्य-साधना स्वाधीनता के बाद शिथिल सी पड़ने लगी जिनके काव्य का मूल्य प्रमुखतः सामयिक राजनीति पर आधारित था। स्वाधीनता के बाद राष्ट्रीय चेतना का स्तर, विचारों और भावों की दुनिया में बदल रहा है। विज्ञान ने विश्व-मानवता को जिस रूप में प्रभावित किया है, उससे आध्यात्मिक परम्परा का विचारशील देश अछूता नहीं रह सकता। देश के मस्तिष्क और मन उसके कवि और कलाकार होते हैं और वे ही नई चेतना से सर्वप्रथम प्रभावित होते हैं। इन अर्थों में, स्वाधीनता के बाद दिनकर की उपलब्धियाँ नई और महत्त्वपूर्ण हैं। उनके काव्य की विषयवस्तु आधुनिक जीवन-संदर्भों में विकसित हुई है, उनकी अनुभूति नव-मानव की विश्व-चेतना के स्तर की ओर अग्रसर है और उनका विवेक मानव की वैज्ञानिक प्रगति के साथ गतिशील है। दृष्टिकोण जितना वैज्ञानिक हो जाता है उतना ही परम्परा का रूढ़िग्रस्त मोह नष्ट होता जाता है। 'नीलकुसुम' काव्य संग्रह के सम्बन्ध में कवि का यह कथन उसकी उस विद्रोही गतिशीलता का परिचायक है, जो कभी बँध कर नहीं रहती है :—

[1] "मुझे अपने ही कृत प्रयोग से यह भासित हो गया कि कविता की प्रचलित शैली अपूर्ण होने लगी है और यहाँ से काव्य का मार्ग वे प्रशस्त करेंगे जिन पर परम्परा का बन्धन उतना कड़ा नहीं है, जितना कि हम लोगों पर है। विशेषतः मुझे महसूस हो रहा है कि अब हम जिस युग में जी रहे हैं उसका संगीत टूट गया है। इसका कारण यह है कि जैसे छन्दों में काव्य रचना करने का मैं अभ्यासी रहा था, वे छन्द अब मुझे अधूरे लगने लगे हैं।"

छन्दों का मोह टूटने से ही कवि की आधुनिकता का बोध नहीं होता, उसकी आधुनिकता उसकी बौद्धिक चेतना में निहित है। आजकल कई कवियों ने छन्द तोड़कर कविता लिखना आधुनिकता का लक्षण समझ रखा है। लेकिन जहाँ बौद्धिक चेतना की प्रमुखता नहीं है, वहाँ आधुनिक भाव-बोध की अभिव्यक्ति केवल छन्द तोड़ने से संभव नहीं हो सकती। दिनकर में जो बौद्धिकप्रखरता शुरू से रही है, आधुनिक भाव-बोध के लिए वह स्वयं में एक वरदान थी, लेकिन विशेषता इस बात की है कि कवि की अभिव्यक्ति में जो स्वच्छता शुरू से रही है, वह आधुनिक भाव-बोध की कविताओं में भी उसी प्रकार विद्यमान है। 'नीलकुसुम' की कविताओं में अभिव्यक्ति की स्वच्छता के साथ-साथ एक नयापन भी है, जो जीवन के आधुनिक यथार्थ को ओजस्वी ढंग से अभिव्यक्त करता है। मनुष्य में शक्ति-संचय और सत्ता के केन्द्रीकरण से जो निर्मम कठोरता पैदा हुई है उस पर चोट करते हुए दिनकर की

[1]. चक्रवाल (भूमिका)—ले० दिनकर।

'नीलकुसुम' की 'नींव का हाहाकार' शीर्षक कविता जीवन के आधुनिक यथार्थ को किस प्रकार सांकेतिक अभिव्यक्ति देती है—

"काँपती है वज्र की दीवार, नींव में से आ रहा है क्षीण हाहाकार
जानते हो कौन नीचे दब गया है ?
दर्द की आवाज पहले भी सुनी थी
या कि यह दुष्काण्ड बिल्कुल ही नया है ?
वस्त्र जब नूतन बदलते हो किसी दिन
खून के छींटे पड़े भी देखते हो ?
रात को सूनी सुनहरी कोठरी में
मौन कुछ मुर्दे खड़े भी देखते हो ?
जानते हो यह अनोखा राज़ क्या है ?
वज्र की दीवार यूँ क्यों काँपती है ?
और गूँजी ईंट की आवाज क्या है ?
तोड़ दो इसको, महल को पस्त औ' बर्बाद कर दो
नींव की ईंटें हटाओ
दब गये हैं जो, अभी तक जी रहे हैं
जीवितों को इस महल के बोझ से आज़ाद कर दो।"

दिनकर कवि के साथ विचारक भी हैं और शायद यही प्रमुख कारण है कि उनकी कविता गतिशील है, जो विचारक भविष्य के दर्पण में झाँककर देख सकता है, वह आधुनिक यथार्थता से दूर नहीं रह सकता। कविता का स्वरूप क्या बनने वाला है, इस सम्बन्ध में उनका कथन है कि—

[1] "भावुकता, अतिरंजन और अल्पवयस्कता के विचार—ये दिनों-दिन कविता में कम होते जायेंगे और यह कविता अपने पूरे विकास पर पहुँचेगी उसकी कल्पना पुरुष-कल्पना और उसके भाव कठोर विचारक के भाव होंगे। अगला युग विचारक कवियों का युग होगा। क्योंकि विचारों के कविता का विषय बनने में कोई दोष नहीं है और तर्क भी जब उत्तम कोटि का होता है, तब उसके भीतर से आग धधक उठती है, जो कविता की आग है। एक प्रकार का प्रकाश बल उठता है, जो कल्पना से खिलने वाला प्रकाश है और इस प्रकाश के भीतर से सत्य बौद्धिक धारणा बनकर नहीं, बल्कि 'विजन' या अनुभूति के रूप में ही प्रकट होता है।"

[1] चक्रवाल (भूमिका)—ले० दिनकर।

दिनकर का यह विश्वास या दृष्टिकोण उनके 'उर्वशी' काव्य के रचना-कौशल में प्रतिबिम्बित है। आधुनिक मानव की जिज्ञासा का जितना सजीव चित्रण इस काव्य में है, उतना भारत की सांस्कृतिक पृष्ठ-भूमि की नई व्याख्या के साथ दूसरी जगह दुर्लभ ही होगा। प्रत्येक नारी में एक नर और प्रत्येक नर में एक नारी छिपी हुई है और दोनों ही एक-दूसरे को पूरी तरह जान लेने के लिए जिज्ञासु हैं। नर और नारी केवल जीव-शास्त्र के प्राणी नहीं, बल्कि मानव-विकास की अब तक की आध्यात्मिक और भौतिक उपलब्धियों के प्रतीक हैं। उनकी जिज्ञासायें इसीलिए गम्भीर हैं। और इन जिज्ञासाओं के माध्यम से कवि कल्पना और विचार की जिन सीमाओं को छूता है, वे मनुष्य के नये विजन (vision), नई अनुभूति की दिशाओं की ओर संकेत करती हैं। इसीलिए उर्वशी काव्य में उर्वशी और पुरूरवा की बातचीत तर्क-वितर्क, भाव और विचार केवल पौराणिक नर-नारी के नहीं हैं, बल्कि आधुनिक नर-नारी के आधुनिक भाव-बोध का प्रातेनिधित्व भी करते हैं।

प्राय: यह देखा गया है कि जो कवि होता है, भावुकता उसकी सीमा बन जाती है और वह बौद्धिकता से दूर होता जाता है, किन्तु दिनकर एक विचारक भी हैं इसलिये उनकी बौद्धिकता नये दृष्टिकोण के रूप में अभिव्यक्त हुई है और यह दृष्टि-कोण उनकी गद्य रचनाओं में स्पष्ट हुआ है। इन गद्य-रचनाओं को तीन भागों में बाँटा जा सकता है—साहित्यिक-निबन्ध, गद्य-काव्य या लघुकथायें, सांस्कृतिक और विचार-पूर्ण स्वतन्त्र-निबन्ध। 'मिट्टी की ओर' से 'पंत, प्रसाद और मैथिलीशरण' एवं 'काव्य की भूमिका' तक के निबंधों में साहित्य के प्रति उनके आलोचनात्मक दृष्टिकोण का पता चलता है। 'संस्कृति के चार अध्याय' में भारत की भावनात्मक एकता के लिए जिस सामासिक संस्कृति के ऐतिहासिक महत्त्व का प्रतिपादन किया गया है, आज देश के बड़े-बड़े नेता उसके महत्त्व को स्वीकार करते हैं। 'बट-पीपल' नामक संग्रह में उनके संस्मरण और निबन्ध हैं। जिस व्यक्ति के संस्मरण वे लिखते हैं—संस्मरणों के माध्यम से उसका व्यक्तित्व सामने आ जाता है। 'धर्म-नैतिकता और विज्ञान' दिनकर जी के तीन निबंधों का महत्त्वपूर्ण संकलन है, जिसमें नैतिकता, प्रेम, धर्म और विज्ञान के प्रति लेखक का दृष्टिकोण प्रकट होता है। दिनकर जी के निबन्धों की विशेषता यह है कि उनमें बौद्धिक तर्कों के आधार पर वैज्ञानिक ढंग से विषय-वस्तु पर प्राप्त प्रमाणों के संदर्भों के साथ विचार करते हुए किसी बौद्धिक परिणाम पर पहुँचा जाता है। और गद्य की शैली में स्पष्टता, निर्भीकता के साथ-साथ सूक्तियों जैसा रस होता है। जैसे—नैतिकता के सम्बन्ध में विचार करते-करते वे इस नतीजे पर आते हैं—

[1] "ईर्ष्या ही वह चट्टान है जिस पर प्राचीन नैतिकता टूट रही है। ईर्ष्या यदि न जीती गई तो इसी चट्टान पर नई नैतिकता भी टूट जायगी।"

ऐसे ही प्रेम और नर-नारी के सैक्स-सम्बन्धों के बारे में लेखक कहता है—

[2] "हमारा सबसे बड़ा अपराध कदाचित् यह है कि धर्म ने जिस वस्तु को अत्यन्त दुर्लभ बना रखा था, उसे हमने जरूरत से ज्यादा सस्ता कर दिया है। यह प्रक्रिया गर्भनिरोधक मंत्रों के प्रचार से दिनों दिन अधिक आसान होती जा रही है। वृक्ष का पता फलों से चलता है, तो जब फल ही नहीं है तो वृक्ष के होने का प्रमाण क्या है? इसलिए प्रेम भय से मुक्त हो गया और प्रेमियों की घबराहट बिल्कुल जाती रही। इससे अच्छे और बुरे दोनों ही परिणाम निकले हैं। भय से मुक्ति मिली यह अच्छी बात है किन्तु सस्ता होना तो स्पष्ट ही बुरी बात है। नोट जब बहुत छापे जाते हैं, तब रुपयों का मूल्य घट जाता है। कामाचार चूँकि बहुत निरापद हो गया इसलिए प्रेम की ज्योति मंद हो गई है।"

'धर्म और विज्ञान' शीर्षक निबन्ध में लेखक के आधुनिक-विज्ञान सम्बन्धी अध्ययन का पता चलता है।

दिनकर आत्म-नियंत्रित बौद्धिक-स्वाधीनता के हामी हैं। बौद्धिक स्वाधीनता जहाँ स्वतन्त्र-चिंतन के द्वार खोलती है, वहाँ आत्म-नियंत्रण स्वतन्त्र-चिंतन को गुमराह होने से बचाता है। इसीलिए दिनकर जी का चिंतन और काव्य दोनों ही गतिशील होते हुए भी मानव-विवेक की ऐतिहासिक उपलब्धियों से मंडित है।

"दिनकर : सृष्टि और दृष्टि" में दिनकर के कृतित्व और दृष्टिकोण पर समीक्षात्मक निबन्धों का संग्रह है। हर निबन्ध में उसके लेखक का अपना दृष्टिकोण है। किसी साहित्यकार के समकालीन समीक्षक अपनी-अपनी दृष्टि से उसके साहित्य का मूल्यांकन करें, यह उसके साहित्य का सबसे बड़ा सम्मान है। दृष्टिकोण का भेद स्वतन्त्र-चिंतन का परिचायक है और मूल्यांकन कृतित्व के महत्त्व को स्वीकार करने का परिचायक है। जिन विद्वान् लेखकों ने इस संग्रह के लिए निबन्ध लिखे और अपने निबन्धों को इसमें संकलित करने की स्वीकृति दी, उनके प्रति हम बहुत कृतज्ञ हैं।

गोपाल कृष्ण कौल
हरप्रसाद शास्त्री

---

[1], [2] धर्म, नैतिकता और विज्ञान—ले० दिनकर।

कवि की दृष्टि में उसकी सृष्टि

[दिनकर जी से भेंट वार्ता]

प्रश्नकर्ता—गोपाल कृष्ण कौल

प्रश्न—कवि की कृति उसके व्यक्तित्व की एक उपलब्धि भी होती है। आपकी जीवन-परिस्थितियाँ इस उपलब्धि में कितनी सहायक और कितनी बाधक हुईं ?

उत्तर—प्रश्न, शायद, ठीक से मेरी समझ में नहीं आया। जितना समझ सका हूँ, उतने का उत्तर यह है कि व्यक्तित्व की उपलब्धि साहित्य से नहीं होती, साहित्य उसका पोषण करता है। साहित्य से कीर्ति अथवा अपकीर्ति प्राप्त होती है। अर्थात् साहित्य कवि के व्यक्तित्व पर जनमत को आमंत्रण देता है। व्यक्तित्व का निर्माण परिस्थितियाँ करती हैं, मन में आने वाले भाव और विचार करते हैं, जीवन के अनुभव और समस्याओं के आघात करते हैं। यही व्यक्तित्व कवि की कृतियों में प्रतिफलित होता है। इलियट ने इस प्रक्रिया को व्यक्तित्व से मोक्ष पाने का प्रयास कहा है ; अर्थात् इलियट के अनुसार कविता लिखने के बाद कवि अपने व्यक्तित्व के भार से थोड़ी मुक्ति का अनुभव करता है। यह बहुत-कुछ अरस्तू के रेचनवाद के समान है। मेरा ख्याल है, कविता कवि के व्यक्तित्व के विसर्जन का कम, उसके पोषण का प्रयास अधिक है।

प्रत्येक व्यक्ति के निर्माण में परिस्थितियों का हाथ रहता है। मेरे व्यक्तित्व की रचना भी परिस्थितियों के कारण हुई होगी। किन्तु, यह कहानी बहुत लम्बी है। मैं न तो सुख में जनमा था, न सुख में पल कर बढ़ा हूँ। किन्तु, मुझे साहित्य में काम करना है, यह विश्वास मेरे भीतर छुटपन में ही पैदा हो गया था। इसलिए, ग्रेजुएट होकर जब मैं परिवार के लिए रोटी अर्जित करने में लग गया, तब भी, साहित्य की साधना मेरी चलती रही। आरम्भ में बहुत दिनों तक मैं दाहिने हाथ से दफ्तर की फाइल और बायें हाथ से कविता लिखता था अर्थात् दिन की ताजी घड़ियाँ दफ्तर के कामों में जाती थीं, केवल श्रान्त-क्लान्त क्षणों में ही साहित्य लिखता और पढ़ता था। बहुत श्रम, संघर्ष और धीरज के बाद ही मैं परिस्थितियों को यत्किंचित् अपने अनुकूल बनाने में समर्थ हो सका। लेकिन, अब उसका भी कोई खास महत्व नहीं है क्योंकि परिस्थितियाँ थोड़ी-बहुत अनुकूल तब हुईं जब

शरीर शिथिल हो रहा है। तब मैं पढ़ा-लिखा कम ही था। इधर अज्ञानता कम करने के घनघोर अध्यवसाय के बाद भी, मेरा ख्याल है, मुझे उतना मालूम नहीं है जितना ज्ञान इस युग के कवि और लेखक को होना चाहिए।

धनाभाव की पीड़ा, दफ्तरों में मिलने वाला प्रच्छन्न अपमान, बेटियों के विवाह की चिंताएँ और पारिवारिक कष्ट मैंने बहुत सहे हैं। कुछ क्लेश मुझे अपने स्वभाव-दोष अथवा मूर्खता के कारण भी उठाने पड़े। किन्तु, इन पीड़ाओं का मुझ पर कोई अमिट प्रभाव पड़ा हो, ऐसा आभास मुझे नहीं मिलता। दुःख और सुख के भेद मुझे कभी भी ज्ञात नहीं हुए। नौकरी में जब मेरा वेतन पाँच सौ रु० हो गया, तब भी अपने आपको मैं वैसा ही निर्धन या धनी समझता रहा जितना धनी मैं उस समय था जब मैं स्कूल का शिक्षक था और मेरा वेतन केवल ५०-५५ रु० था। दुःख की कुछ थोड़ी आँच मुझे अकारण द्वेष्टाओं से महसूस हुई।

प्रश्न—प्रारम्भ में आपने हिन्दी-काव्य की राष्ट्रीयधारा में अपनी ओजस्वी रचनाओं से योग दिया। उनमें उद्‌बोधन, ललकार और अतीत के गौरव का स्मरण है। इस राष्ट्रीयधारा में आपके आगमन में राष्ट्रीय आन्दोलन के किसी प्रकार के प्रभावों और सम्पर्कों का योग भी है ?

उत्तर—सन् १९२० ई० के असहयोग-आन्दोलन के समय मैंने कई सभाओं में वन्देमातरम् गीतों का गान किया था। उनमें से एक गीत पं० गुलाबरत्न बाजपेयी का भी था। मैं जबलपुर से निकलने वाले मासिक पत्र "छात्र-सहोदर" का नियमित पाठक था। "छात्र-सहोदर" में राष्ट्रीय कविताएँ छपा करती थीं और उन्हें मैं बड़े चाव से पढ़ता था। याद आता है कि लोकमान्य तिलकजी की मृत्यु पर माखनलाल जी की एक कविता "प्रताप" में छपी थी। तब मैं उस कविता को पढ़कर खूब रोया था और वह पूरी की पूरी कविता मुझे कंठस्थ हो गयी थी। स्वर्गीय पण्डित रामनरेश त्रिपाठी का "पथिक" भी मुझे बहुत याद था। "भारत-भारती" मैंने उसके बाद पढ़ी और उसका भी मुझ पर प्रभाव पड़ा। १९२१ ई० में मैंने राष्ट्रीय स्कूल में नाम लिखाया जो असहयोग-आन्दोलन का प्रतीक था। वहाँ मैंने दासता-विरोधी संस्कार काफी अर्जित किये। राष्ट्रीय स्कूलों के लिए साहित्य की पुस्तकें नये ढंग से तैयार की गयी थीं। ऐसी पुस्तकों में राम बल्लभ सिंह के सारे के सारे साहित्य-संग्रह मैंने कई बार पढ़ डाले थे। मेरा पूरा बचपन राष्ट्रीय आन्दोलन के वातावरण में गुजरा था। बाद को भी यह संस्कार बढ़ता ही गया। गाँव से मैट्रिक पास करके जब मैं कालेज में पढ़ने के लिए पटना आया तब संगति सौभाग्य से वहाँ बेनीपुरी जी, श्री गंगाशरण सिंह, जयप्रकाश जी, स्व० काशी प्रसाद जायसवाल और बाबा राहुल सांकृत्यायन की प्राप्त हो गयी। सन् १९३० ई० के नमक-सत्याग्रह में मैंने भी तीन-

चार महीने काम किया था। सम्भव है, इन सभी घटनाओं ने मुझे कविता की राष्ट्रीय धारा की ओर ढकेल दिया हो। यों भी, छायावाद की कविताएँ मुझे कुछ खास पसन्द नहीं थीं। छायावादी युग में भी मेरे परम प्रिय कवि वे ही थे जो राष्ट्रीय कविताएँ लिखा करते थे, जैसे, सुभद्राकुमारी चौहान, बालकृष्ण शर्मा नवीन, माखनलाल चतुर्वेदी, रामनरेश त्रिपाठी और गयाप्रसाद शुक्ल सनेही। मैंने ब्रजनारायण चकबस्त का सुबहे-वतन नामक संग्रह भी बड़े प्रेम से पढ़ा था जिसका प्रकाशन नागरी लिपि में हुआ था। नमक-सत्याग्रह के समय "त्यागभूमि" में "निर्गुण" नामक किसी अपरिचित कवि की एक कविता छपी थी "तू नूतन वर्ष-विहान, जाग"। वह कविता मुझे बेहद पसन्द आयी थी। पीछे पता चला कि वह कविता श्री रामनाथ लाल सुमन की लिखी हुई थी। मेरी कविता के भीतर राष्ट्रीय मनोदशा की उत्पत्ति में इन सभी प्रिय कवियों का कुछ न कुछ योगदान रहा होगा।

प्रश्न—हिन्दी में राष्ट्रीय काव्यधारा को छायावादी काव्यधारा से अलग करके क्यों देखा जाता है? केवल राजनैतिक और समाज-सुधारक ओजस्वी कविताएँ ही राष्ट्रीय क्यों कही गई? क्या प्रेम-कविताएँ राष्ट्रीय नहीं हैं? काव्य में राष्ट्रीय और अराष्ट्रीय का यह मूल्यांकन कहाँ तक संगत है?

उत्तर—वैसे तो, भारत के राष्ट्रकवि वाल्मीकि, कालिदास, तुलसीदास और रवीन्द्र हैं क्योंकि भारत की सनातन आत्मा का जैसा सुगम्भीर घोष इन कवियों में सुनायी देता है, वैसा किसी और कवि में सुनायी नहीं देता। फिर भी, हम इन्हें राष्ट्रकवि नहीं कहते हैं, वाल्मीकि, कालिदास और तुलसीदास को तो बिलकुल नहीं। कारण, राष्ट्रीय विशेषण भारत में नहीं चलता था। राष्ट्र शब्द का प्रयोग यहाँ अधिकतर उस अर्थ में होता था जिस अर्थ में आज हम प्रान्त या प्रदेश शब्द का व्यवहार करते हैं। यह दूसरी बात है कि वैदिक प्रार्थना में आये हुए राष्ट्र शब्द को अब हम नये अर्थ में ग्रहण करने लगे हैं। भारत का मन राष्ट्रीय कम, अन्तर्राष्ट्रीय अधिक रहा है। तब भी, दासता से मुक्ति पाने के लिए हमने राष्ट्रीय विशेषण को स्वीकार कर लिया, सिर्फ इस भाव से कि राष्ट्रीयता के जागरण के बिना दासता का अन्त असम्भव है। दासता और साम्राज्यवाद हम पर यूरोप ने लादे थे और यूरोप ने ही हमें यह भी सिखा दिया कि दासता और साम्राज्यवाद से छुटकारा पाने का उपाय राष्ट्रीय भावों का विकास है। पीड़ित समाज का ध्यान पूर्ण पर कम, खंड पर अधिक रहता है। वह युग की पीड़ाओं से मुक्ति पाने के जोश में युग-युग की पीड़ाओं की उपेक्षा करता है। इसी जोश के कारण छायावादी युग में प्रेम और रहस्यवाद की कविताओं की तुलना में राष्ट्रीय कविताएँ अधिक लोकप्रिय हो उठीं।

कवि के असली सम्मान के कारण पंडित और प्रोफेसर न कभी पहले हुए थे, न आज हैं। वे तो बड़े से बड़े कवियों की भी उपेक्षा ही करते हैं और "जोनियस" की भी पुस्तक वे तब तक नहीं पढ़ते, जब तक कारखाने का बाबू उसे न पढ़ चुका हो। कला और सौन्दर्य का भी महत्वपूर्ण निर्णय पहले जनता ही करती है। जनता ने जब देखा कि कुछ कवि उसके अभियान में खुल कर साथ दे रहे हैं, तब प्रसन्न होकर उसने उन कवियों को राष्ट्रीय कवि कहना आरम्भ कर दिया। यह सम्मान वह प्रेम और रहस्यवाद के गायकों को कैसे दे सकती है ?

प्रश्न—जिस राष्ट्रीय काव्यधारा ने साम्राज्य-विरोधी और आज़ादी के लिए संघर्षशील भारतीय जीवन को प्रेरणा दी, उसमें प्रगतिशील आन्दोलन अर्थात् प्रगतिवाद ने भी अपनी महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है। प्रगतिशील साहित्य के प्रति आपका अपना दृष्टिकोण रहा है। आप की दृष्टि में प्रगतिशील और राष्ट्रीय काव्य में क्या कुछ अन्तर है ?

उत्तर—पहले हमें यह देखना चाहिए कि प्रगति कहते किसे हैं। संसार को हिंसा की ओर जाना है या अहिंसा की ओर ? अच्छा समाज वह है जिसमें केवल भौतिक सुविधाओं का विकास होता है अथवा वह जिसमें भौतिक और आध्यात्मिक, दोनों प्रकार की उन्नति होती है ? राज्य वह अच्छा है, जिसमें एक या दस नेताओं के खिलाफ़ जीभ खोलने से लोग डरते हैं अथवा वह जिसके नागरिक बड़े से बड़े सत्ताधारियों की भी आलोचना निर्भय होकर कर सकते हैं ? और यदि दस या दस हजार व्यक्ति यह कहने लगें कि मत वही है जिसे हम मानते हैं और पूरे संसार को हम उसी मत में दीक्षित कर देंगे, तो इससे क्या मनुष्य की प्रगति होती है ? पहले की धर्मान्धता जितनी निन्दित वस्तु थी, आज की राजनैतिक अंधता क्या उससे कम निन्दनीय है ? अदृश्य वास्तविकता के प्रति सन्देह की स्थिति का कुछ थोड़ा औचित्य है, किन्तु, यह कहना तो प्रगति का सूचक नहीं हो सकता कि अदृश्य वास्तविकता है ही नहीं, अतएव, अदृश्य का स्वप्न हम किसी को भी देखने नहीं देंगे। धर्म की निन्दा मार्क्स ने ऐतिहासिक आवश्यकता के कारण की थी। किन्तु, तब से भौतिकी बैठी नहीं रही है। वह अब जिस ऊँचाई पर पहुँच गयी है, वहाँ से दर्शन का समुद्र दिखाई देता है। ये कुछ कारण हैं जिनके चलते मैं प्रचलित प्रगतिवाद को अपना जीवन-दर्शन मानने से इन्कार करता हूँ। किन्तु, जहाँ तक दासता, साम्राज्यवाद, शोषण और विषमता के विरोध का प्रश्न है, मैंने खुल कर उस विरोध में भाग लिया है और मैं उन सभी लोगों का प्रशंसक हूँ जो दासता, विषमता, साम्राज्यवाद और सामाजिक न्याय के बारे में लिखते हैं और अपने को प्रगतिवादी कहते हैं।

राष्ट्रीय कविता, स्पष्ट ही, प्रगतिशील प्रवृतियों से उद्भूत थी, किन्तु, ऐसी कविताएँ सन् १९३४ ई० के बाद ही नहीं लिखी गई थीं। उनकी परम्परा भारतेन्दु तक जाती है। इसलिए, प्रगतिशील प्रवृति की बात तो मैं मानता हूँ, प्रगतिवादी युग कहने की सार्थकता मुझे दिखायी नहीं देती। यह अच्छी बात है कि हिन्दी के कई आलोचक अब प्रगतिवादी युग को छायावादोत्तर काल कहने लगे हैं। यह और बात है कि छायावादोत्तर काल में ही वह आन्दोलन चलाया गया जिसका नाम प्रगतिवाद है।

प्रश्न—आपने साहित्य में प्रगतिवाद को साहित्येतर आन्दोलन माना है और प्रयोगवाद को साहित्यिक आन्दोलन। क्या कोई विचार आन्दोलन बनने पर विशुद्ध साहित्यिक रह सकता है? और क्या साहित्य की कसौटी केवल साहित्य होता है? क्या साहित्य के अधिकांश मूल्य साहित्येतर नहीं होते; जैसे राजनीति, समाज-शास्त्र, विज्ञान की उपलब्धियाँ, मनोविज्ञान और मानव-विवेक आदि?

उत्तर—स्पष्ट ही, इस प्रश्न का उत्तर आप सैद्धान्तिक धरातल पर चाहते हैं। मैंने यह तो कहीं नहीं लिखा है कि प्रगतिवाद सैद्धान्तिक दृष्टि से, साहित्यिक आन्दोलन नहीं हो सकता। मेरी आलोचना उसके व्यावहारिक रूप की आलोचना है। क्या आप यह नहीं मानते कि प्रगतिवादी आन्दोलन का उपयोग कम्युनिस्ट पार्टी के फायदे के लिए किया गया था? यदि नहीं, तो इसका कोई जवाब आपके पास है कि राष्ट्रीय कवियों का वह वर्ग प्रतिक्रियागामी क्यों माना जाने लगा जिसका झुकाव गाँधीवाद और प्रजातन्त्र की ओर था? दासता, साम्राज्यवाद, शोषण और विषमता के खिलाफ वे भी लिख रहे थे जो राजनीति में कम्युनिस्ट नहीं थे और वे भी जो कम्युनिस्ट थे। वैसे, प्रगतिवाद, मुख्यतः, विचारों पर आधारित वाद है। फिर भी, यदि प्रगतिवाद के अभिभावक दोनों ही प्रकार के कवियों और लेखकों को प्रगतिशील मानते तो प्रगतिवाद, मतप्रधान होने पर भी, साहित्यिक आन्दोलन रह सकता था। किन्तु, कम्युनिस्ट आलोचकों ने इतनी उदारता नहीं दिखाई। उन्होंने प्रगतिवादी होने का सुयश केवल उनके लिए सुरक्षित रखा जो प्रत्यक्ष नहीं तो छिपे-छिपे कम्युनिस्ट आन्दोलन के साथ थे। आज कम्युनिस्ट भी यह रोना रोते हैं कि भारत के भीतर सह-अस्तित्व नहीं है। क्या मैं पूछ सकता हूँ कि भारतीय साहित्य में सह-अस्तित्व का विनाश किसने किया? ईमानदारी का उत्तर यही हो सकता है कि कम्युनिस्टों ने। यही नहीं, बल्कि, जो आलोचक कम्युनिस्ट नहीं हैं, वे तो साम्य-वादी सुलेखकों के नाम आदर के साथ लेते हैं, किन्तु, साम्यवादी आलोचक गैर-साम्य-वादी लेखकों और कवियों के नाम आदर से नहीं लेते। जैसे सेठ-साहूकार लेखकों

और कवियों से दोस्ती केवल इस भाव से करते हैं कि ऐसी दोस्ती से सेठों का सुयश बढ़ेगा, वैसे ही, कम्युनिस्ट बन्धु केवल उन्हीं लेखकों और कवियों को अपनाते हैं जो उनके राजनैतिक हथियार हो सकते हों।

प्रयोगवाद को मैं साहित्यिक आन्दोलन इसलिए मानता हूँ कि वह मतप्रधान नहीं, शैलीप्रधान है। उसका लक्ष्य भाषा के भीतर छिपी शक्तियों का सन्धान है, उसका ध्येय इस बात की खोज करना है कि कितना कुछ छोड़कर कविता कवित्व से युक्त रह सकती है। छन्द, तुक, अभिव्यक्ति की पारंपरीण भंगिमा और भाषा की पुरानी अदाएँ कविता के अनिवार्य अंग नहीं हैं। प्रयोगवाद इन सब आसान तरीकों को छोड़कर कठिनाई की राह पर है। यह एक ऐसी महाक्रान्ति की तैयारी है जैसी क्रान्ति हिन्दी में ही क्या, कविता मात्र में पहले कभी नहीं हुई थी। यूरोप में यह क्रान्ति रूप ले चुकी है। भारत को उसने इधर हाल से पकड़ा है। यहाँ भी जब प्रयोगवादी काव्य प्रभावपूर्णता पर पहुँचेगा, लोग उसका इस देश में भी आदर करेंगे। बहुत-से नवयुवक तो अभी भी केवल नई कविता को ही पाठनीय मानते हैं।

साहित्य का पेंडुलम बराबर हिलता रहता है। जब रोमांटिक आक्रमण का ज़ोर बढ़ता है, तब प्रतिक्रिया-स्वरूप अथवा आत्मरक्षा के प्रयास में साहित्य की क्लासिक-वैज्ञानिक पद्धति ज़ोर से ऊपर आना चाहती है। जब क्लासिकता इति-वृत्तात्मक होने लगती है, तब रोमांटिक भाव फिर से उभरना चाहते हैं। जब हम शैली पर ज़ोर देते हैं, तब विषय पुकारता है और जब हम विषय पर ज़ोर देते हैं तब शैली आक्रमण करती है। साहित्य की एक पीढ़ी काला रंग पसन्द करती है, दूसरी पीढ़ी हरा और तीसरी पीढ़ी केवल शुभ्र। और तब फिर सब के सब काले रंग पर आ जाते हैं। हिन्दी में भी यही हुआ है। छायावाद भी, मुख्यतः, शैली का आन्दोलन था। तब छायावादोत्तर कवि आये जो शैली और विषय, दोनों को स्वीकार करते थे। इसी छायावादोत्तर युग में प्रगतिवादी आन्दोलन उठा जो शैली के लिए बहुत कम, विषय के लिए बहुत अधिक अंक देता था। इसका जो स्वाभाविक परिणाम होना था, वही हुआ भी। प्रगतिवादियों के हाथों सबसे अधिक अंक पाने वाले मौसमी लोग साहित्य से सबसे पहले विदा हो गये। प्रयोगवाद का जन्म इसी प्रकार के प्रगतिवाद के विरुद्ध उत्पन्न प्रतिक्रिया से हुआ है।

आपकी यह मान्यता ठीक है कि साहित्य की एक मात्र कसौटी साहित्य ही नहीं है। स्पष्ट ही, यहाँ साहित्य शब्द का पिछला प्रयोग शैली के अर्थ में है। शैली और भाव को चीर कर अलग-अलग दिखाने वाली आरी अभी तक साहित्यिक 'वर्कशाप' में नहीं बन पायी है। इसलिए, यह कहना सम्भव नहीं है कि साहित्य का

कितना आनन्द शैली में होता है और कितना उसके कथ्य में। केवल गोल-मटोल ढंग से यह अनुमान होता है कि शैली के भीतर कोई कथ्य विषय भी होना चाहिए क्योंकि जिसके पेट में कहने योग्य कोई बात नहीं है उसका कहने का ढंग भी बहुत सुन्दर नहीं हो सकता। और जब कुछ कहने की प्रेरणा बलवती हो उठती है, तब उसके अनुरूप भाषा की उपलब्धि, आप से आप, हो जाती है।

And when you have something real to say,
Do you have to hunt for words all day?

कवि और कलाकार बनने के लिए भी यह आवश्यक है कि आदमी का मन नैतिक आदर्शों और नैतिक संघर्षों के ज्ञान से भली-भाँति परिपुष्ट हो चुका हो। कला का आनन्दभोगी विशेषज्ञ नहीं, जनसाधारण होता है। जो अनुभूति अभी विशेषज्ञों तक ही सीमित है, कला उसे छूती भी नहीं। विज्ञान चूँकि विशेषज्ञों की पूँजी है, इसलिए, वह कला से दूर है। उसका उतना ही संस्कार कला स्वीकार करती है जितना जनसाधारण में फैल चुका है। इसलिए, जो लोग इस विश्वास में हैं कि कला जनसाधारण की उपेक्षा करके जी सकती है, वे गलत राह पर हैं। इसे मैं साहित्य की कोई शास्त्रीय मान्यता नहीं समझता। यह पतनशीलता नामक रोग है जो, अक्सर, आभिजात्य को ग्रसित करता है। क्रोसे कला की स्वाधीनता के बड़े भारी पक्षपाती हुए हैं। किन्तु उन्होंने लिखा है कि जनसाधारण की उपेक्षा करने वाला कलाकार और जनमत की उपेक्षा करने वाला डिक्टेटर, दोनों एक ही प्रकार की मानसिकता से उत्पन्न होते हैं और दोनों को बर्दाश्त जनता इसलिए करती है कि उसमें तेजी, तत्परता और क्रोध का अभाव है।

प्रश्न—क्या आप भारतीय साहित्य पर गाँधीवाद का उतना ही प्रभाव मानते हैं जितना प्रभाव गाँधीवाद का भारत के राष्ट्रीय राजनैतिक जागरण पर पड़ा? क्या हिन्दी-साहित्य के छायावादी युग पर मार्क्स और गाँधी—दोनों का प्रभाव परिलक्षित नहीं होता? इस विषय पर आपके क्या विचार हैं?

उत्तर—आपका अभिप्राय, कदाचित्, डाक्टर नगेन्द्र जैसे विद्वानों से है जो मार्क्स की छूत से बचने के लिए हिन्दी के राष्ट्रीय काव्य को "सांस्कृतिक-राष्ट्रीय" काव्य कहते हैं। प्रायः, ऐसा ही विचित्र मतवाद वह भी है जिसके अनुसार छायावाद असहयोग-आन्दोलन की विफलता का परिणाम समझा जाता है। छायावाद का आरम्भ १९१६-१८ में हुआ और असहयोग-आन्दोलन १९२२-२३ में विफल हुआ, यानी गाँधी जी की पहली पराजय की कविता छायावादियों ने दो-चार वर्ष पहले ही लिखकर रख दी थी। हिन्दी का दुर्भाग्य है कि उसके आलोचक जिस मनोयोग से ध्वन्यालोक पढ़ते हैं, उसी मनोयोग से वे भारत अथवा विश्व के इतिहास को नहीं

समझते। नये साहित्य के समझने के लिए केवल अलंकारशास्त्र यथेष्ट नहीं हैं। उसके लिए समकालीन दर्शन, समाजशास्त्र और राजनीति का ज्ञान भी अपेक्षित होता है। दुर्भाग्य की बात है कि ऐसे ज्ञान के अभाव में हिन्दी के तथा-कथित आचार्य बहुत-सी ऐसी बातें भी बोलते रहते हैं जिनका कोई आधार नहीं है।

भारत की राष्ट्रीयता भारत के सांस्कृतिक जागरण से उत्पन्न हुई है, यह ठीक है और यह भी ठीक है कि भारतीय राष्ट्रीयता का जन्म उस समय हो गया था, जब मार्क्स लन्दन के म्युजियम में बैठकर अपना अनुसंधान कर रहे थे। किन्तु, जब मार्क्स का प्रभाव फैलने लगा, वह भारत भी पहुँचा और भारत की राष्ट्रीय भावना भी उससे प्रभावित हुई। तमिल के कवि सुब्रह्मण्यम् भारती ने "ज़ार" के पतन पर कविता लगभग उसी समय लिखी, जब रूस में क्रान्ति हुई थी। खोज करने पर इससे मिलते-जुलते दृष्टान्त अन्य भाषाओं में भी पाये जा सकते हैं।

भारत की राष्ट्रीयता, भारत का राष्ट्रीय काव्य और भारत के राष्ट्रपिता महात्मा गाँधी, इन तीनों का मूल भारत के उस सांस्कृतिक आन्दोलन में था जो राममोहन में जन्म लेकर विवेकानन्द में पूर्णता पर पहुँचा। गांधी जी के प्रयोगों में अहिंसा और सविनय अवज्ञा का सर्वोपरि स्थान है। किन्तु, अहिंसा और सविनय अवज्ञा की भी सलाह देश को गाँधी जी से पहले अरविन्द दे चुके थे। यह भी ध्यान देने की बात है कि भारतीय राजनीति में गाँधी और विनोबा—जैसे इन-गिने संतों को छोड़कर और कोई नहीं हुआ जो अहिंसा को नीति नहीं, सिद्धान्त मानता हो। गाँधी-युग में भी ऐसे कई कवि हुए जो सारे तर्क को हिंसक आवेश से लेते थे, किन्तु, शिक्षा अहिंसा की देते थे। उदाहरण-स्वरूप, मैं नवीन जी की कविता "सर्वनाश की भट्ठी" का हवाला देना चाहूँगा। और ऐसे भी कवि थे जो स्वतन्त्रता के लिए हिंसा के प्रयोग को अनुचित नहीं मानते थे। हिंसक क्रान्ति में विश्वास रखने वाले वीरों की संवर्धना में जो असंख्य कविताएँ लिखी गयीं, उनसे क्या हिंसा का नैतिक समर्थन नहीं होता है? यतीन्द्रनाथ दास के महोपवास के समय माखनलाल जी की "मरण-त्यौहार" नामक जो प्राणों को मथ डालने वाली कविता निकली थी, वह क्या शुद्ध गाँधीवादी कविता थी? जिन दिनों हम लोग राष्ट्रीयता की कविताएँ बड़े वेग से लिख रहे थे उन दिनों हमारी प्रेरणा का एक बड़ा उत्स रूस देश भी था। जैसे मार्क्स और रूस का प्रभाव भारत के क्रान्तिकारी नेताओं—जवाहरलाल, सुभाष चन्द्र, नरेन्द्र देव, जयप्रकाश, मेहरअली, लोहिया आदि—पर था, वैसे ही, उस प्रभाव से हिन्दी के कवि भी प्रभावित हुए थे। हिन्दी की राष्ट्रीय काव्यधारा पर मार्क्स का प्रभाव नहीं मानना केवल दुराग्रह मात्र है।

प्रश्न—मैं मानता हू और, प्रायः, यह और लोगों की भी मान्यता है कि आपने छायावादी-भाषा-जाल से हिन्दी कविता को मुक्त किया और उसके काव्य-सौष्ठव को कायम रखते हुए उसके अभिव्यक्ति के भाषा-माध्यम को ज्यादा जन-सुलभ बनाकर उसे अधिक व्यापक रूप दिया। और दूसरी ओर काव्य-भाषा में प्रयोग-शीलता भी आई। आप काव्य-भाषा के उस छायावादी और इस प्रयोगशील रूप से अलग शिल्प की दृष्टि से काव्य-भाषा के किसी और प्रभावशाली रूप की कल्पना करते हैं ?

उत्तर—यह सवाल फिर मेरी समझ में नहीं आया। जितना भर समझ सका हूँ उसका उत्तर यह है कि छायावादोत्तर काव्य की भाषा केवल मेरा निर्माण नहीं है। जगन्नाथ प्रसाद मिलिन्द, हरिकृष्ण प्रेमी, भगवतीचरण वर्मा, बच्चन, अंचल, नरेन्द्र और बाद को इस पंक्ति को भूषित करने वाले कवि नागार्जुन और शिवमंगल सिंह सुमन, ये सभी कवि घट-बढ़ कर छायावादी भाषा से दूर थे। और नयी भाषा का निर्माण कवि क्या सचेष्ट होकर करता है ? अनुभूतियाँ जैसी होती हैं, वे भाषा भी वैसी ही पकड़ लेती हैं। जब कुछ समय बीत जाता है, तब इतिहासकार कहता है, यह भाषा अमुक कवि का निर्माण है। वस्तुस्थिति यह होती है कि नयी भाषा का आविष्कार नयी अनुभूतियाँ करती हैं। अनुभूति की दिशा हिन्दी में हम लोगों के बाद भी बदली है, बल्कि, सद्यः हिन्दी में अनुभूतियों की जो दिशाएँ दिखाई दे रही हैं जिनमें से एक की भाषा उनके साथ है जो नयी कविता के कवि हैं और दूसरी की उनके साथ जो गीतकार हैं। जब-जब अनुभूतियाँ बदलती हैं, भाषा नवीन हो जाती है और कभी-कभी वह इतनी नवीन हो जाती है कि पहले की काव्य-भाषा से उसका कोई खास सम्बन्ध नहीं रह जाता। एज़रा पौण्ड और इलियट की भाषा से टेनीसन की भाषा का क्या सरोकार है ? यह दृश्य कभी हिन्दी में भी उपस्थित हो सकता है।

प्रश्न—मेरी दृष्टि में आपकी कविता में अभी तक तीन बार मोड़ आया है। पहिला मोड़ 'रसवन्ती' की कविताओं में, दूसरा मोड़ 'नील कुसुम' की कविताओं में, और तीसरा मोड़ "उर्वशी" काव्य में दिखाई देता है। इसको आपके काव्य के विकास के चरण भी कह सकते हैं ? मूलतः, आप विचार-प्रधान कवि हैं। शिल्प की दृष्टि से इन तीन मोड़ों पर आप की क्या प्रतिक्रिया है ?

उत्तर—तब तो अब तक मैंने चार तरह की कविताएँ लिखी हैं, क्योंकि ये तीन मोड़ तो मुझे "रेणुका" और "हुंकार" से कुछ अलग ले जाने वाले ही मोड़ रहे होंगे। लेकिन, सचमुच में, ऐसी बात हुई है क्या ? प्रत्येक कवि जीवन भर में एक ही

कविता लिखता है, उसकी सभी कृतियाँ उसी एक काव्य की विभिन्न कड़ियाँ होती हैं। मैं भी इसी भ्रम में हूँ कि "रेणुका" से लेकर "उर्वशी" तक मैंने जो कुछ लिखा है वह एक ही काव्य है। किसी भी समय शिल्प का अनुसंधान मैंने प्रयासपूर्वक नहीं किया। कविता लिखने के पूर्व मेरा मन शिल्प की अवधारणा नहीं करता, कथ्य और शैली, दोनों मुझे हमेशा परस्पर लिपटे हुए दिखायी देते हैं। जब मुझे कहने की कोई बात सूझती है, तब उसकी शैली भी साथ-साथ ही सूझ जाती है।

प्रश्न—आज की कविता का स्थायी भाव विक्षोभ है और व्यंग्य उसकी अभिव्यक्ति का सशक्त माध्यम है। आपने भी सशक्त व्यंग्य-पूर्ण कविताएँ लिखी हैं। क्या विक्षोभ और व्यंग्य को काव्य में स्थायी महत्व मिल सकता है?

उत्तर—अवश्य मिल सकता है, बल्कि, मिला भी है। बालतेयर की "कान्दीद' व्यंग्य ही तो है। क्रोध को मैं साहित्यकार का आवश्यक गुण मानता हूँ। जिसमें क्रोध को पी जाने की शक्ति है वह या तो संत है अथवा डिप्लोमैट जो व्यवहार में वैष्णवी विनम्रता लाकर सबको खुश रखना चाहता है। जिसमें क्रोध नहीं है वह कवि कानफार्मिस्ट हो जाएगा और कानफार्मिस्ट होना कवि के जीवन का नहीं, उसकी मृत्यु का लक्षण है। क्रोध, शायद, बहुत अच्छा शब्द नहीं है। इसके बदले मुझे 'मन्यु" शब्द का प्रयोग करना चाहिए। मन्यु क्रोध का वह रूप है जो 'रायचस' (Riohteous) होता है, जो अनौचित्य और कदाचार के विरुद्ध आता है। कवि समाज का "कांसेंस" होता है। जब समाज का "कांसेंस" क्षुब्ध हो, तब कवि को क्षुब्ध होना ही चाहिए और क्षोभ की सर्वाधिक साहित्यिक अभिव्यक्ति "सैटायर" ही हो सकती है। विशेषतः, भारत में आज जो कुछ हो रहा है, उसका सही चित्रण व्यंग्य द्वारा ही सम्भव है। हमें हँसने वाले सिंहों की आवश्यकता है जो हँसी की मार से समाज को तिलमिला सकें।

प्रश्न—छायावाद, प्रगतिवाद और प्रयोगवाद को दृष्टि में रखते हुए हिन्दी कविता तथा पाश्चात्य काव्य-प्रयोगों की दृष्टि से भारतीय कविता का भविष्य क्या है?

उत्तर—यह सवाल किसी ज्योतिषी से पूछना चाहिए। मैं क्या जानूँ कि जो लोग अभी जनमे नहीं हैं उनकी कविता कैसी होगी? यदि कुछ कहूँ भी तो वह केवल अटकल या अनुमान होगा।

प्रश्न—स्वाधीनता के बाद लेखकों का विक्षोभ व्यक्तिगत क्यों हो गया है, जब कि स्वाधीनता से पूर्व यह विक्षोभ साम्राज्यविरोधी क्रान्ति-भावना और नए

सांस्कृतिक जागरण की आकांक्षा के रूप में एक राष्ट्रीय स्वर की भाँति प्रकट होता था ?

उत्तर—इसलिए कि साहित्यकार देखते हैं कि जो लोग उनसे हीन अथवा उन्हीं के समान हैं, वे किसी प्रकार, सांसारिक दृष्टि से सफल हो रहे हैं और इन्हें सफलता नहीं मिल पाती। बहुत-से व्यंग्यकारों की कटूक्तियाँ केवल इसलिए विफल हो रही हैं कि उनके पीछे समाज की अप्रसन्नता नहीं, उनकी अपनी वैयक्तिक अप्रसन्नता खड़ी है। जिस दिन वे अपनी वैयक्तिक अप्रसन्नता को भूल कर अपना ध्यान पूरे समाज की अप्रसन्नता पर केन्द्रित करेंगे, उस दिन उनकी कटूक्तियाँ समाज की जिह्वा पर चढ़ जायेंगी।

प्रश्न—आपने 'संस्कृति के चार अध्याय' और अपने अन्य निबन्धों में सामासिक संस्कृति को इतिहास-सम्मत माना है और उस पर बल भी दिया है। आज देश में भावात्मक एकता की बात भी ज़ोरों से उठ रही है। तब क्या आप राष्ट्रीय जीवन में विभिन्न विचारों के सह-अस्तित्व को महत्वपूर्ण नहीं समझेंगे ? और यदि महत्वपूर्ण समझते हैं तो दो विचारों के साहित्यकार एक मंच पर काम कर सकें और मतभेद रखते हुए भी एक-दूसरे की रचनात्मक प्रतिभा की प्रतिष्ठा रख सकें—इस सम्बन्ध में आपके क्या विचार और सुझाव हैं ?

उत्तर—मेरा पहला सुझाव यह है कि कम्युनिस्ट लेखक इस महासत्य को स्वीकार करें कि कम्युनिस्ट हुए बिना भी लेखक प्रगतिशील हो सकता है। मेरा दूसरा सुझाव यह है कि भारत के गैर-कम्युनिस्ट कवि, विचारक और साहित्यकार उस रोग से बचने की कोशिश करें जिसमें अमरीका गिरफ्तार है। क्या अमेरिका और रूस ही सब कुछ हैं ? भारत कुछ भी नहीं है, कहीं भी नहीं है ? तब सारा संसार भारत की ओर किसी रहस्यपूर्ण आशा से क्यों देख रहा है ? जो चीज़ रूस और अमेरिका को नहीं मिली, उसे सारी मानवता की ओर से, भारत को प्राप्त करना चाहिए। वह चीज़ है वर्तमान और अतीत का समन्वय, धर्म और विज्ञान का परस्पर मेल। साहित्यकारों को ऐसी बात नहीं बोलनी चाहिए जिससे सेठवाद को कहीं से भी शक्ति प्राप्त होती हो। पूँजीवाद को काफी कमज़ोर किए बिना भारतीय जनता सुखी नहीं होगी। हमें एक ऐसे समाज की कल्पना को आकार देना है जिससे किसी प्रकार के "आध्यात्मिक साम्यवाद" का विकास हो सके। इसी स्वप्न को नया नाम विनोबा जी ने "साम्य योग" कहकर दिया है।

प्रश्न—स्वाधीनता के इतने वर्षों बाद भी लेखकों को इतनी आर्थिक

स्वाधीनता नहीं मिल पाई है कि वह लेखनी के बल पर निर्भीक जीवन व्यतीत कर सकें और उनको कामर्शियल बनने के लिए भी मजबूर न होना पड़े। स्वाधीनता के बाद सांस्कृतिक उन्नति की बड़ी-बड़ी बातें की जा रहीं हैं, लेकिन क्या कलाकार और लेखकों की आर्थिक स्वाधीनता के बिना सांस्कृतिक उन्नति सम्भव है ?

उत्तर—सांस्कृतिक उन्नति की बड़ी-बड़ी बातों से नाराज़ होना व्यर्थ है। उलटे, हमें प्रसन्न होना चाहिए कि स्वाधीनता के बाद सांस्कृतिक उन्नति की भी चर्चा होने लगी है। जिस देश का साहित्य अनाथ हो, जिस देश की जनता में साहित्य का प्रचार नहीं हो और जिस देश के शासक साहित्य और साहित्यकार, दोनों से अपरिचित हों, उस देश का सांस्कृतिक अहंकार व्यर्थ है। मैं स्वीकार करता हूँ कि भारत अभी एक ऐसा ही अभागा देश है। जिन लोगों पर भारत को सबसे ज्यादा नाज़ है, उनकी सबसे बड़ी विशेषता यह है कि वे इस देश की भाषा, साहित्य और साहित्यकार, सबको द्वितीय-तृतीय कोटि की वस्तु मानते हैं। और उन्हें स्वयं जिस भाषा पर नाज़ है वह भाषा इस देश की जनता नहीं जानती। देश की किस्मत आज अंग्रेज़ी के भक्तों के हाथ में है। भारत को भगवान ने चौदह टाँगें दी थीं। शासकों ने चौदह टाँगों को अस्पताल भेजकर भारतीय जनता को लकड़ी की दो टाँगों पर खड़ा कर रखा है। लेकिन, यह स्थिति क्या चलने वाली है ? यह देश तो बचेगा, लेकिन, अंग्रेज़ी के पक्षधर अतल गर्त में फेंक दिये जाएँगे। जब जनता को अपनी भाषाएँ मिल जाएँगी और जब मिनिस्टर और अफसर वे लोग होने लगेंगे जिन्हें अपनी भाषा और अपने साहित्य का ज्ञान और उससे प्रेम है, तभी साहित्य का भी वास्तविक उद्धार होगा। जब तक देश की भाषाएँ निर्बाध रूप से देश में प्रसार नहीं पातीं, तब तक न तो साक्षरता बढ़ेगी, न साहित्यिक स्वाधीन होंगे। साहित्यकार तभी स्वाधीन होता है जब वह अपनी रोटी सीधे जनता से प्राप्त करता है।

प्रश्न—वर्तमान सामाजिक ढांचे से सभी बुद्धिजीवी वर्ग असन्तुष्ट हैं, और वे नये समाज की रचना करना चाहते हैं। इस नए भावी समाज की आपकी परिकल्पना क्या है ? क्या आज का साहित्यिक कृतित्व समाज को नई रचना की प्रेरणा देता है ?

उत्तर—नये समाज की मेरी जो परिकल्पना है उसका उल्लेख मैं ऊपर कर चुका हूँ। मेरी मान्यता है कि आज भी बहुत-सी साहित्यिक कृतियाँ ऐसी लिखी जा रही हैं जिनसे आगामी समाज की परिकल्पना साफ होती है। इस परिकल्पना पर कुछ थोड़ा प्रकाश "जयवर्धन" से भी पड़ा है।

प्रश्न—विचारों में आप किन विचारकों से प्रभावित हुए और कला में किन कलाकारों से ? और उनसे प्रभावित होने के क्या कारण थे ?

उत्तर—अपने ऊपर में विवेकानन्द, गाँधी, लोकमान्य तिलक, नीत्से, तोल्स्ताय और बरट्रेंड रसल का प्रभाव मानता हूँ। कवियों में से कालिदास, कबीर, तुलसीदास, इकबाल और रवीन्द्र मेरे परम प्रिय कवि रहे हैं। इधर हाल में, पहले तो मैं इलियट पर आसक्त हुआ था, आजकल पास्तरनेक पर झूमता हूँ। कह नहीं सकता कि उन विचारकों का प्रभाव मुझ पर क्यों पड़ा, न यही बता सकता हूँ कि ये पाँच-सात कवि ही मुझे क्यों पसन्द आये ?

प्रश्न—यदि आप से पूछा जाए कि आपको अपनी रचनाओं में सर्वाधिक प्रिय और प्रतिनिधि कौन-कौन लगती हैं ; तो आप किनका नाम लेंगे ?

उत्तर—सब सुत प्रिय मोहि प्रान की नाईं। फिर भी रेणुका, हुंकार, रसवन्ती, कुरुक्षेत्र, नील कुसुम, रश्मिरथी और उजली आग मुझे कुछ अधिक पसन्द हैं। शायद, जो सबसे अधिक पसन्द आने वाली चीज़ है, वह अभी लिखी नहीं गयी।

प्रश्न—आप की उर्वशी और रवीन्द्रनाथ ठाकुर एवं योगी अरविन्द की उर्वशी में क्या अन्तर है ?

उत्तर—आप यह प्रश्न किस उद्देश्य से पूछते हैं ? क्या यह जानने को कि रवीन्द्र की उर्वशी का मेरी उर्वशी पर कोई प्रभाव है या नहीं ? उर्वशी काव्य में एक स्थल पर रवीन्द्रनाथ की 'पतिता' कविता की छाया पड़ी है, किन्तु, जहाँ तक उर्वशी की मूल-कल्पना का प्रश्न है, वह रवीन्द्र की उर्वशी से उतनी भी प्रभावित नहीं है जितना प्रभाव रवीन्द्र की उर्वशी पर स्विनबर्न का आँका जा सकता है। रवीन्द्रनाथ ने उर्वशी पर कोई खंडकाव्य नहीं लिखा। उनकी उर्वशी स्फुट, लिरिक काव्य है और उसकी तुलना मेरी उर्वशी के केवल एक उद्गार से की जा सकती है। अरविन्द का उर्वशी-काव्य खंडकाव्य है। उसमें उर्वशी जीवन-ज्योति के रूप में विचित्र की गई है जिसके विलुप्त हो जाने पर पुरूरवा विक्षिप्त साधक की भाँति हिमालय के वनों में चले जाते हैं और अपने निःश्रेयस् की खोज करते हैं। मेरी कल्पना की उर्वशी देवी और मानवी का समन्वित रूप है। वह शरीर और आत्मा, दोनों को प्रेरित करती है। अतीन्द्रियता की ज्योति रवीन्द्र की उर्वशी में भी है और मेरी उर्वशी में भी। किन्तु, इन दोनों कल्पनाओं में नारी का कामिनी-रूप ही प्रधान है। अरविन्द ने उर्वशी को रहस्यवादी भावनाओं से लपेट दिया है। वह, शायद, मनुष्य के आध्यात्मिक आदर्श का प्रतिरूप है जिसके संधान में मनुष्य

संसार के वैभवों का त्याग कर देता है। मैंने पुरूरवा का जो सन्यास दिखलाया है, उसके भीतर भी ऐसा कोई संकेत है।

प्रश्न—यदि आपकी कविता की तुलना काज़ी नज़रुल इस्लाम और मायकोवस्की से की जाए तो आपको कैसा लगेगा ?

उत्तर—"हुंकार" और "सामधेनी" के रचयिता की यत्किंचित् तुलना नज़रुल इस्लाम और मायकोवस्की से की जा सकती है। किन्तु, जब "रसवंती", 'नीलकुसुम", "उर्वशी" और, मान लीजिए, "कुरुक्षेत्र" सामने आ जायें तब क्या कीजिएगा ? नज़रुल इस्लाम और मायकोवस्की ने क्रान्तिकारी ढंग की स्फुट कविताएँ लिखी हैं, किन्तु, मैं थोड़ा पुराणकार भी हूँ।

प्रश्न—आज सारी मानवता युद्ध की संभावना और शांति की आकांक्षा के बीच झूल रही है ? एक ओर विज्ञान की शक्ति है, दूसरी ओर मानव-विवेक ? साहित्य मानवता की शांति की आकांक्षा की पूर्ति में कैसे सहयोग देने में समर्थ हो सकेगा ? वैज्ञानिक मूल्यों को दृष्टि में रखते हुए इस सम्बन्ध में आपके क्या विचार हैं ?

उत्तर— कैसी धीमी गति है ? विकास
कितना अदृश्य हो चलता है ?
इस महावृक्ष में एक पत्र
सदियों के बाद निकला है।

युद्ध की समस्या ऐसी नहीं है कि हमने और आपने शान्ति की कविताएँ लिखीं नहीं कि युद्ध बन्द हो गया। आदिम युग में आदमी आदमी को कच्चा ही अथवा पका कर खा जाने में अपनी बहादुरी समझता था। कई हज़ार वर्ष के बाद उसे यह ज्ञात हुआ कि यह अत्यन्त गर्हित कर्म है। कभी-कभी ऐसी बातें आज भी सुनी जाती हैं, किन्तु, वे अपवाद हैं और उनकी प्रशंसा कोई नहीं करता। एक समय था जब युद्ध स्वर्ग का द्वार माना जाता था। मुसलमान कहते थे, 'जीते तो गाजी, मरे तो शहीद'। हिन्दू कहते थे, 'हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम्'। परन्तु, आज इन बातों में कोई भी विश्वास नहीं करता। सब मानते हैं कि युद्ध पूरा ध्वंस है, सबका विनाश है, उससे किसी का भी कल्याण नहीं हो सकता, न बमों से मरने वालों का स्वागत करने को अब आकाश में देवताओं के विमान मँडराते हैं। यह प्रगति है, बहुत बड़ी प्रगति है। निश्चित है कि संसार युद्ध रोकने की दिशा में गतिवान है क्योंकि उसकी आत्मा अब मारकाट से घिनाने लगी है। किन्तु, लक्ष्य अब भी कुछ दूर है। मनुष्य इतना सभ्य अभी भी नहीं हुआ है कि आत्मा की आवाज़ सुनकर वह युद्ध से विमुख हो जाय। युद्ध पहले वह इसलिए छोड़ेगा कि विजयी होने

की सम्भावना अब कोई नहीं देखता, सबके सब युद्ध में अपना विनाश ही देखते हैं। किन्तु, युद्ध को एक दिन वह इस कारण भी त्याग देगा कि युद्ध मनुष्यता का मार्ग नहीं है।

युद्ध को मनुष्य के मन के भीतर एक उदात्त, पुण्यमय और ओजस्वी विचार के रूप में प्रतिष्ठित करने का काम कवियों ने किया था। इसका प्रायश्चित यह है कि इस विचार को वे निन्दित बना दें, मनुष्य के मन में जहाँ भी युद्ध पुण्य-भाव बनकर बैठा हुआ है, उसे वहाँ से बिलकुल उखाड़ दें। बिलकुल उखाड़ देने का अर्थ आप समझते हैं? तात्पर्य यह कि सब छोड़कर यहाँ गाँधी की शरण में आइये। इस प्रकार का दुराग्रह छोड़ दीजिये कि कुछ युद्ध आज भी धर्मयुद्ध के समान पवित्र हो सकते हैं।

लेकिन तब शोषण का अन्त कैसे होगा? अत्याचार का आक्रमण कैसे हो सकेगा? रास्ते में खड़े भेड़िये और बाघ आदमी पर झपटना कैसे छोड़ेंगे? क्या यह मार्ग ठीक है कि बघनखों को हम पंजों से उतार कर पाकिट में लिये चलें? लेकिन, इस प्रकार बच-बचकर बघनखे पहनने वाली उँगलियाँ ज़रा कमज़ोर हो जाती हैं, नरम पड़ जाती हैं।

उपाय एकमात्र संपूर्ण विश्व का निःशस्त्रीकरण है। तो कविताओं का प्रभाव क्या ख्रुश्चोव और केन्नेडी महोदयों के मन पर पड़ सकता है? शायद नहीं, क्योंकि कविता की शक्ति-सीमा को वे जानते हैं। शायद, हाँ, क्योंकि सैकड़ों वर्ष तक कविता जिस भाव को दुहराती जाती है, वह भाव मनुष्य के स्वभाव में समा जाता है। इस दृष्टि से कवि अपना काम करते चलें। कभी न कभी उसका परिणाम अवश्य निकलेगा। निरुद्देश्य काव्य का भी, अन्त में, कोई न कोई, परिणाम होता ही है।

प्रश्न—भविष्य की मानवता का संरक्षक वैज्ञानिक है या साहित्यकार?

उत्तर—भविष्य की मानवता से हमारा तात्पर्य क्या है? आज जो मानवता हम देख रहे हैं उसकी वेदनाएँ क्या हैं जिन्हें दूर करना है? सत्य की उपासना आज पागलपन समझी जाती है। ब्रह्मचर्य को लोग बेहूदगी और शर्म को ही शर्मनाक मानते हैं। संयम को तोड़ने वाले कृत्यों से मनुष्य की उदारता सिद्ध होती है और बहुत-से अपराध ऐसे भी हैं जिनसे मनुष्य कीर्ति अर्जित करने लगा है।

मिथ्यारंभ दंभ-रत जोई
ता कहँ सन्त कहइ सब कोई।
सोइ सयान जो परधन हारी
जो कर दंभ सो वर आचारी।

जो कहि झूठ मसखरी जाना
कलियुग सोई गुनवंत बखाना।
नारि बिबस नर सकल गोसाईं
नाचहिं नर मर्कट की नाईं।

ये सब इसलिए बढ़े कि मनुष्य में बुद्धि की अधिकता और श्रद्धा की कमी हो गयी। जब तक श्रद्धा का आधिपत्य था, लोगों को सन्मार्ग पर रखने में कानून को उतनी मशक्कत उठानी नहीं पड़ती थी जितनी आज उठानी पड़ रही है। श्रद्धा को कमजोर करके बुद्धि ने ही मनुष्य को यह सिखा रखा है कि पुलिस से छिपकर करो तो पुण्य और पाप में कोई भेद नहीं है।

एकान्त से आदमी डरने लगा है, क्योंकि एकान्त अब भी ऐसे सवाल कर सकता है जिनका जवाब हम नहीं दे सकते। इसलिए, सिनेमा, रेडियो, नृत्य, गान और सामाजिक संध्याओं की भरमार है। जो एकान्त से भागना चाहे, उसके सामने कोई कठिनाई नहीं रह गयी। यदि कुछ थी भी तो ट्रांजिस्टर ने उसे दूर कर दिया। शाम को टहलते समय भी आप आत्मा की खुटक से बचना चाहें तो ट्राँजिस्टर साथ ले कर मजे में बच सकते हैं।

आदमी के मन के भीतर कहीं कोई बाँध नहीं रह गया है, न वह धारा में पाँव अड़ा कर कहीं खड़ा हो सकता है। इस बिखरते, टूटते, धुँधुआते, डगमगाते समाज में हमें ऐसे व्यक्तियों की प्रधानता चाहिए जो पूर्ण हों, जिनमें दरारें नहीं हों, जिनके भीतर वह स्थिरता और आत्मपूर्णता हो जो मध्य युग के महापुरुषों में देखी जाती थी—संक्षेप में, जो धारा में बहने से इनकार कर सकें। यदि विज्ञान से ऐसा व्यक्तित्व तैयार हो सकता हो तो वैज्ञानिकों को सब छोड़कर पहले इसी महत्कार्य में हाथ लगाना चाहिए।

मेरा अपना ख्याल यह है कि ये गुण तभी लौटेंगे जब हम अतीत के कुछ अंशों को लौटा लें, अथवा भारतीय प्रसंग में यह बात कि, अतीत के अमर अंशों को हम तिरोहित होने से बचा लें। यह कार्य केवल साहित्यकार कर सकते हैं। पिछले युग की देन आध्यात्मिकता थी। विज्ञान नये युग की उपलब्धि है। और ये दोनों तत्व परम मूल्यवान् हैं। लेकिन, साहित्य ने यदि पक्षपात किया तो आदमी और भी अधिक हानि में पड़ेगा। उसका धर्म है कि अध्यात्म और विज्ञान के बीच वह सेतु बन कर पड़ा रहे जिस पर चढ़कर धर्मार्थी विज्ञान का और वैज्ञानिक अध्यात्म का स्पर्श कर सकें।

—: ० :—

ओजस्वी कवि दिनकर

डा० विश्वम्भर नाथ उपाध्याय

हिन्दी-काव्य में दिनकर जैसा बड़ा ओजस्वी कवि दूसरा नहीं है, यह दिनकर के बावजूद "डैवियेशन्स" के कहना पड़ेगा और इस तथ्य को जो नहीं कहता, वह कवि दिनकर के साथ अन्याय करता है। इधर के नये कवियों में, जिन्होंने ओजप्रधान कविताएँ लिखी हैं, नीरज की "नील की बेटी", "विश्व-शान्ति" या "एटमबम का विरोध" वगैरह रचनाएँ ही ऐसी हैं, जो जनप्रिय हुई हैं, और जिनमें आक्रोश पर्याप्त मात्रा में हैं किन्तु दिनकर की 'दिल्ली' शीर्षक रचना पढ़िए। दिनकर में आज भी जो प्रखरता है जो भर्त्सना की भीषण शक्ति है, वह अन्य किसी भी कवि में नहीं मिलती। अतः दिनकर के "राजनैतिक दृष्टिकोण" पर इतना अधिक बल नहीं देना चाहिए कि इस कवि की कला के परीक्षण में बाधा पड़े क्योंकि जनता के सम्मुख जब 'दिल्ली' शीर्षक रचना पढ़ी जायेगी, या "रश्मिरथी" अथवा "कुरुक्षेत्र" का पाठ होगा, तब जनता यह प्रश्न नहीं पूछेगी कि इस कवि का राजनैतिक दृष्टिकोण क्या था। वह काव्य का आनन्द लेते समय, इन प्रश्नों को महत्व नहीं देती। कारण यह है कि यदि कवि जनता के उत्साह को जगा सकता है तो वह कवि की अन्य बातों को भूलने के लिए तैयार हो जाती है, इसीलिए हम दिनकर से दृष्टिभेद रखते हुए भी, 'दिनकर' जैसा काव्य नहीं लिख सके। युद्ध का प्रश्न उलझा देने पर भी 'कुरुक्षेत्र' में जो सशक्तता है, वह अन्यत्र नहीं मिल सकी। अतः दिनकर का स्थान उन आलोचकों से अधिक गहराई में है, भावी जनता के हृदय में है, जो दिनकर के विचारों को या उनके राजनैतिक जीवन को, उनके काव्य से अधिक महत्व देना चाहते हैं।

यह भी स्मरणीय है कि दिनकर के काव्य की एकपक्षीय आलोचना का कारण यह भी था कि छायावाद के बाद और "नव कवितावाद" के मध्य की अवधि में समाज-शास्त्रीय आलोचना रचना से अधिक रचयिता के व्यक्तिगत जीवन की खोज में अधिक रहती थी। सौभाग्यवश, आज हम अधिक स्वस्थ होकर दिनकर के काव्य को देख सकते हैं।

प्रभाव की परिधि—दिनकर का काव्य सबसे अधिक नवयुवकों को प्रभावित करता है। परतंत्रता के काल में दिनकर से अधिक और किस कवि ने विद्रोह की ज्वाला को दीप्त किया था? नवीन जी की एक ही पंक्ति प्रचलित हो सकी—"कवि कुछ ऐसा गान सुनाओ, एक लहर इधर से आए, एक लहर उधर से आए"। माखन

लाल चतुर्वेदी के काव्य का स्वरूप भिन्न है, उसकी प्रक्रिया अधिक सूक्ष्म और उसकी ज्वाला मधुरता के माध्यम से व्यक्त हुई है। कारागार में कैदी, कोकिल की तान सुनकर परतंत्रता को मधुर अभिलाषाओं की पूर्ति में बाधक तथ्य के रूप में अधिक प्रस्तुत करता है। अतः देश को झकझोर कर, कायरता को करारी लताड़ बताकर जगाने की प्रवृत्ति जितनी दिनकर के काव्य में सफलता के साथ अवतरित हुई है, उतनी अन्य किसी कवि के काव्य में नहीं हुई—

अहा ! जगमगाने लगी रात की
माँग में रौशनी की लकीर।
अहा ! फूल हँसने लगे, सामने देख
उड़ने लगा वह अबीर।
अहा ! यह उषा हो के उड़ता चला
आ रहा देवता का विमान।
खड़ा हो, जवानी का झंडा उड़ा
ओ मेरे देश के नौजवान !

माखनलाल चतुर्वेदी के काव्य में परतन्त्रता के कारण माधुर्य का दमन विवश होकर करना पड़ रहा है, ऐसा लगता है। किन्तु दिनकर के काव्य में स्वतन्त्रता-प्राप्ति के लिए हृदय के भीतरी स्तरों से उमड़ते हुए माधुर्य को अनुशासन में रखना आवश्यक मान कर, बार-बार मन को समझाकर उसे अपने कर्त्तव्य के प्रति जागरूक रखने का प्रयत्न है, सर्वत्र प्राण-वत्ता ओतप्रोत है, सर्वत्र सिंहनाद और लुप्त-गौरव के प्रति कसक।

इन गुणों के कारण दिनकर परतन्त्र भारत के वास्तविक वैतालिक थे। परिणामतः 'काव्य गुण' उनके आक्रोश की लपेट में जो स्वतः खिचे चले आए हैं, उन्हीं को दिनकर ने स्वीकार किया है। अतः दिनकर का काव्य छायावाद के बाद धरती के अधिक निकट प्रतीत हुआ। उसमें रुककर किसी पदार्थ या भाव को कुरेद-कुरेद कर, उलट-पलट कर, प्रत्येक रंग और प्रत्येक पार्श्व के चित्रण का प्रयत्न नहीं है, किन्तु इसी प्रवृत्ति के अभाववश जहां वह 'कला' की दृष्टि से अधिक 'अलंकृत' नहीं है, वहीं वह 'जनमन' के अधिक निकट है, जैसे नभगंगा को धरती पर उतार लाया गया हो। "मिट्टी की ओर" शीर्षक से लिखी गई पुस्तक व्यर्थ नहीं हुई।

मुझे स्मरण है कि उन दिनों "बिस्मिल" की राष्ट्रीय कविताओं की तुलना में दिनकर की रचनाएँ सबसे अधिक सफल होती थीं—

लेना अनल-किरीट भाल पर ओ आशिक होने वाले !
कालकूट पहले पी लेना, सुधा बीज बोने वाले !

तथा

खेल रहे हिलमिल घाटी में, कौन शिखर का ध्यान करे ?
ऐसा वीर कहाँ कि शैलरुह फूलों का मधुपान करे।
'सूली ऊपर सेज पिया की', दीवानी मीरा सो ले।
अपना देश वही देखेगा, जो अशेष बलिदान करे।

इसी प्रकार 'विपथगा', 'आलोकधन्वा', 'हाहाकार' और 'दिगम्बरि', आधुनिक हिन्दी-काव्य की अमर रचनाएँ हैं। यदि इन रचनाओं को हिन्दी में न प्रकाशित कर, अंग्रेजी में अनूदित कर, फ्रांस या इंगलैंड के किसी काव्य-संग्रह में शामिल कर दिया जाता और वहीं के किसी आलोचक से घोषणा करा दी जाती कि ये रचनाएँ फ्रेंच या अंग्रेजी साहित्य की अमर रचनाएँ हैं तो आप देखते कि "नव कवितावादी" भी इन रचनाओं को अपने मस्तक और हृदय पर भी लपेटे डोलते !

अतिपरिचय से अवज्ञा होती है, पुरानी बात है, किन्तु इस तथ्य में दम है। अतिपरिचय के कारण हम अपनों की अवज्ञा करते हैं, हम जहाँ से मापदण्ड लेते हैं, उन पर वहीं की रचनाएँ जमती हैं किन्तु जब हम उन मापदण्डों पर अपने कवियों की रचनाएँ कसते हैं तो कसौटी पर असली स्वर्ण की लकीर भी हमसे पहचानी नहीं जाती। यदि निकष पर वास्तविक स्वर्ण की लकीर हम पहचान भी गए तो पुकार उठते हैं, कि यह कवि तो लकीर का फकीर है।

इस मूर्खता की इधर विकट वृद्धि हुई है। रुचि की उच्चता और बारीकी के प्रयत्न में हम 'भारतीय मानस' को समझने का प्रयत्न नहीं कर पाते। क्या कारण है कि तुलसी, सूर, भारतेन्दु, दिनकर, मैथिलीशरण गुप्त आदि सरल भाषा लिखकर भी जनता के अधिक निकट हैं और आज के "आयामवादी, परिप्रेक्ष्यवादी" जनप्रिय नहीं हैं। अपनी प्रभाव परिधि को संकुचित देखकर, आज जिस नए तर्क का आविष्कार हुआ है, वह है, विशेषीकरण का। काव्य एक विशिष्ट ज्ञान-शाखा की तरह विशिष्ट और केवल "ट्रेण्ड" लोगों के लिए है। यानी अब तक यह समझा जाता था कि काव्य और कला में ही यह शक्ति है कि वह विशिष्ट विभागों में विभाजित, परस्पर विच्छिन्न ज्ञान-शक्ति की सीमाएँ तोड़कर, मनुष्य के उन तारों को तरंगित कर दे, जो मनुष्य-मात्र में सामान्य हैं। भावजगत् में विशेषीकरण रहता ही नहीं, वह तो साधारणीकृत क्षेत्र है। अर्थशास्त्र, रसायनशास्त्र, जन्तु-शास्त्र, भूगर्भशास्त्र और दर्शन-शास्त्र के विशेषज्ञ, यह सम्भव है, कि एक दूसरे के क्षेत्र की विशिष्ट ज्ञान-पद्धति से अपरिचित हों किन्तु ये सब विशेषज्ञ, क्रोध, रति, ग्लानि, आश्चर्य, भय, शोक आदि के धरातल पर एक जगह खड़े दिखाई पड़ते हैं। यदि

इन भावों अथवा मानसिक स्थितियों की व्यंजना अत्यधिक असाधारण, अस्पष्ट और गुह्य न हो तो ये सब "विशेषज्ञ" काव्य की भूमि पर एक हो जाते हैं। यही कारण है कि शकुन्तला के सौन्दर्य और मेघदूत के विप्रलम्भ-वर्णन की प्रतिक्रिया एक सी होती है। विशेषीकरण की धुन में कवि के लिए, केवल "अस्थायी नवीनता" की फिराक में न तो काव्य-प्रक्रिया को अत्यधिक अस्पष्ट करने का अधिकार है और न इस "उक्त-सामान्य मानव" की उपेक्षा का। क्योंकि इसी सामान्यभूमि को स्पर्श कर, कवि गण मानवीय चेतना का उदात्तीकरण करते आए हैं। मानसिक स्थिति का लक्ष्य बदलता आया है, और बराबर बदलता जाएगा, क्योंकि भाव के लक्ष्य सामाजिक, राजनैतिक परिस्थितियों से निर्धारित या प्रभावित (conditioned) होते हैं किन्तु जहाँ तक काव्य की मूल सम्पत्ति का प्रश्न है, वह है विशिष्ट दीवालों को तोड़कर हृदय-हृदय में उठने वाली भावना।

क्या यह शाश्वतवाद है ? नहीं। क्योंकि भाव का स्वरूप युगविशेष की आवश्यकतानुसार 'कंडीशंड' होगा, तभी काव्यविषय और प्रयोजन में अन्तर आता है किन्तु मानवता की मूलसम्पत्ति—"भाव या वासना या वेदना" में परिवर्तन नहीं होता। जब तक मनुष्य का "बायलॉजीकल आस्पैक्ट", पूर्णतः परिवर्तित नहीं हो जाता तब तक काव्य में "नए, पुराने" का प्रश्न असम्बद्ध प्रश्न बना रहेगा। केवल शैली और काव्यविषय की दृष्टि से काव्य नया या पुराना हो सकता है। अन्यथा कालिदास नवीन हैं या सुमित्रानन्दन पन्त, भूषण नवीन हैं या दिनकर ? इस प्रश्न का एक ही उत्तर है कि सभी सफल और प्रभावशाली कवि हमेशा नवीन रहते हैं। तभी तो पुराने और हमसे अधिक काव्य के स्वरूप को समझने वाले आचार्य कहा करते थे कि काव्य से प्राप्त यश का शरीर अजर और अमर होता है।

इस सामान्य तत्त्व का हमारे समाजशास्त्रीय सिद्धान्त से कोई विरोध तो नहीं है ? मैंने यह शंका एक पत्र में प्रसिद्ध मार्क्सवादी मौरिस कॉर्नफोर्थ के पास लिख भेजी। मौरिस कॉर्नफोर्थ इंग्लैंड के प्रमुख विचारकों में से हैं, उनका १५-२-६१ का जो पत्र आया, उसमें निम्नलिखित पंक्तियों की ओर मैं मार्क्सवादियों का ध्यान आकर्षित करता हूँ—

"On the question of sensibility, sentiment and pleasure, I would myself think it is very vital to bear in mind that art is a product of impulses common to all humanity, operating in every social system, certain features of the mode of operation only being modified by the character of each social system."

दिनकर की विशेषता यह है कि वह इसी 'सामान्य भूमि' पर हैं, उनके काव्य में असाधारण और विचित्र मानसिक स्थितियों का चित्रण नहीं है और उन्होंने अपने

क्रोध, उत्साह और आसक्ति का लक्ष्य परतन्त्रता के काल में, सामान्य जनता के लक्ष्य के साथ एक करके लिखा है। जब कोटि-कोटि जनता के भाव और कवि के भाव में द्वैध नहीं रहता, जब सामान्य जनसमूह की प्रमुख आशा-अभिलाषाओं के विरुद्ध कवि की निजी आशा-अभिलाषाएँ नहीं जातीं और जब जनमानस का मौन स्पन्दन कवि की वाणी में अभिव्यक्ति पाता है, और साथ ही कवि अभिव्यक्ति की दृष्टि से भी उस जनसमूह की रुचि का परिष्कार करते हुए भी, उससे सर्वथा दूर नहीं जाता तब "जनप्रिय" और "जनवादी" काव्य का जन्म होता है। दिनकर का काव्य इसी दृष्टि से देखा जाना चाहिए और यहीं उसका महत्त्व निहित मिल सकता है।

उक्त सामान्यभूमि पर रहकर भी प्रत्येक कवि भंगिमा और भाव-विशेष की दृष्टि से अपना विशिष्ट रूप बना लेता है, क्योंकि विकास के दौरान में प्रत्येक पदार्थ और व्यक्ति सामान्य भी होता है और अद्वितीय भी। "सामान्य और अद्वितीयता" के इस द्वन्द्व का समन्वय ही जैसे व्यक्तित्व होता है, उसी प्रकार सामान्य और विशिष्टता के द्वन्द्व से ही 'काव्य-विशेष' का भी जन्म होता है। काव्य की प्रक्रिया में भी, यही द्वन्द्व चलता रहता है और जिसे प्रत्येक कवि सृष्टि के समय महसूस करता है। कवि के मन में इतने विचित्र अनुभव उत्पन्न होते हैं जो सामान्य व्यक्ति को नहीं होते, यह एक तथ्य है किन्तु उन अनुभवों का अनुसंधान करने पर यह साफ पता चलता है कि वे निहायत साधारण अनुभवों के चरम-शिखर मात्र हैं। इसके सिवा जब उन अनुभवों की अभिव्यक्ति का समय आता है, तब 'चयन' आवश्यक हो जाता है, 'फैंसी' को जो काव्य में कम महत्त्व मिला है और 'कल्पना' को अधिक महत्त्व मिला है, वह इसी "सामान्य या वास्तविक" की उपेक्षा न करने के कारण।

यह एक ऐतिहासिक सत्य है कि जब किसी जनसमूह के सम्मुख जीवन-मरण का प्रश्न उपस्थित होता है और उसे हल करने के लिए जब तुमुल झंझावात की तरह जनजागरण हो जाता है तब केवल "सूक्ष्म" के पीछे पड़े रहने वाले कवियों से उस जनसमूह को संतोष नहीं होता। वह इस निर्णायक परिस्थिति में ऐसे ही काव्य को कंठहार बनाता है जो उसके प्रमुखतम आवेग को अधिक आवेग के साथ अभिव्यक्ति दे। तभी छायावाद कला की दृष्टि से अधिक सफल होने पर भी और अधिक सूक्ष्म और स्थायी प्रश्नों के समाधान में लवलीन होने पर भी उपेक्षित होता गया और दिनकर, अंचल, सुमन आदि की वाणी का प्रभाव नवयुवकों पर अधिक पड़ा। स्वयं छायावादियों ने "तुम वहन कर सको जन-मन में मेरे विचार, वाणी मेरी चाहिए तुम्हें क्या अलंकार" कहना प्रारम्भ कर दिया था।

देश-भक्ति—दिनकर को राष्ट्रीय कवि कहा जाता है, क्यों ? देश-भक्त वह भी है जो प्रेम के गीत गाता है, क्योंकि प्रेम का जो स्वरूप चित्रित होता है, वह देश-विशेष की विशेष परिस्थितियों से सर्वथा असम्बद्ध नहीं होता। नव गीतकारों में प्रेयसी को सम्बोधित कर लिखे गए बहुत से गीत सामाजिक चेतना की उपेक्षा नहीं करते। प्रकृति-वर्णन कर्त्ता भी देश-भक्त है क्योंकि वह एक भूखण्ड विशेष की प्रकृति-सुषुमा को वाणी देता है। भूखण्डविशेष के पर्वत, सरिता, वन, उपवनादि से, उसके निवासियों का एक रागात्मक सम्बन्ध स्थापित हो जाता है। अतः किसी देश की प्रकृति उसी प्रकार उस देशवासी के प्रेम का अंग बन जाती है, जिस प्रकार उसके परिवार या अन्य संस्थाओं के सदस्य। हम हिमालय का आदर अपने पिता से कम करते हैं, या अधिक—यदि इसका अनुसंधान किया जाये तो यह देखकर हमें आश्चर्य होगा कि सम्पूर्ण भूखण्ड की सुरक्षा और भावी संतति के भविष्य के प्रति अपने को उत्तरदायी समझकर हम हिमालय के लिए पिता, पुत्री, प्रेयसी को छोड़कर लड़-मरने के लिए प्रस्तुत हुए हैं और आज "मेरे नगपति मेरे विशाल" की रक्षा के लिए हम पुनः मधुरतम सम्बन्धों का बलिदान देने के लिए कटिबद्ध हैं।

इसी प्रकार देश-भक्त वह कवि भी है, जो देश के प्राचीन महापुरुषों, महान घटनाओं अथवा अनुकरणीय आदर्शों को प्रस्तुत करता है। किन्तु मैथिलीशरण या दिनकर को ही राष्ट्रीय कवि क्यों कहा गया ? इसका कारण यह है कि परतन्त्रता के समय राष्ट्र की प्रबलतम आकांक्षा पराधीनता से मुक्ति प्राप्त करने की थी। जैसे किसी भी कार्यक्रम में प्राथमिकताओं पर ध्यान दिया जाता है, उसी प्रकार सांस्कृतिक, या साहित्यिक कार्यों में भी प्राथमिकता निश्चित की जाती है। इसी तर्क के आधार पर मैथिलीशरण गुप्त और दिनकर इसलिए राष्ट्रीय कवि हैं क्योंकि इन्होंने राष्ट्र की प्रबलतम आकांक्षा को सबसे अधिक शक्ति और आसक्ति के साथ व्यक्त किया है। इसी तर्क के आधार पर छायावाद को 'पलायनवाद' कहा गया था, यह स्मरणीय है। क्योंकि रवीन्द्र के अनुकरण पर 'विश्वमानव' की चिन्ता तब देश को उतनी नहीं थी, जितनी "देशमानव" की। यह अदूरदर्शी नीति थी या दूरदर्शी नीति, यह प्रश्न यहाँ नहीं है। प्रश्न यह है कि दिनकर और गुप्तजी ने राष्ट्रीय आवेग के उस बिन्दु को औरों से अधिक पहचाना, जहाँ राष्ट्र अपना सारा क्रोध केन्द्रित कर रहा था।

राष्ट्रीय कवियों ने इस बात की चिन्ता नहीं की कि काव्य के विशेषज्ञ अथवा विशेषज्ञ पाठक उनके काव्य पर "प्रचारात्मकता" का आरोप लगाएँगे। उन्होंने इस बात की भी चिन्ता नहीं की कि परिष्कार में इतना अधिक समय दिया जाय कि आवेग-अम्बुधि के तरंगाघात के दृश्य-अंकन को उपेक्षित कर दिया जाय और उन्होंने

इस बात की भी चिन्ता नहीं की, कि उत्तेजना का समय गुज़रने के बाद, यह काव्य ऐतिहासिक हो जाएगा।

अतएव यदि गुप्तजी या दिनकर को राष्ट्रीय कहा जाने लगा है, तो यह जनमानस द्वारा की गई इन कवियों की आलोचना है जो विशेषज्ञों द्वारा किए गए "विवेचन" से सर्वदा अधिक सत्य के निकट होती हैं।

काव्यविधि—दिनकर का काव्य अधिकतर "भर्त्सनात्मक" है! लताड़ बताने में दिनकर सर्वोत्तम कलाकार हैं। ऐसे काव्य में भय यह रहता है कि एक बार प्रारम्भ की गई भर्त्सना का "टैम्पो" आगे चलकर कहीं समाप्त न हो जाए। किन्तु दिनकर यहीं अद्वितीय कवि हैं कि वह 'भर्त्सना' के 'टैम्पो' को अंत तक निबाहते हैं। उनकी निर्वाह-विधि सरल है, स्पष्ट है। देश को जगाने के लिए वर्तमान को झक-झोरने के लिए, भूतकालीन गौरव का स्मरण आवश्यक है। अतः दिनकर के काव्य में प्राचीन वीरपुरुषों का नाम और प्राचीन स्थानों के स्मरण 'भर्त्सना' के आवेग को अंत तक ले चलने में समर्थ होते हैं। दूसरा उपाय है, यौवन के स्वभाव का वर्णन। यौवन की उद्दामता कोई भी देख सकता है। स्वयं दिनकर छायावादी युवक और आज के निराशा-कुंठाग्रस्त युवक से भिन्न रहे हैं, अतः यौवन की उद्दामता की जितनी व्याख्याएँ और उदाहरण दिनकर के काव्य में हैं, वे अन्यत्र दुर्लभ हैं। 'कामायनी' में यदि यौवन की मधुर व्याख्या है तो दिनकर में यौवन की प्रखरता का पग-पग पर अंकन है। प्रखरता-प्रियता के कारण दिनकर 'मधुर' के चित्रण में उतने सफल नहीं हो सके। निराला का 'यमुना' और दिनकर की 'पाटलिपुत्र की गंगा' की तुलना कीजिये। निराला की 'विधवा' और दिनकर की 'विधवा' की तुलना कीजिए, और पन्तजी के 'हिमाद्रि' और दिनकर के 'नगपति' की तुलना कीजिए। 'निर्झरिणी' या अन्य ऐसे ही विषयों पर छायावाद की तुलना में दिनकर की रचनाओं में मधुर भावों की अनुभूति कहीं भी प्रभावशाली नहीं हो पाई है, किन्तु इन्हीं विषयों पर दिनकर की रचनाओं में एक नया 'पार्श्व' उभरता हुआ दिखाई पड़ता है, वह है, निजी मधुर भावनाओं के स्थान पर, राष्ट्रीय दृष्टिकोण से पदार्थ और प्रेम का दर्शन! अतः उनके काव्य में, जिसमें हृदय की सम्पूर्ण कान्ति ओतप्रोत है, प्रेम और प्रकृति को भी राष्ट्रीय प्रबलतम आकांक्षा के सन्दर्भ में रखकर देखने के कारण, "राष्ट्रीयता" स्थापित हो गई है, अतः उनकी 'भर्त्सना', अपने प्रयोजन के रूप में, राष्ट्रीय कल्याण की औषधि है और इसीलिए प्रशंसनीय है।

दिनकर के काव्य का एक और प्रबल स्तम्भ—वर्तमान का चित्रण है। नवीन, दिनकर, गुप्त और प्रगतिवाद से प्रभावित हो जाने के बाद सभी छायावादियों ने इस देश की दरिद्रता को सकरुण नेत्रों से देखा है, किन्तु छायावाद में दरिद्रता

सौन्दर्यवाद के माध्यम से व्यक्त हुई है, अतः उसके प्रति घोर घृणा जाग्रत नहीं होती।

किन्तु दिनकर के काव्य की विशेषता ही यह है कि वह अवांछनीय के प्रति सबसे अधिक घृणा जगा सके हैं। वीररस के विकास में सबसे महत्त्वपूर्ण तथ्य है कि प्राचीन और मध्यकालीन वीर और रौद्ररस में कवियों का परिप्रेक्षण इतना व्यापक या जनवादी नहीं था। मनुष्य-मात्र की अकिंचनता दूर करने की भावना सचमुच एक महान व्रत है और अब जनता इस भाव के प्रति इतनी अधिक जागरूक हो गई है कि अब पीछे लौटा ले चलना दिनकर के लिए भी कठिन हो रहा है।

अपने कथाप्रधान काव्यों 'रश्मिरथी' और 'कुरुक्षेत्र' तथा अपनी दीर्घ मुक्तक रचनाओं में दिनकरजी का एक और रूप है, वह है व्याख्याता का। काव्य में दिनकर से बड़ा कोई अन्य व्याख्याता हिन्दी में नहीं है। व्याख्याता जिस प्रकार अतीत की स्मृतियों की बीच-बीच में झलक देते हुए, वर्तमान की चीड़फाड़ करते हुए, श्रोताओं की सम्भावनाओं को भड़काते हुए, उनमें आत्म-विश्वास जगाते हुए और आवेश को लक्ष्य देते हुए चलता है, उसी प्रकार दिनकर जी सर्वत्र व्याख्याता हैं। उनके काव्य में एक और गुण यह है कि जहां संवाद का प्रसंग नहीं आता, वहाँ भी वह ऐसे प्रसंगों की उद्भावना कर लेते हैं। उनके कथाप्रधान काव्यों में "संवाद-प्रसंग" अधिक हैं, "प्रयत्न-विस्तार" बहुत कम है। दिनकर के काव्य के श्रेष्ठ अंश इसीलिए 'रश्मिरथी' और उससे भी अधिक 'कुरुक्षेत्र' के संवाद प्रसंगों में हैं, और यहाँ अपनी प्रिय भर्त्सनावादी शैली के प्रयोग से वादी-प्रतिवादी दोनों के कथन अत्यधिक आकर्षक बन पड़े हैं। हिन्दी में केशवदास के बाद मैथिलीशरण गुप्त और दिनकर ही संवाद-प्रसंगों के श्रेष्ठ कवि हैं। बल्कि दिनकर को उत्तेजनात्मक प्रसंगों में गुप्तजी से भी अधिक सफलता मिली है।

'कुरुक्षेत्र' में 'युद्ध' के प्रश्न को उलझा देने के कारण 'कुरुक्षेत्र' की निन्दा भी कम नहीं हुई है, किन्तु यदि आप समाधान ही चाहते हैं तो 'कुरुक्षेत्र' मे वह भी मौजूद है—

न्यायोचित सुख सुलभ नहीं
जब तक मानव-मानव को।
चैन कहाँ धरती पर, तब तक
शान्ति कहाँ इस भव को?
जब तक मनुज-मनुज का यह
सुखभाग नहीं सम होगा।
शमित न होगा कोलाहल,
संघर्ष नहीं कम होगा!

अतः 'कुरुक्षेत्र' को समाधान की दृष्टि से पढ़ने पर भी निराशा न होगी यदि अपनी दृष्टि निर्भ्रान्त हो तो। किन्तु इस काव्य को युधिष्ठिर और भीष्म के संवाद-काव्य के रूप में पढ़िए, तभी कवि का संवाद-कौशल प्रकट होता है।

दिनकर उत्तेजनात्मक, आवाहनात्मक, प्रभंजनात्मक शैली का प्रयोग अधिक करते हैं, इसके अलावा ये सब शैलियाँ भर्त्सनात्मक शैली का अंग भी बन जाती हैं। शैली का प्रश्न इधर लोगों ने स्वतन्त्र रूप में विचार का विषय बना लिया है किन्तु दिनकर जैसे कवियों की शैली उनके वक्तव्य और अनुभूति से अलग करके विचार का विषय बन नहीं सकती। यहां छिलका ऊपर से चढ़ाया गया नहीं है, बल्कि भीतर के रस और गूदे के साथ आम के छिलके की तरह शैली रस और भाव से सम्बद्ध है। अतः अंतरंग-पक्ष की विशिष्टता के कारण हिन्दी में एक "दिनकरीय शैली" की प्रतिष्ठा हो गई है।

दिनकर का महत्त्व परतन्त्र भारत में, साहित्य के क्षेत्र में वही था, जो राजनीति में बालगंगाधर तिलक का था। हमारे स्वातंत्र्य-आन्दोलन का गरमपक्ष अपनी सम्पूर्ण उग्रता, ऊष्मा और कल्याणकारी ध्वंसात्मकता के साथ दिनकर के काव्य में सुरक्षित है। उनके काव्य को पढ़कर लगता है, जैसे भूकम्प होने जा रहा है। दिशाओं में घूर्णन, समुद्रों में आलोड़न, मरुस्थलों में वातातप-जन्य बालुका-फूत्कारण, प्रलय मेघगर्जन, उपलवर्षण और चारों ओर एक विकट क्रान्तिघोष का हम अनुभव करने लगते हैं। अन्याय और शोषण के विरुद्ध दिनकर की वाणी सदैव स्मरणीय रहेगी। कौन जानता है कि जिन कविताओं को हम "ऐतिहासिक महत्त्व" ही आज दे पा रहे हैं, वे जनजागरण के पश्चात् अनिवार्य क्रान्ति के समय हमें पुनः समसामयिक लगने लगें—

हो रहीं खड़ी सेनाएँ फिर काली-काली
मेघों से उभरे हुए नए गजराजों की।
फिर नए गरुड़ उड़ने को पाँखें तोल रहे
फिर झपट झेलनी होगी नूतन बाजों की।
वृद्धता भले बँध रहे रेशमी धागों से
साबुत इनको पर नहीं जवानी छोड़ेगी।
जिसके आगे झुक गए सिद्धियों के स्वामी
उस जादू को कुछ नयी आंधियाँ तोड़ेंगी।

—: ० :—

आलोचक दिनकर

डा० पद्मसिंह शर्मा 'कमलेश'

हिन्दी के ख्यातनामा कवियों में से लगभग सभी ने अपने विशिष्ट काव्य ग्रन्थों की भूमिकाओं, काव्य-सम्बन्धी अपने दृष्टिकोण को व्यक्त करने वाले वक्तव्यों और कला और साहित्य पर लिखित स्फुट निबन्धों में अपनी आलोचक दृष्टि का परिचय दिया है। सर्वश्री माखनलाल चतुर्वेदी, प्रसाद, पंत, निराला, महादेवी आदि में से कोई भी कवि इसका अपवाद नहीं है। इन सभी का गद्य बड़ा प्रौढ़ और चिन्तन शीलता की आभा से द्योतित है तथा 'गद्यं कवीनां निकषं वदन्ति' की उक्ति के अनुसार ये सब श्रेष्ठतम कवियों की पंक्ति में बैठने के अधिकारी हैं। लेकिन इस दृष्टि से यदि दिनकरजी को देखें तो वे अन्यतम ठहरते हैं। कारण, वे अध्यापक भी रह चुके हैं और एक सफल अध्यापक होने के नाते उन्होंने अपने आलोचक रूप को अधिक स्पष्टता से प्रस्तुत किया है। इसीलिए जहाँ अन्य कवियों के गद्य पर विचार करते समय उनके ऊपर लिखित लेख का शीर्षक "कला और साहित्य पर ..... के विचार" अथवा इसीसे मिलता-जुलता कोई दूसरा हो सकता था, वहाँ दिनकरजी के गद्य पर विचार करते समय 'आलोचक' विशेषण लगाये बिना काम नहीं चल सकता। इसीलिए हमने यह विशेषण लगाया है और जैसा कि हम आगे चल कर देखेंगे 'कवि दिनकर' की भांति 'आलोचक दिनकर' भी अपनी आभा लिये अलग खड़ा है।

आलोचना की जिन पुस्तकों के आधार पर उनके आलोचक रूप को हम स्पष्ट करना चाहते हैं वे ये हैं—

१. मिट्टी की ओर (सन् १९४६)
२. अर्द्धनारीश्वर (सन् १९५२)
३. काव्य की भूमिका (सन् १९५८)
४. पंत, प्रसाद और मैथिलीशरण (सन् १९५८)

समय-समय पर लिखे निबन्धों अथवा यत्र-तत्र दिये गये व्याख्यानों के आधार पर निर्मित इन पुस्तकों में संगृहीत निबन्धों के निम्नलिखित तीन विभाग हो सकते हैं—

१. शास्त्रीय विषय-सम्बन्धी निबन्ध।

२. वाद अथवा युग-सम्बन्धी निबन्ध।
३. विशिष्ट कवियों-सम्बन्धी निबन्ध।

१. शास्त्रीय विषय-सम्बन्धी निबन्ध—इस प्रकार के निबन्धों में दिनकरजी के वे निबन्ध आते हैं, जिनमें उन्होंने काव्य और कला सम्बन्धी समस्याओं पर विचार किया है। काव्य को उन्होंने दो प्रकार से देखा है—एक तो काव्य का स्वरूप क्या है और दूसरे काव्य की समीक्षा किस प्रकार होनी चाहिए।

काव्य के स्वरूप का उद्घाटन करते हुए दिनकरजी ने 'कविता ज्ञान है या आनन्द', 'रूपकाव्य और विचारकाव्य', 'प्रेरणा का स्वरूप' आदि निबन्धों में पाश्चात्य और भारतीय आचार्यों के काव्य-सम्बन्धी दृष्टिकोण को उपस्थित कर उन्होंने यह निष्कर्ष निकाला है कि "कविता ज्ञान के लिए नहीं पढ़ी जाती है। कविता हम पढ़ते हैं आन्दोलित होने को, आवेश में आने को और वस्तुओं के उस रूप का साक्षात्कार करने को जो रूप न तो चर्म-चक्षुओं से दिखाई देता है, न जिसका आख्यान ही कोरे तर्कों द्वारा किया जा सकता है। फिर भी ऐसी बहुत-सी कविताएँ हैं जो ज्ञान की अनुभूति-सी लगती हैं, जिनमें तर्क मशाल के समान जलते हैं और जिनमें इतिहास सदेह खड़ा दिखाई देता है। दार्शनिक जब दृष्टान्त खोजता है तब वह कवि बन जाता है और इतिहासकार जब इतिहास की लुप्त कड़ियाँ जोड़ने को कल्पना से काम लेने लगता है तब उसके कार्य भी बहुत-कुछ कवि के कार्य बन जाते हैं। इस दृष्टि से कविता दर्शन और इतिहास दोनों से श्रेष्ठ है।" (काव्य की भूमिका पृष्ठ ११७)

काव्य की श्रेष्ठता का दिनकरजी ने पग-पग पर समर्थन किया है। इस प्रसंग में उन्होंने 'रूपकाव्य' (भाव या कल्पना प्रधान कविता) और 'विचार-काव्य' (विचार या ज्ञान-प्रधान कविता) का विश्लेषण करते हुए भी श्रेष्ठ काव्य की कसौटी यह दी है—"शुद्ध कविताओं के पढ़ने या सुनने पर पाठकों में जो अनुभाव पैदा होते हैं, वे ही अनुभाव यदि विचार-काव्य भी जगा सकें तो उन कविताओं को सत्काव्य की कोटि में रखने में मुझे कोई आपत्ति दिखाई नहीं देती। किन्तु विचारों की प्रमुखता में वृद्धि होने से कहीं कवित्व का ह्रास न हो जाय इसलिए जोर हमें बराबर इसी बात पर देना चाहिए कि काव्य विचारों से नहीं, कल्पना और भाव से बनता है और विचार-काव्य भी काव्य इसी लिए नहीं माने जाते हैं कि उनमें ऊँचे-ऊँचे विचार हैं वरन् इसलिए कि उनके रचयिताओं को इन विचारों की अनुभूति कल्पना के आवेश में हुई थी और उन्होंने अभिव्यक्ति का मार्ग भी वही चुना, जो शास्त्रकारों का नहीं कलाकारों का मार्ग है।" (काव्य की भूमिका पृष्ठ १२५)

रूपकाव्य का ध्येय आनन्द है और विचार-काव्य का ध्येय ज्ञान, लेकिन कविता इस प्रकार अलग-अलग परिधियों को स्वीकार नहीं करती। वह एक अखण्ड वस्तु है। दिनकरजी ने इसकी व्याख्या 'प्रेरणा का स्वरूप' नामक निबन्ध में की है। प्रेरणा का स्वरूप बताते हुए दिनकरजी ने लिखा है—"चिन्तन की प्रक्रिया में जब केवल मन ही नहीं, संपूर्ण अस्तित्व विलीन हो जाता है उस समय हमारे भीतर एक विलक्षण शक्ति जग पड़ती है जो छलाँग मारकर अदृश्य पर से आवरण को खींच लेता है, जो तर्कों की राह से न चलकर अनायास समाधान के दर्शन करा देती है। यही शक्ति प्रेरणा है।" (काव्य की भूमिका पृष्ठ १२६) उसकी परिभाषा उनके शब्दों में यह है—"प्रेरणा बुद्धि के केन्द्रीकरण से उत्पन्न कोई अनिर्वचनीय शक्ति है जिसके मूल हमारे संस्कारों में रहते हैं, जिनकी शिराएँ हमारी स्मृतियों में गड़ी होती हैं तथा जो मनुष्य की संबुद्धि से समन्वित होती है।" (वही पृष्ठ १२६) एक स्थान पर वे इस बात को दूसरे प्रकार से कहते हैं—"प्रेरणा उन संस्कारों के उभार का नाम है, जिन्हें हमने रहन-सहन, विचार-विमर्श, अध्ययन और संगति के द्वारा अर्जित किया है।" (वही पृष्ठ १३०) और "प्रेरणा अदृश्य की वह दूती है, जो कवि-कल्पना को जगाकर फिर तुरन्त छिप जाती है। कवि-प्रतिभा का काम यह रह जाता है कि वह कल्पना को उस प्रकार चलावे जैसे कवि की रुचि उसे चलाना चाहती है।" (वही पृष्ठ १३३)

यही प्रेरणा काव्य का मूल स्रोत है, जिसके अभाव में काव्य-भूमि मरुस्थल ही बनी रहती है। जिस कवि में यह जितनी ही सहज होगी, वह उतना ही बड़ा कवि होगा। इसके कारण कविता स्वयं बनती जाती है, बनाई नहीं जाती। दिनकरजी का यह कहना अक्षरशः सत्य है कि संसार की जो श्रेष्ठतम कविताएँ हैं, उनकी रचना में कवियों को कम से कम आयास हुआ होगा। प्रेरणा के प्रसंग में पहले दिनकरजी ने संबुद्धि (इन्ट्यूशन) का विवेचन भी किया है, जिसे वे आधुनिक विचारकों की भांति बुद्धि का विकसित रूप या केन्द्रीय चिन्तन का परिणाम कहते हैं।

सच्ची कविता के लिए दिनकरजी ने सातत्य अथवा एक ही दिशा में अधिकाधिक सोचने की शक्ति की अनिवार्यता पर ज़ोर दिया है। उनका विचार है—"कवि में लगातार एक ही दिशा में सोचते जाने की जितनी बड़ी क्षमता होगी, चित्रों और विचारों के जुलूस का जमकर अनुगमन करने का जितना ही उसमें धैर्य होगा उसकी रचना भी उतनी ही पूर्ण होगी।" (वही पृष्ठ १३२) ऐसी कविता में अपनी निजी विशेषता होगी। वह निस्सन्देह मौलिक होगी। वैसे मौलिकता,

दिनकरजी की दृष्टि में, विचारों को नये एवं प्रभावोत्पादक ढंग से सजाने की कला का नाम है।

काव्य और कला के सम्बन्ध में उपयोगिता और आनन्द के लक्ष्यों को लेकर चिरकाल से विवाद चलता आया है। दिनकरजी ने इस विवाद का उल्लेख स्थान-स्थान पर किया है। 'कला में सोद्देश्यता का प्रश्न' (मिट्टी की ओर पृष्ठ ५५) शीर्षक भाषण में उन्होंने इस प्रश्न को बड़े ज़ोर से उठाया है। उन्होंने कहा है कि सच्ची कला में यह प्रश्न उठता ही नहीं कि वह सोद्देश्य है अथवा नहीं। उनका मत है—"कभी-कभी उद्देश्य को ध्यानगत रखते हुए भी कवि उसे इस प्रकार प्रदान करता है मानो, यह उसका लक्ष्य ही न रहा हो, मानो, सौंदर्य-सृष्टि की क्रिया से ही नीति और पुण्य का आलोक फूट पड़ा हो। सच्ची कला में सुन्दरता नीति-प्रचार का शिकार नहीं होती, उद्देश्य के सामने माथा नहीं टेकती। ऊँची कविता का अगर रूप सुन्दर होता है तो उसकी आत्मा तथा उसके अन्तर्गत भाव भी पुण्य को प्रेरित करने वाले तथा मंगलकारी होते हैं।" (मिट्टी की ओर पृष्ठ ६०) लेकिन वे स्पष्ट रूप से यह मानते हैं कि कलाकार या कवि में सौंदर्य-रक्षा की क्षमता होनी चाहिए। तब सोद्देश्यता कोई गुनाह नहीं रह जाती है। यदि सोद्देश्यता ऊपर से लादी हुई है और अनुभूति की गहराई में नहीं उतरी तो उससे कोई लाभ नहीं।

यहीं कला और आचार का प्रश्न भी उठता है। दिनकरजी ने रवीन्द्रनाथ, टाल्स्टाय, इकबाल, जार्ज रसल आदि के परस्पर-विरोधी विचारों को एक साथ रखा है। टाल्स्टाय और इकबाल ने आचार पर बहुत बल दिया है, पर रवीन्द्रनाथ और रसल आनन्दमयता और मनोरंजन को ही यथेष्ट मानते हैं। दिनकरजी ने 'सत्यं, शिवं, सुन्दरम्' शीर्षक निबन्ध में भी इस विषय पर प्रकाश डालते हुए कलाकार के व्यक्तित्व की ऊँचाई को इस विवाद के समाहार का मूल कारण माना है। उनकी दृष्टि में **'ऊँची मनुष्यता'** और **'निश्छल सौन्दर्योन्माद'** का संगम जिस कलाकार के व्यक्तित्व में होगा उसकी कला में स्वयमेव पूर्णता आ जायगी और उसके लिए 'कला कला के लिए' अथवा 'कला जीवन के लिए' का प्रश्न नगण्य हो उठेगा क्योंकि वह सौंदर्य और उपयोगिता दोनों के समर्थकों को तृप्ति दे सकेगा।

काव्य की समीक्षा के लिए दिनकरजी ने जो सूत्र दिये हैं वे एक सिद्ध कवि के द्वारा निर्मित हैं। समालोचक के सम्बन्ध में उनकी धारणा यह है कि "जब कोई रसिक व्यक्ति, आत्मा में निर्भीकता और हृदय में विनम्रता लेकर, अपनी सारी कलात्मक प्रवृत्तियों को जाग्रत रखते हुए, दृष्टि को गम्भीर तथा रसग्राहिता को व्यापक बनाकर किसी कलापूर्ण कृति का रहस्योद्घाटन करने बैठता है तब हम उसे

समालोचक के नाम से पुकारते हैं।" (मिट्टी की ओर पृष्ठ १४०) और 'समालोचना वहीं पूर्ण हो सकती है, जहाँ कविता अपूर्ण हो, जब कविता अपनी निखिल पूर्णता में प्रकट होती है तब समालोचना पंगु अतः अपूर्ण रह जाती है।" (वही पृष्ठ १४६) इस प्रकार काव्य की समालोचना, उनके मत से, असाधारण प्रतिभा का काम है वैसे ही जैसे सच्ची कविता असाधारण प्रतिभा का काम है।

इतना होने पर भी उन्होंने कुछ सिद्धान्त निश्चित किये हैं, जो बड़े उपयोगी है। 'काव्य की भूमिका' में उन्होंने 'कविता की परख' नाम से जो निबन्ध लिखा है उसमें उन्होंने निम्नलिखित चार बातों पर ज़ोर दिया है—

१. शैली की मौलिकता, रीति की नवीनता और सबके स्वरों से बचकर अपना स्वतन्त्र स्वर फूँकने की योग्यता कवि की सबसे पहली पहचान है।

२. कविता की दूसरी पहचान यह है कि कवि जो कुछ कहना चाहता था उसे ठीक-ठीक कह सका है या नहीं।

३. तीसरी पहचान यह है कि वह अन्धी है या पारदर्शी अर्थात् वह रंगीन चित्रों की झाँकी और अलंकारों की छटा दिखाकर ही बस कर देती है अथवा चित्रों और अलंकारों के भीतर से कुछ और कहना चाहती है।

४. कविता की चौथी और आखिरी पहचान यह कि उसमें विशेषणों का कैसा प्रयोग हुआ है।

जहाँ तक शैली का प्रश्न है दिनकरजी भावग्रहण की पद्धति को शैली मानते हैं, जो भाव की भांति ही पूर्व निश्चित होती है। वस्तुतः शैली ही काव्य की आत्मा भाव को अभीष्ट रूप में प्रस्तुत करती है क्योंकि उसके द्वारा सूक्ष्मता इन्द्रिय-गम्य हो जाती है। लेकिन शैली को भाव से भिन्न समझना भूल है। कारण यह है कि "कवि जिस मुद्रा में अथवा जिस भंगिमा के साथ भावों को ग्रहण करता है वही मुद्रा या भंगिमा उसकी शैली बन जाती है। शैली भाव की पोशाक नहीं, उसकी त्वचा होती है।" (काव्य की भूमिका पृष्ठ १४३)

शब्द-चयन की महत्ता को वे काव्य के लिए मुक्तकंठ से स्वीकार करते हैं और उसी के द्वारा शैली और भाव के सामंजस्य की उपलब्धि मानते हैं। शब्द-चयन ही कवि-कला की कसौटी है। इस शक्ति के अभाव में कवि की कविता में पदों की असंबद्धता, भावों की अपरिपक्वता, प्रसाद गुण का अभाव, बेधकता की कमी आदि दोषों से कविता दूषित हो जाती है, उसकी प्रेषणीयता मारी जाती है। अतः समालोचक को कवि के शब्द-सामर्थ्य पर विशेष ध्यान रखना चाहिए।

लेकिन दिनकरजी काव्य-समीक्षा में गुण-दोष विवेचन से अधिक जिस बात को लक्ष्य में रखने की सलाह देते हैं वह है—**'कवि चातुरी का भेद खोलना'**।

इसके द्वारा समालोचक पाठक के काव्यानन्द में वृद्धि करता है और उसे काव्य-कृति की गहराई में डूबने का मन्त्र देता है। उन्होंने इसीलिए कहा है—"सच्चे समालोचक की आत्मा सुन्दर कवि की आत्मा होती है और वह बहुधा कवि ही हुआ करता है।" (मिट्टी की ओर पृष्ठ १५४)

२. वाद अथवा युग सम्बन्धी निबन्ध—इस प्रकार के निबन्धों की संख्या अपेक्षाकृत अधिक है। यदि ऐतिहासिक दृष्टिकोण से देखें तो दिनकरजी ने रीतिकाल से लेकर आज तक की ही नहीं वरन् भविष्य में आने वाली कविता की झलक देने का प्रयत्न किया है। इस प्रयत्न में हिन्दी-कविता में समय-समय पर उभरने वाले वादों की गहरी छानबीन करने में दिनकरजी को पर्याप्त सफलता मिली है। उदाहरण के लिए 'रीतिकाल का नया मूल्यांकन" शीर्षक निबन्ध लिया जा सकता है। आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल और उनकी परम्परा के लगभग सभी आलोचक एक स्वर से यह घोषित करते आये हैं कि रीतिकाल हिन्दी काव्य-साहित्य का सर्वाधिक निन्दनीय अध्याय है। लेकिन दिनकरजी ने उस युग की कविता को सहानुभूति की दृष्टि से देखा है और उस युग की परिस्थितियों को उस प्रकार की कविता का उत्तरदायी ठहराया है। उन्हें रीतिकालीन कविता का दोष शृंगारिकता नहीं जान पड़ता क्योंकि वैसा दोष तो विद्यापति और चण्डीदास में भी है। उस युग की कविता का दोष निर्जीवता और नकलीपन माना है। इसके साथ ही कारीगरी की दृष्टि से रीतिकाल की कविता को उन्होंने उच्चकोटि की माना है। उनका कथन है—"रीतिकाल के कवियों ने जीवन को छोड़ दिया किन्तु सजावट और भजावट में वे इतने पटु निकले कि समस्त साहित्य में सबसे अधिक साफ तस्वीरें उन्होंने तैयार कीं। आज आलोचना में चित्रकारी की महिमा सबसे ऊपर मानी जाती है। अगर यही कसौटी हम रीतिकाल पर लगायें तो रीतिकाल हिन्दी का बहुत ही सफल काल माना जायगा।" (काव्य की भूमिका पृष्ठ १०) यह चित्रकारी का गुण जिसे अंग्रेजी में इमेजिस्ट कवियों की विशेषता माना जाता है, दिनकरजी की दृष्टि से रीतिकालीन कवि बिहारी और पद्माकर में सर्वाधिक है।

ध्वनि और संकेत में भी नये युग के पाठक की रुचि है। दिनकरजी ने भी इस दृष्टि से रीतिकाल को बहुत महत्व दिया है—यहाँ तक कि उन्होंने घनानन्द को छायावादी सिद्ध कर दिया है। हिन्दी में पहली बार यह नवीन उद्भावना उन्होंने की है और अध्यापक के रूप में हमने यह बात अनेक बार अपने छात्रों तक पहुँचाई है। निस्संदेह दिनकरजी की यह उद्भावना उनकी अन्तर्दृष्टि की गहराई की द्योतक है। उन्होंने सोदाहरण घनानन्द की कविता को छायावाद के साथ मिलाकर निष्कर्ष निकाला कि अनेक अर्थों में वह रीतिकाल के नहीं, प्रत्युत, छायावाद युग के कवि हैं। (काव्य

की भूमिका पृष्ठ १५) बहुधा छायावाद पर आलोचक रवीन्द्र का प्रभाव मानते हैं परन्तु दिनकरजी की मान्यता के अनुसार "छायावाद के साथ हिन्दी कविता में जो एक नई भंगिमा उत्पन्न हुई उसकी परम्परा हिन्दी में बहुत दिनों से आ रही थी। आशय यह है कि यह विलक्षणता रीतियुग की देन है।"

चित्रमयता और ध्वनि अथवा संकेतात्मकता के साथ सेनापति के प्रकृति वर्णन को भी उन्होंने विशेष महत्व दिया है। इस प्रकार रीतिकाल को उन्होंने तटस्थ दृष्टि से देखकर नये रूप में प्रस्तुत किया है।

'छायावाद की भूमिका' शीर्षक निबन्ध में उन्होंने रीतिकाल एवं छायावाद के काल तक की काव्य-प्रगति को लिया है। रीतिकाल के पश्चात् आने वाले युग में उन्होंने स्वामी दयानन्द के पवित्रतावादी प्रचार को सर्वाधिक महत्वपूर्ण माना है, जिसके कारण कविता की धारा एकदम मुड़ गई। जैसे घनानन्द के स्वच्छन्द प्रेम मे उन्हें छायावाद की कविता के अंकुर दिखाई दिए हैं वैसे ही भारतेन्दु में प्रगतिशीलता का शंखनाद मिला है। उन्होंने कहा है—"देश-भक्त भारतेन्दु की कविता में जो विचार उतरे हैं वे भारत-यूरोप संघर्ष के परिणाम हैं, वे उस नवीन प्रेरणा से उद्भूत विचार हैं कि जब देश अथवा मनुष्यता पर संकट आया हो तब कवि को भी मात्र आनन्द-सृजन को छोड़कर समाजोपयोगी ध्येयों की प्राप्ति में लग जाना चाहिए। शुद्ध कलावादियों की भाषा में कहना चाहें तो कह सकते हैं कि रीतिकाल के बाद की हिन्दी कविता कला की पराजय और जीवन की जय की कविता थी।" (काव्य की भूमिका पृष्ठ २७) भारतेन्दु को उन्होंने 'नये मूल्यों का निर्माता' और 'सच्चे आधुनिक कवि' के रूप में प्रतिष्ठापित किया है और हिन्दी कविता के विशिष्टीकरण का श्रेय एकमात्र उन्हीं को दिया है। (अर्द्धनारीश्वर, पृष्ठ ७०)

द्विवेदीयुगीन कविता को उन्होंने प्रवृत्ति से प्रेरित मानकर गार्हस्थ्य और नारी जाति के सम्मान को बढ़ाने वाली कहा है। सांस्कृतिक नवोत्थान के प्रकाश में उन्होंने इस युग की कविता को शालीनता अथवा मर्यादा की भावना का प्रतीक माना है, जिसमें नारी का कामिनी रूप नहीं, उसका सती-साध्वी रूप महत्ता प्राप्त कर लेता है। लेकिन कल्पना हीनता ने उसे नीरस बना दिया और उसके स्थान पर छायावाद आया, जो दिनकरजी की दृष्टि में रीतिकाल में ही सांस ले रहा था। इस युग की कविता की भी संगति वे अंग्रेजी अथवा रवीन्द्र की कविता से न जोड़कर हिन्दी की स्वभावगत उपज मानते हैं। छायावाद की विशेषता उन्होंने ध्वनि और वेदना-प्रियता नहीं मानी जैसा कि प्रसाद मानते हैं। दिनकरजी के मत से भावुकता, कल्पना और परिचित से दूर जाकर अपरिचित में विचरण करने की प्रवृत्ति छायावाद की मूल विशेषताएँ हैं। इस प्रसंग में उन्होंने रोमांटिसिज्म का बड़ा स्वच्छ विवेचन किया

है। रोमांटिक कवियों में भावुकता का अतिरेक होता है पर होते वे आदर्शवादी हैं जब कि बुद्धिवादी कवि भावों को बुद्धि के नियंत्रण में रखते हैं। छायावाद का बौद्धिक पक्ष था सृष्टि के रहस्यों को जानने की उत्सुकता और उसका रोमांटिक पक्ष था ऊँची से ऊँची सुन्दरता को देखने की कामना या चाह। (काव्य की भूमिका पृष्ठ ३७) द्विवेदी युगीन और छायावाद युगीन कविता का सूक्ष्म अंतर क्या है, यह दिनकरजी के शब्दों में देखिए—"द्विवेदी युग तक की कविता उस भारतीय मानवता की कविता है जो यूरोप से परिचित नहीं थी अथवा यदि थी तो स्वामी दयानन्द के नेतृत्व में वह यूरोप से बचने के प्रयास में थी। किन्तु छायावाद की कविता उस भारतीय मनुष्य की कविता है जिसकी आत्म-रक्षा की चिन्ता दूर हो गई है और जो स्वेच्छया यूरोप के गुणों का प्रसन्नता से वरण कर रहा है।" (काव्य की भूमिका पृष्ठ ३८)

'छायावादोत्तर काल' में उन्होंने प्रगतिवाद को छायावाद के बाद न मानकर उसे प्रगतिशील कहा है। उनकी मान्यता है कि प्रगतिवाद की काल रेखा और उसके अनुयायी कवियों के नाम स्पष्ट नहीं हैं। इस कारण उन्होंने छायावादोत्तर काल नाम देकर उसकी कविता की ये विशेषताएँ मानी हैं—

१. काव्य की भाषा को बोल-चाल की भाषा के निकट लाने का प्रयास। यह प्रयास नैपाली और बच्चन में अत्यन्त प्रखर है किन्तु अन्य कवियों में भी हम 'पल्लव' और 'परिमल' की भाषा से दूर हटने की चेष्टा स्पष्ट देखते हैं।

२. ऐसी अनुभूतियों पर ज़ोर, जो सच्ची हैं, जो केवल कवि तक ही सीमित न रहकर पाठकों के मन को भी आन्दोलित कर सकती हैं। इसीलिए छायावादोत्तर काल के कवियों में रहस्यवादी बनकर बोलने की प्रवृत्ति अत्यन्त अल्प है तथा कविता के मुख्य विषय प्रेम, विरह, प्रकृति तथा समाज और राष्ट्र हो गये हैं।

३. इस युग की तीसरी विशेषता काव्य में प्रसाद गुण की वृद्धि है, जिसे बोलचाल की भाषा में सीधी-सच्ची अनुभूतियाँ चित्रित करने के प्रयास का ही परिणाम कहना चाहिए। (काव्य की भूमिका पृष्ठ ४७)

स्वयं दिनकरजी इसी युग के कवि हैं अतः उन्होंने अपने काव्य-विकास पर भी प्रकाश डाला है और कहा है कि मेरी राह छायावाद और द्विवेदी युग के मिश्रण से तैयार हुई। (वही पृष्ठ ५१)

'प्रयोगवाद' पर विचार करते हुए दिनकरजी ने बड़े मार्के की बातें कही हैं। हम चाहते हैं कि आज विद्वान तो उन्हें पढ़ें ही स्वयं प्रयोगवादी भी उनको पढ़कर लाभ उठावें। उन्होंने कहा है कि जो बुद्धिजीवी ताश या बडमिन्टन खेलकर अपना जी बहला सकते थे वे भी प्रयोगवादी कविताएं लिख रहे हैं, छन्द

छोड़कर चाहे जो लिखने की स्वतन्त्रता का दुरुपयोग करने से कविता की कोई सेवा नहीं होती, केवल प्रेरणा उठने से कविता का जन्म नहीं होता, जिस साहित्य का पढ़ना कठिन है उसकी रचना बड़ी आसानी से की जाती है, इलियट में परम्परा-भंजन का जो नाद है उसे तो हमारे नवयुवकों ने सुना, उनके भीतर परम्परा को जोड़ने वाले जो विचार हैं उन्हें ये कवि पकड़ ही नहीं पाते—आदि के द्वारा उन्होंने प्रयोगवाद की खामियों की ओर संकेत किया है। फिर भी वे प्रयोगवाद को शुद्ध साहित्यिक आन्दोलन मानते हैं जबकि प्रगतिवाद को आन्दोलन नहीं मानते। उनका मत है कि प्रगतिवाद में सचेष्टता थी जो राजनीति का लक्षण है जबकि प्रयोगवाद कला-सम्बन्धी धारणाओं को परिवर्तित करना चाहता है।

प्रयोगवाद की सफलता में उन्होंने भावी कविता की मुक्ति की कल्पना की है। उनका विश्वास है कि जब यह कविता सफल होगी तब कवि-सम्मेलन बन्द हो जायेंगे और कविता के पाठकों की संख्या अपेक्षाकृत कम हो जायगी।

'भविष्य की कविता' (काव्य की भूमिका) और 'कविता का भविष्य' (अर्द्ध-नारीश्वर) दो निबन्ध भी कविता के भावी रूप से सम्बन्ध रखते हैं। उन्होंने कहा है बौद्धिकता और वैज्ञानिक वस्तुवाद ये दो तत्व ऐसे हैं, जो भावी कविता की आधार-शिला होंगे। उनका मत है—"भावी कविता केवल फूलों का मकरन्द ही नहीं, शिलाओं का भी दूध पियेगी। रंगीनियाँ और मकरन्द अगर सामग्री के रूप में आते हैं तो आयें किन्तु भावी काव्य में उनका महत्व नहीं रहना चाहिए, जो छायावादी काव्य या उससे पूर्व वाले काव्यों में था।" (काव्य की भूमिका पृष्ठ ८४) लेकिन विज्ञान से साहित्य की शैली में सुनिश्चितता तो आती है किन्तु उसका आवेशमय प्रभाव क्षीण हो जाता है, यह खतरा है, जो काव्य-प्रेमियों को निराश बनाता है। दिनकरजी इसका आशावादी उत्तर यह देते हैं कि विज्ञान मनुष्य के लिये कितना ही उपयोगी हो, पर जब तक भावों के परिष्कार की आवश्यकता बनी रहेगी, कविता मरेगी नहीं। क्योंकि "शक्तियाँ मनुष्य में ज्ञान और विज्ञान से आती हैं किन्तु उसके मानवीय गुणों का विकास साहित्य और कला से होता है।" (काव्य की भूमिका पृष्ठ ६४) हां, भविष्य की कविता मनुष्य को सोचने को अधिक विवश करेगी। 'प्रयोगवाद' शीर्षक निबन्ध में महर्षि अरविन्द का यह कथन उद्धृत करके भी उन्होंने भावी कविता का रूप स्पष्ट किया है कि "अगले युग की कविता मन्त्र के समान होगी अर्थात् आकार उसका छोटा होगा किन्तु उसका प्रत्येक शब्द पाठक के भीतर अपार अनुभूतियों का द्वार खोलने वाला होगा।" (काव्य की भूमिका, पृष्ठ ६८)

विज्ञान, राजनीति, इतिहास, दर्शन आदि से कविता का अन्तर बताते हुए उसकी महत्ता पर उन्होंने बार-बार बल दिया है। काव्य और कला को जीवन से

विमुख न मान कर उसके उत्कर्ष के साधनों के रूप में उन्हें ग्रहण करना उनके दृष्टि-कोण की विशेषता है। 'तुम घर कब आओगे कवि' निबन्ध इस दृष्टि से पठनीय है। समाजवाद में साहित्य की स्थिति, गांधी और मार्क्स की विचारधारा, स्वतंत्रता के बाद साहित्य की गति आदि कोई ऐसा विषय नहीं जिस पर उन्होंने लिखा न हो। 'हिन्दी कविता और छन्द' (मिट्टी की ओर, पृष्ठ १०३) में उदाहरण सहित छन्दों का जो क्रमिक विकास बताया गया है वह उनके पाण्डित्य का द्योतक है।

३. विशिष्ट कवियों-सम्बन्धी निबन्ध—इस कोटि के निबन्धों के हम दो भाग कर सकते हैं—१. हिन्दीतर कवियों पर लिखित निबन्ध और २. हिन्दी कवियों पर लिखित निबन्ध। पहले प्रकार के निबन्धों में सर्वश्री रवीन्द्र, अरविन्द, इकबाल और जार्ज रसल पर लिखित निबन्धों का समावेश है। दिनकरजी ने इन कवियों की कविता और काव्य-सम्बन्धी दृष्टिकोण का गम्भीर अध्ययन किया है, जिसकी छाप पाठक पर पग-पग पर पड़ती है। हमें ऐसा लगता है कि ये चारों दिनकरजी के अत्यन्त प्रिय कवि हैं। उनसे उनकी कलात्मक दृष्टि का निर्माण हुआ है। उक्त चारों निबन्ध अर्द्धनारीश्वर में संकलित हैं। जिन चार महाकवियों पर दिनकरजी ने लेखनी चलाई है, उनमें से तीन शुद्ध कला के समर्थक हैं और एक कला को संघर्ष की उपज मानता है। रवीन्द्र, अरविन्द और रसल कलावादी हैं; पर इकबाल संघर्ष के विश्वासी। दिनकर जा ने रवीन्द्र की कविता, उनके राष्ट्रीय-अन्तर्राष्ट्रीय स्वरूप, रवीन्द्र की भारतीयता आदि पर तीन निबन्ध लिखे हैं, जिनका निष्कर्ष है—

१. मनुष्य के हृदय में प्रेम को जाग्रत करके उसकी त्वचा और चेतना की जंजीरों को काट कर उसे और व्यापक बनाने के लिये रवि बाबू ने जितना-कुछ लिखा है वही उन्हें मनुष्य का सर्वश्रेष्ठ कवि बनाने को यथेष्ट है। ऋषि-महर्षि कह कर हम उनके काव्य का अनादर करते हैं और इस प्रकार की उपाधियों से उनका आदर भी नहीं बढ़ता। (रवीन्द्र जयन्ती के दिन, पृष्ठ १६१)

२. रवीन्द्रनाथ योरोप का अनुकरण करके महान नहीं हुए, बल्कि समय ने ही उन्हें उत्पन्न किया और समय ने ही उन्हें महत्ता दी। भारत की सनातन आत्मा उस भाषा में अपनी अभिव्यक्ति खोज रही थी, जिस भाषा में अर्वाचीन मनुष्य सोचने और समझने का आदी हो गया था। और इसी आवश्यकता से रवीन्द्रनाथ का प्रादुर्भाव हुआ। ('क्या रवीन्द्रनाथ अभारतीय हैं'—पृष्ठ २०७) वस्तुतः भारत के द्वारा किये गए स्वातंत्र्य-संघर्ष में वे विश्व-मानवता का गान कर सके और देशभक्ति के आसन से भी न गिरे, यह उनकी ऐसी विशेषता है, जिस पर दिनकरजी ने विशेष बल दिया है।

महर्षि अरविन्द और जार्ज रसल पर भी उन्होंने पूर्ण रूपेण मनन करके लिखा है। अरविन्द की कविता पर 'रजत आलोक की कविता' और 'अरविन्द की साहित्य-साधना' दो निबन्ध हैं। अरविन्द द्वारा मनुष्य के व्यक्तित्व में दिव्यता भरने की कल्पना जिस प्रकार की गई है उसका स्पष्टीकरण बहुत सुन्दर हुआ है। अरविन्द की साहित्य-साधना पर विचार करते हुए उन्होंने कविता के तीन सोपान माने हैं—भावुकता, धर्म और विचार। उसी प्रसंग में उनका कहना है—"कवि का काम केवल शब्दों में सौंदर्य को गूँथ कर निर्मल आनन्द की सृष्टि करना है। कविता हमें प्रेरणा-भरी सृष्टि देती है; वह गतिमान जीवन का हमें स्पर्श कराती है और अन्त में वह इस स्पर्श के द्वारा हममें कम्पन और उल्लास भरती है किन्तु यह कम्पन और उल्लास केवल रोम-कूपों में ही नहीं, हमारी आत्मा के गुह्यतम स्तर पर होना चाहिए।" ('अर्द्धनारीश्वर'—महर्षि अरविन्द की साहित्य-साधना, पृष्ठ २२६) इस प्रकार अरविन्द के काव्यादर्श और काव्य-कृतियों पर विस्तार से विचार किया गया है।

जार्ज रसल रहस्यवादी कवि के नाते प्रसिद्ध रहे हैं। कवि, दार्शनिक और चित्रकार तीनों रूपों में प्रसिद्ध इस कलाकार का रहस्यवाद बौद्धिक चिन्तन का रहस्यवाद था, यह दिनकरजी का मत है। इसीलिये वे अन्य रहस्यवादियों से भिन्न थे। दिनकरजी को रसल में भारतीयता के लक्षण मिले हैं क्योंकि उन पर गीता का बहुत प्रभाव था। कला उनके लिए पवित्रता की चरम सृष्टि थी। वे शुद्ध कला-वादी थे। दिनकरजी ने रसल के विचारों से काव्य-समीक्षा में बड़ी प्रेरणा ली है। उदाहरणार्थ कला के सम्बन्ध में रसल का यह मत लीजिए—"कला का काम मनुष्य के भीतरी जगत का विश्लेषण और मनुष्य को उसकी गहराइयों में नीचे ले जाना है।" दिनकरजी ने इसी से कविता की परख में पारदर्शिता के तत्व को महत्व दिया है। इकबाल को इन तीनों से भिन्न उन्होंने संघर्ष और तनाव का कवि माना है—"संघर्ष और निरंतर संघर्ष, सफर और ज़िन्दगी भर का सफर यह इकबाल की कविता से बार-बार ध्वनित होने वाला एक संदेश है।" (अर्द्धनारीश्वर पृष्ठ २८४) वस्तुतः इकबाल सोद्देश्य कला के प्रबल पक्षपाती रहे और उन्होंने कविता को मुस्लिम समाज को उठाने के लिए अस्त्रवत् प्रयोग किया। पाकिस्तान के पीछे इसीलिए उनके साहित्य की प्रेरणा रही। दिनकरजी का यह निबन्ध उनकी सूझ-बूझ का परिचायक है। कदाचित् भारतीय भाषाओं के किसी आलोचक की दृष्टि इस ओर नहीं गई। यह निबन्ध इकबाल की साहित्यिक देन के साथ-साथ हमारी पूरी राजनैतिक कशमकश और साम्प्रदायिकता का बेजोड़ विश्लेषण है।

हिन्दी कवियों में दिनकरजी ने राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त, प्रसाद और पन्त पर तो पूरी एक पुस्तक ही लिखी है। वैसे राष्ट्रकवि पर 'मिट्टी की ओर' में 'खड़ी

बोली का प्रतिनिधि कवि' एक अलग निबन्ध भी है। गुप्तजी को दिनकरजी ने पुनरुत्थान का कवि माना है, जो सत्य भी है। उन्होंने लिखा है—"वे ऐसे कवि हैं, जिनमें भारत की प्राचीन परम्परा अभी तक सर्वाधिक जीवित और चतन्य है तथा दूर से देखने पर वे नवीनता के नहीं, प्राचीनता के प्रतिनिधि मालूम होते हैं।" (पन्त, प्रसाद और मैथिलीशरण, पृष्ठ ८) इस पुस्तक में साकेत, गुप्तजी की नारी भावना, कालदेवता के साथ आदि उपशीर्षकों में गुप्तजी के कृतित्व का बड़ा सूक्ष्म विवेचन हुआ है। 'मिट्टी की ओर' (पृष्ठ १७०) में उन्होंने महाकवि की एक विशेषता यह मानी है कि वह स्वयं काव्य रचने के साथ-साथ अन्य समकालीन कवियों को प्रभावित करता चलता है और इस दृष्टि से गुप्तजी निश्चय ही महाकवि हैं।

इस पुस्तक का सब से अधिक चौंकाने वाला निबन्ध प्रसाद पर है, जिसका शीर्षक है—"कामायनी, दोष-रहित दूषण-सहित।" उन्होंने छायावाद की विशेषताओं के प्रकाश में 'कामायनी' को छायावाद का सम्पूर्ण उदाहरण माना है। लेकिन उसके जिन दोषों की ओर उन्होंने संकेत किया है वे पहली बार इतने स्पष्ट रूप में सामने आये हैं। अनुभूति की अस्पष्टता, व्याकरण के दोष, तुकों की दरिद्रता, भरती के वाक्य-खण्ड आदि का सोदाहरण विवेचन है और जो दोष उन्होंने बताए हैं उनको मानना ही पड़ता है। कामायनी के रहस्यवाद के विवेचन में रहस्य सर्ग की 'कर्म निन्दा' को व्यंग की भाषा में दिनकरजी ने अवांछनीय माना है, यद्यपि यह दोष उनके अति कल्पनावादी होने से आया है। इस निबन्ध से प्रसाद के विषय में अध्ययन के नये सूत्र मिलते हैं, जो आलोचक की पैनी दृष्टि के परिचायक हैं।

'विचारक कवि पन्त' नामक निबन्ध में पन्त का क्रमिक विकास दिखाते हुए उनके आधुनिक रूप का परिचय दिया है। बहुधा आलोचक पन्तजी को अरविंद दर्शन का नकलची मानते हैं पर दिनकरजी ने लिखा है कि "अरविंद ने 'दिव्य जीवन' और 'सावित्री' की रचना इस उद्देश्य से की है कि मनुष्य का भूत-भ्रमित मन अध्यात्मक की ओर मुड़ सके किन्तु पन्तजी ने अरविंद से जो प्रेरणा पाई उसका उपयोग उन्होंने अधिक सुन्दर समाज की कल्पना करने में किया है। असल में मनुष्य के शरीर पर पन्तजी भूतवाद का शासन मानते हैं। उसके मन पर प्राणिवाद का तथा हृदय पर अध्यात्म का। भौतिक शरीर में प्राणिशास्त्रीय (बायलाजीकल) मन और आध्यात्मिक हृदय पन्तजी की कल्पना के मनुष्य के ये तीन लक्षण प्रधान हैं।" (वही पृष्ठ १२१) इस निबन्ध में दिनकरजी ने संस्कृति, काम-भावना और अध्यात्म, नैतिकता, व्यष्टि और समष्टि, आगामी मनुष्य आदि शीर्षकों में पन्तजी के तत्सम्बन्धी विचारों का परिचय दिया है।

इन कवियों के अतिरिक्त सर्वश्री माखनलाल चतुर्वेदी, सियारामशरण गुप्त, कविवर मधुर आदि पर भी उन्होंने लिखा है। इन निबन्धों में दिनकरजी ने विवेच्य

कवियों की काव्यगत विशेषताओं पर विचार किया है। माखनलालजी के व्यक्तित्व के विषय में लिखते हुए उनकी कविता पर उनकी टिप्पणी देखिए—"पण्डित माखनलालजी चतुर्वेदी शरीर से योद्धा, हृदय से प्रेमी, आत्मा से विह्वल भक्त और विचारों से क्रान्तिकारी हैं, किन्तु, साहित्य में उनके व्यक्तित्व के ये चार गुण अलग-अलग प्रतिबिम्बित नहीं होते, साधना की आग में पिघल कर सभी एकाकार हो जाते हैं। उनकी कविताएँ उनके इन चार रूपों की मिश्रित व्यंजना हैं। भक्त और प्रेमी साधारणतः योद्धा और क्रान्तिकारी से कुछ भिन्न होते हैं, किन्तु जब हृदय और आत्मा ने माखनलालजी को कवि बनने पर मजबूर कर दिया तब शरीर और विचार ने भी कवि के सामने अपने मत्थे टेक दिए और चारों धाराएँ मिलकर एक हो गईं।" (मिट्टी की ओर पृष्ठ १७७) उसी प्रकार सियारामशरण गुप्त के विषय में उनका कथन है—"सियारामशरणजी में कला की आराधना कम, विचारों का सेवन अधिक है। उनका उद्देश्य सौंदर्य-सृष्टि नहीं, प्रत्युत, कविता के माध्यम से सत्य का प्रतिपादन है। प्रसन्नता उन्हें इसलिए नहीं होती कि वह सुन्दर सुरों में गाते हैं, प्रत्युत इसलिए कि उनका गान सारयुक्त है। हिन्दी-संसार में उन्हें जो सुयश मिला है वह भी कला-निर्माण के लिए नहीं प्रत्युत विचारों की शुद्धता एवं भावों की पवित्रता के कारण ही।" (वही पृष्ठ १९३) इसी प्रकार सर्वश्री बालमुकुन्द गुप्त और रामसिंहासन सहाय 'मधुर' जैसे अपेक्षाकृत कम प्रसिद्ध कवियों की कविताओं पर भी उनका विवेचन मार्मिक हुआ है। सच तो यह है कि कविता की ऐसी पकड़ हमें अन्य किसी आलोचक अथवा कवि में नहीं मिली। उनके निबन्धों को पढ़ते-पढ़ते हमें यह अनुभव हुआ है कि उनका अध्ययन एक ओर व्यापक है तो दूसरी ओर गम्भीर भी। कवि होने के नाते वे शैली के सूक्ष्म-तन्तुओं को सहज ही स्पर्श कर लेते हैं। जिससे कि उनकी कवि-विशेष की कविता को परखने की क्षमता बढ़ती जाती है। उनमें वैचारिकता एवं भावुकता का विलक्षण संगम है। चाहे रवीन्द्र हों या अरविन्द; इलियट हों या रसल; मैथिलीशरण गुप्त हों या प्रसाद-पन्त; माखनलाल चतुर्वेदी हों या सियारामशरण; उनकी पारदर्शी दृष्टि झट उनकी विशिष्टता पर जा पड़ती है और बेधक-शैली में उनका लेखा-जोखा प्रस्तुत कर देती है। गम्भीर से गम्भीर बात को वे ऐसी सफाई से कहते हैं कि आलोचना में कलाकृति का-सा मज़ा आने लगता है। हमारा अपना विश्वास है कि आधुनिक कविता और उसके मूल स्रोतों पर दिनकरजी की आलोचनाएँ बड़ी मूल्यवान हैं। इस विश्वास के आधार पर ही हम कहते हैं कि आलोचक दिनकर का ओज कवि दिनकर से किसी प्रकार कम नहीं है। सफल कवि का सफल समालोचक होना अपने आप में एक महान आश्चर्य है। लेकिन महान कलाकारों में ऐसी बातें सहज ही मिल जाती हैं। इसलिए हम कवि दिनकर के साथ आलोचक दिनकर की भी वन्दना करते हैं।

—: o :—

'छायावाद : दिनकर की दृष्टि में'

डा० उदयभानु सिंह

छायावाद के विकास पर विचार करते हुए लोग प्रायः कह दिया करते हैं कि द्विवेदी-युग की इतिवृत्तात्मक कविता की प्रतिक्रिया के रूप में छायावादी आंदोलन का प्रादुर्भाव हुआ। दिनकरजी का अभिमत है कि छायावाद किसी एक ही कारण का परिणाम नहीं है। छायावाद के मूल का अनुसंधान करने के लिए और गहराई में उतरना पड़ेगा। छायावादी आन्दोलन "भारत के उस सांस्कृतिक नवोत्थान का परिणाम था जिसका प्रवर्तन राजा राममोहनराय ने किया था और जिसके व्याख्याता केशवचन्द्र सेन, स्वामी विवेकानन्द, स्वामी दयानन्द, श्रीमती एनीबेसेंट, लोकमान्य तिलक और महात्मा गांधी हुए हैं। कविता का यह प्रयास उस नयी मानवता की अभिव्यक्ति का प्रयास था जिसका जन्म भारत-यूरोप-संपर्क से हुआ था और जो अंग्रेजी शिक्षा के कारण स्वाधीनता, उदारता, वैज्ञानिकता और बुद्धिवाद विषयक यूरोपीय विचार-धाराओं की उत्तराधिकारिणी हो गयी थी।" छायावाद-पूर्व युग की कविता यूरोप के प्रभाव से अपरिचित है। वह भारतीय मानवता की कविता है। छायावादी कविता ने प्रसन्नता से स्वेच्छापूर्वक यूरोप के गुणों का ग्रहण किया है। यूरोपीय ज्ञान-विज्ञान के प्रभाव से भारतीय चेतना-जगत् में काफी हलचल मची। कवियों के मन में नयी जिज्ञासाओं का उन्मेष हुआ, नवीन सौन्दर्य के दर्शन की लालसा उठी, अपरिचित कल्पना-लोक में पदन्यास करने का उत्साह उमड़ा, रूढिबद्ध शास्त्रानुशासन की शृंखलाओं को तोड़ देने की बलवती प्रवृत्ति जागृत हुई। परिणाम-स्वरूप छायावाद का आविर्भाव हुआ। H81|K21D GH3608

किसी-किसी के मतानुसार कविवर रवीन्द्रनाथ ठाकुर हिन्दी के छायावादी आन्दोलन के प्रेरणा-स्रोत हैं। दिनकरजी उनसे सहमत नहीं हैं। दिनकरजी की मान्यता है कि हिन्दी का छायावादी आन्दोलन हिन्दी-कविता का स्वाभाविक विकास है। रीति-काल में ही छायावादी प्रवृत्तियों का बीजारोपण हो चुका था। घनानन्द, बोधा आदि कवियों की स्वच्छन्दतावादी कविताओं में छायावाद की विशेषताएँ देखी जा सकती हैं। यदि घनानन्द खड़ी बोली में लिखते तो वे निश्चय ही छायावाद के पूर्वपुरुष मान लिये जाते। कविता के विकास की धारा आगे बढ़ती रही है। भारतेन्दु, श्रीधर पाठक, जगमोहनसिंह, मैथिलीशरण गुप्त, रामनरेश त्रिपाठी आदि में परिवर्तन

की प्रक्रिया द्रष्टव्य है। यह प्रक्रिया तीव्र नहीं है। अतएव आलोचकों का ध्यान आकृष्ट नहीं करती। प्रसाद आदि ने इस आन्दोलन को त्वरा प्रदान की। यह बात ध्यान देने योग्य है कि छायावाद के प्रतिष्ठित कवि जयशंकर प्रसाद, और अपनी रचनाओं में छायावादी अभिव्यंजना-शैली को गौरव देने वाले माखनलाल चतुर्वेदी पर रवीन्द्रनाथ का कोई प्रभाव नहीं है। छायावाद की प्रसिद्ध कवयित्री महादेवी वर्मा भी रवीन्द्र के प्रभाव से मुक्त हैं। केवल निराला और पंत पर रवीन्द्र का प्रभाव पड़ा है।

रीतिकालीन कवियों की दृष्टि नारी के अंगों पर विशेष रूप से केन्द्रित थी। द्विवेदी-युग सुधारवादी युग था। उस युग के कवियों ने नारी के प्रति सम्मान व्यक्त किया। उन्होंने काम-भावना का दमन किया। वीरांगनाओं तथा सती-साध्वी नारियों के चित्रण पर ध्यान दिया। कामिनी-रूप की उपेक्षा की। इस प्रसंग में यह बात अवेक्षणीय है कि कामिनी कलाओं का केन्द्र रही है और आज भी है। ऐसा प्रतीत होता है कि नारी-आराधना के फलस्वरूप ही कलाओं में स्त्रैण कोमलता पायी जाती है। द्विवेदी-युग के कवियों ने कला को उपदेश का माध्यम बनाया। उनका यह सुधारवादी दृष्टिकोण कल्पना प्रेमी रसिकजनों के लिए अग्राह्य था। लोकरुचि का आग्रह हुआ कि हिन्दी-कविता स्थूल इतिवृत्तात्मकता को छोड़कर सूक्ष्म कल्पना-सृष्टि के द्वारा काव्यप्रेमियों को लोकोत्तर भावभूमि पर ले चले। इसके लिए समुचित साहस की अपेक्षा थी। 'विजयिनी', 'स्तन' आदि रचनाओं से सिद्ध है कि रवीन्द्रनाथ में कलाकारों का नैसर्गिक साहस विद्यमान था। द्विवेदी-युग के कवियों की यौन-वासना या नारी-भावना दमित है। छायावादी कवि इस दिशा में स्वच्छन्द अभिव्यंजना की ओर अवश्य प्रवृत्त हुए किन्तु उनकी अभिव्यक्ति भी कुण्ठित-सी है। यही कारण है कि साक्षात् नारी के बदले 'जुही की कली' आदि का चित्रण किया गया। कभी-कभी तो कवियों ने वासना के विषय में सफाई पेश करने की आवश्यकता का भी अनुभव किया।

प्रसादजी ने प्रतिपादित किया है कि वस्तुओं के आंतरिक रूप का वर्णन, वेदना के आधार पर स्वानुभूतिमयी अभिव्यक्ति और प्रतीयमानता छायावाद की प्रमुख विशेषताएँ हैं। दिनकरजी की दृष्टि में ये छायावाद के व्यावर्तक धर्म नहीं हैं। उनका कथन है कि प्रत्येक सुन्दर कविता में आन्तरिकता का स्पर्श होता है; प्रतीयमानता प्रत्येक उत्कृष्ट काव्य की विशेषता है और सभी विरहवर्णनों में वेदना-प्रियता पायी जाती है। छायावाद की उत्तम रचनाओं में इन विशेषताओं का अस्तित्व असंदिग्ध है; परन्तु, छायावाद के लक्षण-निरूपण के लिए ये विशेषताएँ पर्याप्त नहीं हैं। छायावाद की वास्तविक विशेषताएँ हैं—भावुकता और कल्पना की अतिशयता तथा परिचित से दूर जाकर अपरिचित में विचरण करने का मोह।

भावुकता के विषय में यह स्मरण रखना चाहिए कि वह कवित्व एवं भावकत्व की आवश्यक शर्त है।

मनुष्य के भीतर दो प्रकार की शक्तियाँ काम करती हैं—बौद्धिक शक्ति और रागात्मक शक्ति। जो मनुष्य सुसंस्कृत और विवेकशील होता है वह भावों को नियंत्रित और संतुलित रखता है। जो व्यक्ति बुद्धि की अपेक्षा भावना के अधीन रहता है उसे 'रोमांटिक' कहते हैं। रोमांटिक मनःस्थिति का निर्माण तीव्र चेतना से होता है। यथार्थ से दूर कल्पना की प्रखरता के कारण रोमांटिक कवियों को पलायनवादी कहा गया है। "जो अव्यावहारिक है, जो अपने आप पर नियंत्रण नहीं रख सकता, जिसका बुद्धि-पक्ष उसके भावुकता-पक्ष से दुर्बल और क्षीण है तथा जो सामान्य तर्क-बुद्धि का अनादर करके भावनाओं के प्रवाह में बह जाता है, उसे हिन्दी में लोग, एक समय, छायावादी कहा करते थे और अंग्रेजी में भी यदि ऐसे व्यक्तियों को रोमांटिक कहा जाय तो इस शब्द का बहुत गलत प्रयोग नहीं होगा।" जीवन के प्रति रोमांटिक दृष्टिकोण रखने वाले विचारक की मान्यता है कि मानव में नूतन सृष्टि-रचना की शक्ति है; उसे अपनी शक्ति के विकास और अपनी इच्छा की अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता मिलनी चाहिए। रोमांटिक कवि स्वभावतः आदर्शवादी होता है। रोमांटिसिज्म कविता का सर्वाधिक काव्यात्मक तत्व है; शर्त यह है कि कवि बहक न जाए, भावनाओं पर अपेक्षित संयम करे।

पूर्वोक्त रागात्मक और बौद्धिक दृष्टि से, छायावादी आन्दोलन में दो विशिष्ट प्रवृत्तियाँ दृष्टिगोचर होती हैं। रागात्मक दृष्टिकोण से, हम देखते हैं कि छायावादी कवियों में ऊँची से ऊँची सुन्दरता को देखने की चाह है। उनका यह दृष्टिकोण कवि धर्म के सर्वथा उपयुक्त है। कविता का उद्देश्य सौन्दर्य-सृष्टि है। ज्ञान का विस्तार अथवा समाज का सुधार कविता का लक्ष्य नहीं है। कवि के लिए ये सब बातें गौण हैं। छायावादी कवियों ने अछूते सौंदर्य और मादक नवीनता की खोज की। काल्पनिक जगत् की रचना में उन्हें यथेष्ट सफलता मिली। 'लायी हूँ फूलों का हास' (पंत) आदि इसी प्रकार की श्रेष्ठ रचनाएँ हैं। "छायावाद ने काव्य-सम्बन्धी जिस धारणा को सबसे अधिक पुष्ट किया वह यह मानी जायगी कि कविता स्वप्न है, कविता परियों की कहानी है, कविता रहस्य की वाणी है, कविता परिचित विश्व से बहुत दूर निकल जाने वाले कवि की आवाज है।"

बौद्धिक दृष्टिकोण से हम देखते हैं कि छायावादी कवियों में सृष्टि के रहस्य को समझने की उत्सुकता या जिज्ञासा है। रोमांटिक कवि दर्शन के समीप पहुँच कर रहस्यवादी हो जाता है। छायावादी कवियों की रहस्यभावना भी बौद्धिक जिज्ञासा का परिणाम है। प्राचीन कवियों की तुलना में यह तथ्य अवेक्षणीय है कि ये छाया-

वादी कवि कबीर, जायसी, मीराँ आदि की भांति रहस्यवादी नहीं है। इसका कारण यह है कि इन कवियों में उन कवियों की भाँति परोक्ष सत्ता के साथ तादात्म्य की भावना नहीं है। दूसरे शब्दों में, इनकी अभिव्यक्ति साधना-जन्य न होकर कल्पना-विलास है। छायावादी कविताओं में रहस्यवाद की व्यंजना दो रूपों में हुई है। कहीं पर प्रकृति के दृश्यमान रूप का अचरज की भाषा में व्याख्यान किया गया है और कहीं पर प्रकृति के इस दृश्यमान रूप के परे जो अदृश्य-अगोचर सत्ता है उसके रहस्य की अभिव्यक्ति की गई है। सामान्यतः सभी छायावादी कवियों ने परम्परा-प्रथित बात को दुहरा कर ही संतोष कर लिया है। वेदांती कहते आये हैं कि यह मायामय जगत् ब्रह्म का प्रसार है, यह दृश्य जगत् अज्ञात-अनिर्वचनीय चेतन-शक्ति से व्याप्त है। यही बात छायावाद में अनेक प्रकार से दुहरायी गई है। इन कवियों में अनुभूति की नवीनता नहीं है। रहस्यवाद के विकास में इनका कोई योगदान नहीं है। परन्तु, इस कमी के कारण इन्हें निंदनीय नहीं ठहराया जा सकता। रहस्यवाद के क्षेत्र में केवल साधक जनों को ही सफलता प्राप्त होती है। ये कवि साधक नहीं हैं। इनका गौरव इस बात में है कि इन्होंने अदृष्ट-अगोचर सत्ता को समझने की चेष्टा की।

छायावादी कवियों की बौद्धिक शक्ति का सर्वाधिक परिचय भाषा और छन्दों के प्रयोग में मिला। उन्होंने नये छन्दों का रमणीय विधान किया; नवीन शब्दों का चयन करके व्यंजना को शक्तिमती बनाया; विभिन्न प्रकार के अभिनव प्रयोगों द्वारा भाषा का नूतन शृंगार किया। आधुनिक हिन्दी-काव्य को छायावाद की सबसे बड़ी देन है—कर्कश खड़ीबोली का कोमलीकरण। छायावादी कवियों की मधुर कोमल-कान्त पदावली ने यह सिद्ध कर दिया कि खड़ीबोली में भी मधुर और कोमल भावों की अभिव्यंजना की असाधारण शक्ति है। दिनकरजी पर भी इसका विशेष प्रभाव पड़ा है—यह बात उन्होंने निस्संकोच भाव से स्वीकार की है।

छायावादी काव्य-सृष्टि प्रगीतों की सृष्टि है। छायावादी आन्दोलन प्रगीतों का ही आन्दोलन था। प्रगीत काव्य का निचुड़ा हुआ रस है। उसमें उत्पादन की विचित्र शक्ति है। छायावादी कवियों ने बहुत से अद्भुत और अमर गीतों की रचना की। उन्होंने गीतों की विशाल भूमि का द्वार उन्मुक्त किया। उनकी अभिव्यंजन शैली ने राष्ट्रीय गीतों को भी प्रभावित किया। माखनलाल चतुर्वेदी, सुभद्रा-कुमारी चौहान, बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' आदि के गीतों पर यह प्रभाव स्पष्ट है। इसका सुपरिणाम यह हुआ कि गीतकारों ने उपदेश और प्रवचन के स्थान पर अनुभूतियों के जीवन्त चित्र अंकित किये।

छायावादी कवियों की दुरूहता और अतिशय भावुकता ने उन्हें जनता तक पहुँचने नहीं दिया। छायावाद की वे ही रचनाएँ सफल और समादृत हुई हैं जिनमें

अभिव्यक्ति की स्वच्छता और सुस्पष्टता है ; जिनमें क्लासिक शक्ति के सहारे पूर्वापर सम्बन्धों का सम्यक् निर्वाह किया गया है। उदाहरण के लिए—महादेवी की 'नीरजा' के गीत, पंत की 'नौका-विहार', 'एक तारा' आदि तथा निराला की 'सरोज-स्मृति', 'शिवाजी का पत्र' आदि रचनाएँ उल्लेखनीय हैं। जो कविताएँ भावुकता के अंधे तूफान में लिखी गयीं वे काल-कवलित हो गयीं।

छायावाद में अपेक्षित संतुलन का अभाव रहा। अतिशय भावुक कवि भावना के तीव्र प्रवाह में बह गये। उन्हें दूसरों की अनुभूति का ज्ञान या ध्यान नहीं रहा। वैयक्तिकता के मोह में उनकी प्रतिभा अवरुद्ध रही। सुशिक्षित जनता के बीच छायावादी कविताओं का विशेष प्रचार नहीं हुआ। छायावादी आन्दोलन के जीवन-काल में भी छायावादी रचनाओं को पढ़ने की उत्सुकता छात्रों के एक अल्प भाग तक ही सीमित थी। यदि छायावादी रचनाएँ विभिन्न पाठ्यक्रमों से निकाल दी जाएँ तो उनकी तथाकथित लोकप्रियता समाप्त हो जाएगी। खड़ीबोली के कवियों में केवल मैथिलीशरण ही ऐसे कवि हैं जिन्हें जनता पढ़ना चाहती है, जिनकी पुस्तकों का जनता में प्रचार है। साधारण कृतियों की बात तो दूर रही, 'कामायनी' पढ़कर निकलने वाले छात्र भी उसे पुनः पढ़ने की कामना नहीं करते। संपूर्ण छायावाद-युग की श्रेष्ठतम कृति 'राम की शक्तिपूजा' है। छायावाद के अग्रणी कवि की रचना होने पर भी यह छायावाद की कृति नहीं है।

प्रगतिवादी आलोचकों ने छायावाद पर सबसे बड़ा आक्षेप यह किया कि छायावाद पलायनवाद है। दिनकरजी का मत है कि उन्होंने छायावाद की असली कमजोरी को नहीं समझा। छायावादी कवियों को पलायनवादी कहने का तात्पर्य यह है कि उन्होंने समाज की वस्तुतः समस्याओं की उपेक्षा की, कल्पना के एकान्त लोक में विहार किया। यह कविता का भावपक्ष है। किसी भी कवि या आलोचक को भावों की सीमा निर्धारित करने का अधिकार नहीं है। कविता वस्तुतः कला है। अतः उसकी आलोचना करते समय भावपक्ष में उलझ जाना आलोचक के कर्त्तव्य की अवहेलना है। सत्समालोचक को परिश्रमपूर्वक यह देखना चाहिए कि कवि को अपने प्रतिपाद्य विषय का सम्यक् ज्ञान था या नहीं और यदि था तो उस भाव को उसने पूरी समर्थता के साथ व्यक्त किया या नहीं। यदि हम इस कसौटी पर छायावादी कवियों की परीक्षा करें तो देखेंगे कि उनमें बौद्धिक विदग्धता और सफल अभिव्यंजना के लिए अपेक्षित साधना-शक्ति की कमी है। छायावादी कवियों की वास्तविक दुर्बलता इस बात में है कि वे अपनी प्रेरणा को ठीक से पहचानने में असमर्थ रहे। उनकी इससे भी बड़ी असमर्थता यह थी कि अनुभूति और प्रेरणा का जो स्वरूप उनकी समझ में आया भी उसे वे अधिकारपूर्वक पूरी विदग्धता से उपस्थापित नहीं कर सके।

—: ७ :—

'प्रयोगवाद' : दिनकर की दृष्टि में

श्री अजितकुमार

कुछ समय पहले तक यह समझा जाता था कि असफल कवि आलोचक हो जाते हैं लेकिन इधर ऐसा देखा गया है कि सफल कवि आलोचना के क्षेत्र में और भी सफल हुए हैं। इस तथ्य के उदाहरण प्रायः सभी भाषाओं के साहित्य में मिल सकते हैं और हिन्दी में भी इनकी कमी नहीं है। कहना कठिन है कि यह प्रवृत्ति पेशेवर आलोचकों के गतिरोध का कारण है अथवा परिणाम या दोनों; पर इतना निस्संकोच कहा जा सकता है कि अनेक रचनात्मक साहित्यकारों ने विशेषकर अपनी-अपनी साहित्यिक विधा के प्रति आलोचक-समाज की जागरूक प्रतिक्रियाओं के लिए बहुत समय तक प्रतीक्षा करने के बाद अब वह दायित्व स्वयं अपने ऊपर ले लिया है। फलतः आलोचना के तमाम भेद-प्रभेदों में एक और आ जुड़ा है, जिसे किसी अन्य उपयुक्त नाम के अभाव में हम स्रष्टागत अथवा कविकृत आलोचना कह सकते हैं। इस आलोचना का प्रमुख उद्देश्य रहता है—रचनात्मक लेखक द्वारा, प्रायः अपनी रचनाओं के प्रकाश में, सम्पूर्ण साहित्य का अवलोकन। संतोष की बात यह है कि सफल अथवा असफल रचनाकारों के सृजनात्मक साहित्य में जितनी प्रतिभा के दर्शन होते हैं, उतनी या उससे कुछ अधिक ही रहती है ऐसे चिन्तन-प्रयासों में। और यदि यह प्रवृत्ति कुछ और बढ़ी तो कौन जाने, हमें पहले वाले सूत्र को समय-असिद्ध मानकर यह सूत्र बनाना पड़े कि अब असफल आलोचक कवि हो जाता है। अस्तु।

कविवर दिनकर ने 'चक्रवाल' नामक अपने काव्य की वृहद् चयनिका की लम्बी भूमिका में हिन्दी कविता में विभिन्न कालों पर अपने विचार प्रकट करते हुए 'प्रयोगवाद' का भी स्मरण किया है। दिनकरजी कवि और विचारक दोनों ही रूपों में प्रसिद्ध हैं, अतः इस विशिष्ट काव्यधारा के विषय में उनकी सम्मति को जानना उनकी कविता के और तथाकथित 'प्रयोगवादी' कविता के पाठकों के लिए लाभकारी होगा।

उक्त भूमिका में दिनकरजी ने अपनी वह सम्मति भी उद्धृत की है, जो उन्होंने 'तार सप्तक' की चर्चा करते हुए, दस वर्ष पहले दी थी : "ये उन सभी कविताओं से भिन्न हैं, जिन्हें देखने-सुनने के हम अब तक आदी रहे हैं। इनका कवि

जान-बूझकर काव्य के साधारण नियमों को भी भूल गया है···इनकी पृष्ठभूमि में जो कुछ दीखता है, वह निर्जन और विषण्ण है।'

इसी प्रसंग में उन्होंने लिखा था कि "शायद आने वाले युग की कविता इनमें अपनी ट्रेनिंग पा रही है।" पर, दस वर्ष बाद भी उनका विचार यही है कि "नई कविता की ट्रेनिंग अभी खत्म नहीं हुई है और उसके निश्चित भूमि में पहुँचने में अभी और कुछ देर है।"

दिनकरजी का कथन है कि "यह आन्दोलन अपनी किशोरावस्था को पार कर चुका है किन्तु तब भी इसका सही तो क्या, आनुपातिक मूल्यांकन भी अभी नहीं हो पाया है।·····इस आन्दोलन की मुख्य प्रवृत्तियों को पहचानने में सबसे बड़ी बाधा यह है कि प्रयोगवाद का गढ़ आगे-पीछे, ऊपर-नीचे सर्वत्र नक्कालों से भर गया है।"

कवियों की बाढ़ छायावादी आन्दोलन के समय भी आ गई थी, पर उस समय "निरी बकवास करने के लिए भी कवियों को छन्द में लिखना पड़ता था" और "उनकी रचना सबके लिए सुगम नहीं होती।" पर आज के "युवकों ने यह शिक्षा निकाली कि छन्द अब कविता के लिए किंचित् भी अनिवार्य न रहे। परिणाम यह हुआ कि···आज वे सभी लोग हिन्दी में कविता कर रहे हैं, जिनके पास करने योग्य और कोई काम नहीं है।"

इस निर्णय के कुछ थोड़े से अपवाद होंगे, पर दिनकरजी इस कविता की सफलता का एक भी प्रमाण खोजने की अपेक्षा यह कहीं आसान पाते हैं कि उसकी विफलता के एक हज़ार प्रमाण तुरन्त एकत्र कर दिए जायें।

वह इस आन्दोलन को बहुत कुछ 'इमेजिस्ट' आन्दोलन के समान मानते हैं। इसका एक कारण यह है कि 'इमेजिस्ट' सम्प्रदाय के हज़ार से भी अधिक कवियों में केवल दस-बारह ही ऐसे निकले, जिनकी कविताएँ तो नहीं, हाँ, यदा-कदा साहित्य में नामोल्लेख चलता है। 'अंग्रेज़ी में जब यह आन्दोलन चल रहा था, तब उसके समर्थक और उन्नायक भी उक्त आन्दोलन के आलोचकों पर उसी प्रकार टूटते थे, जैसे आज हिन्दी में टूट रहे हैं और अंग्रेज़ी में भी, कविगण कविताओं के द्वारा जनता के हृदय को न जीतकर उसे बुद्धि द्वारा गद्य में ही पराजित करना चाहते थे। किन्तु जनता के हाथ में तो ब्रह्मास्त्र होता है। उसने इन कविताओं को खरीदा ही नहीं।"

दिनकरजी द्वारा वर्णित यह स्थिति और भी मार्मिक जान पड़ती है, जब वे यह बताते हैं कि प्रयोगवाद के नाम पर प्रतिदिन मनों कविताएँ छप रही हैं।

वे छन्दों के त्याग को नई कविता का उतना बड़ा दोष नहीं मानते, जितना

कि नए कवियों के इस आग्रह को कि छन्द छोड़ने पर जो भी लिखो, वह काव्य हो जाता है। मुक्त छन्द का आरम्भ तो निरालाजी और प्रसादजी ने किया था और वह प्रयोगवादियों की सृष्टि नहीं है। युवकगण मुक्त छन्द की ओर इसलिए दौड़ते हैं कि उसमें स्वतन्त्रता की थोड़ी झांकी रहती है और इसलिए भी कि परम्परागत शैली में जो जकड़बन्दी आ गई है, उसे युवकों की चेतना बर्दाश्त नहीं कर सकती। "किन्तु प्रयोगवाद के नाम पर असंख्य कवियों ने इस स्वतन्त्रता का दुरुपयोग किया है। परिणाम यह है कि उनकी जो कविताएँ छपती हैं, वे कविताएँ नहीं, असमर्थ गद्य हैं।"

इन कविताओं को अपठनीय मानकर, दिनकरजी कहते हैं, "जिस साहित्य का पढ़ना कठिन है, सामान्य नियम यही है कि उसकी रचना बड़ी आसानी से की जाती है। अधिकांश प्रयोगवादियों पर हमारा आक्षेप है कि वे अपनी मेहनत बचाकर पाठकों की कठिनाई बढ़ा रहे हैं। उदाहरण के लिए, प्रयोगवाद के जो अच्छे कवि हैं, उनमें भी यह दोष हैं कि वे पूर्वापर संबन्धों के निर्वाह पर ध्यान नहीं देते अथवा कविता कहते-कहते अचानक वे ऐसी बात बोल उठते हैं, जिससे पहले के भावों का कोई सम्बन्ध नहीं दीखता।...ऐसी कविताएँ पाठकों की कल्पना के भरोसे रची तो जाती हैं, किन्तु, वे कल्पना को जगाने तो क्या, उसे छेड़ने में भी असमर्थ होती हैं।"

इसका कारण दिनकरजी यह समझते हैं कि ये कवि कविता लिखने की तैयारी मात्र करते हैं, कविता नहीं लिखते। निदान "प्रयोगवादियों के बीच ज्यादा शोर तो इसी बात का सुनायी देता है कि पुरानी कविता पुरानी हो गई, नई कविताएँ अब हम लेकर आ रहे हैं और हमारे साथ साहित्य में एक नया युग प्रवेश कर रहा है।" इलियट में परम्परा-मंजन का जो नाद है, उसे तो ये नवयुवक सुनते हैं, पर उनके भीतर परम्परा को जोड़ने वाले जो विचार हैं, उन्हें ही ये कवि पकड़ नहीं पाते।

यों तो सारा साहित्य सातत्य का अविच्छिन्न प्रवाह है और इलियट ने भी लिखा है कि वर्तमान की चेतना वस्तुतः अतीत का ज्ञान है, इसलिये प्रत्येक युग को अपना कुआं आप खोदना पड़ता है, चाहे वह छिछला ही क्यों न हो। किन्तु दिनकरजी का अनुमान है कि "हमारे नये कवि साधनापूर्वक अपने युग का कुआं खोदने में निरत नहीं रहकर, बार-बार यह घोषणा करने में अपना समय बर्बाद कर रहे हैं कि हमारा कुआं पहले के कुओं के समान नहीं होगा।"

लेक्चरों और बहुसंख्यक रचनाओं के द्वारा इस प्रकार का प्रचार करके, प्रयोगवादी कवि, दिनकरजी के अनुसार हिन्दी में अब तक के सभी श्रेष्ठ कवियों के लक्षणों

—लय, छन्द, पूरे-पूरे वाक्यों—को त्याज्य समझते हैं और पाठकों को चौंका देना चाहते हैं। "भले ही चौंक उठने के बाद उनके भीतर हास्य के अनुभाव उत्पन्न हों, कविता चाहे किसी भी रस की हो।"

उपर्युक्त विवेचन के अनंतर दिनकरजी ने कहा है कि प्रयोगवादी कविता में ये लक्षण अधिकतर उन्हीं कवियों में मिलते हैं, जो बाढ़ के साथ बहकर आए हैं और जो बाढ़ उतरने के बाद इस कविता की खाद बनेंगे। पर इस विचिकित्सा को वे व्यर्थ समझते हैं कि बाढ़ के उतरने के बाद कौन लोग बचने वाले हैं? उन्होंने नए आन्दोलन से जो आशा लगाई है, "वह व्यक्तियों को देखकर नहीं, प्रत्युत इस भाव से कि यह आन्दोलन शुद्ध साहित्यिक आन्दोलन है।"

दिनकरजी को यह अनुमान अशुद्ध ज्ञात होता है कि प्रयोगवाद को छायावाद और रहस्यवाद की असमर्थता ने जन्म दिया। उनके विचार से, प्रयोगवाद छायावादोत्तर काल, अथवा स्पष्टतः, प्रगतिवादी आन्दोलन के विरुद्ध प्रतिक्रिया स्वरूप उत्पन्न हुआ है। "प्रगतिवाद और प्रयोगवाद दो भिन्न-भिन्न आन्दोलन हैं।...प्रगतिवाद साहित्यिक आन्दोलन नहीं था किन्तु प्रयोगवाद...शुद्ध साहित्यिक आन्दोलन है, कला का आन्दोलन है।...इसका मुख्य ध्येय अनुभूति और अभिव्यक्ति दोनों को स्वच्छ बनाना है।"

प्रयोगवाद के जन्म की सहज प्रक्रिया का वर्णन कविवर दिनकर इस प्रकार करते हैं कि जब अनेक कवियों और आलोचकों ने साहित्य में विचारों को अत्यधिक प्रमुखता देकर उसके शैली-पक्ष को गौण कर दिया, तब कुछ नवयुवक साहित्य के शैली या कला-पक्ष को ऊपर उठाने को आगे बढ़े। उनके इस सदुद्योग में बहुत-से ऐसे लोग भी साथ हो गए, जो अपने को प्रगतिवादी कहते थे अथवा जो मार्क्सवादी राजनीति के साथ थे। किन्तु आन्दोलन जैसे-जैसे आगे बढ़ा, बातें सुस्पष्ट होती गईं। यहाँ तक कि आज यह स्थिति है कि यद्यपि नयी शैली में लिखने वाले कितने ही कवि विचारों से मार्क्सवादी हैं, किन्तु प्रयोगवाद और प्रगतिवाद के बीच का भेद, फिर भी, काफी प्रत्यक्ष हो गया है।

दिनकरजी प्रयोगवाद की सफलता प्रेरणा के साथ बहने में नहीं, उसे विचारों के अधीन रखकर काम करने में मानते हैं। उनका विचार है कि नये कवि मुख्यतः चि तक कवि होंगे, किन्तु कल्पना को वे छोड़ नहीं सकते, क्योंकि उनका सारा चिंतन कल्पनामय होगा। "इसलिए मेरा विचार है कि प्रयोगवाद हिन्दी कविता को जिस ओर जाने का संकेत दे रहा है, वह काव्य मात्र की सबसे श्रेष्ठ दिशा है और इसी लिए प्रयोग की साधना भी ऐसी साधना है जिससे अधिक कठोर साधना की कल्पना नहीं की जा सकती। न जाने यह साधना कितने कवियों का बलिदान लेगी।"

कविवर का मंतव्य है कि यदि यह प्रयोग सफल हुआ तो कविता उस ऊँचाई या गहराई में पहुँचने वाली है, जहाँ वह पहले कभी नहीं पहुँची थी। कविता को अपनी खोई प्रतिष्ठा को यदि फिर से प्राप्त करना है तो उसकी राह वही है जिस पर प्रयोगवादी चल रहे हैं।"

इन निष्कर्षों पर पहुँचकर दिनकर जी ने बताया है कि इन्हीं सब बातों का ख्याल करके उन्होंने अपना 'नील कुसुम' प्रयोगवादी कवियों को समर्पित किया था और यह भी कि 'नील कुसुम' की पाँच-सात कविताओं में प्रयोग है। इस प्रयोग का मुख्य बिन्दु यह है कि प्रचलित कविता अपने रोमांटिक रुझान के कारण यथेष्ट नहीं है। "इस संग्रह की विशिष्टता उन कविताओं में देखी जा सकती है, जिनका छन्द गद्य की भंगिमा लिए हुए है तथा जिनकी भाषा बिल्कुल साधारण बोलचाल की है।"

प्रयोगवादी कविता के संदर्भ में, अन्त में, वे कहते हैं : 'मुझे ऐसा लगता है कि कविता में महान परिवर्तन होने जा रहा है.....और यह बात मैं इसलिए नहीं कहता कि अपने चारों ओर मुझे जो कोलाहल सुनाई देता है, मैं उसके प्रभाव में हूँ। सच तो यह है कि आगामी कविता की दूरागत पदचाप मुझे अपनी ही रचनाओं के भीतर सुनाई पड़ी है।"

'चक्रवाल' की पूर्वोक्त भूमिका के शेष भाग में दिनकरजी ने इसी आगामी कविता के स्वरूप पर विचार-विमर्श किया है और चूँकि वह कविता अभी भविष्य के गर्भ में है और कवि ने ठीक-ठीक संकेत नहीं किया है कि वह दिनकरवादी होगी या अरविन्दवादी, सुस्थितावादी होगी या कर्कशतावादी, विचारवादी होगी या प्रातिभ विस्फोटवादी, अथवा सर्व-समन्वयवादी—इसलिए प्रस्तुत विचार-संकलन की परिधि से उसे बाहर रखना ही ठीक रहेगा।

जहाँ तक हिन्दी की नयी कविता का प्रश्न है, एक विचारक और कवि होने के नाते दिनकरजी बधाई के पात्र हैं कि उन्होंने ईमानदारी के साथ उसे समझने का यत्न किया है। यदि नयी कविता अपनी कमी और शक्ति से स्वयं भली-भांति परिचित न होती तो शायद यह भी कहा जा सकता था कि दिनकरजी उसकी ओर ध्यान देने-दिलाने के लिए धन्यवाद के पात्र हैं। पर इसकी आवश्यकता नहीं है क्योंकि ऐसा समझा जाता है कि "किशोरावस्था को पारकर" वह इतनी प्रौढ़ हो चुकी है कि किसी के भी द्वारा लतियाई अथवा पुचकारी जाने पर निरुद्विग्न रह सके और प्रत्युत्तर में उसके मुख पर जो मुद्रा झलके, वह हो केवल एक शालीन और निश्छल मुस्कान की।

नयी कविता के विषय में दिनकरजी के विचारों के संदर्भ में उक्त प्रतिक्रिया और भी स्वाभाविक लगती है क्योंकि ये विचार एक सीमा तक भ्रामक और असंगत

हैं। साहित्य का अलग-अलग कठघरों में बाँटने और साहित्यिक अध्ययन को अति-सरलीकृत बनाने के मोह में पड़कर ही कदाचित् दिनकरजी जैसे सुधी विद्वान ने भी इस काव्यधारा को एक 'वाद' की सीमा में बाँध दिया है और उसे किसी दूसरे 'वाद' की प्रतिक्रिया एवं विरोधिनी बताया है। परिणाम यह हुआ है कि एक कच्ची नींव पर जो महल खड़ा किया गया है, वह कहीं तो पोला और कहीं टेढ़ा रह गया है।

नयी कविता की ऐतिहासिक आवश्यकता और उसकी मूलभूत अवधारणा (कनसेप्ट) को दिनकरजी ने एक प्रमुख छायावादोत्तरकालीन कवि की दृष्टि से देखा है और यद्यपि इस दृष्टि में कोई दुराग्रह नहीं है, परन्तु पूर्वाग्रह से—अनिवार्यतः न बच सकने के कारण वह इस आन्दोलन को उसके समुचित परिप्रेक्ष्य में नहीं देख सके हैं। फलतः नयी कविता की आवश्यकता और अवधारणा, बेहतर हो कि कहें आध्यात्मिक आवश्यकता और दार्शनिक अवधारणा—की व्याख्या उन्होंने पूरी तरह से नहीं की है। इसीलिए वह कभी परम्परावादिता, कभी अन्तर्राष्ट्रीयता, कभी असंबद्धता, कभी कलात्मकता, कभी अस्पष्टता, कभी स्वच्छता जैसी बातों को लेकर नयी कविता के स्वरूप का ऊपर-ऊपर से विश्लेषण करते हैं और परस्पर-विरोधी निष्कर्षों पर पहुँचे हैं। कदाचित् इसका कारण यह हो कि नयी कविता का लाक्षणिक विश्लेषण आलोचकों को मृग-मरीचिका में भटकाने वाला सिद्ध होता है, और कदाचित् यह भी कि नयी कविता के विकास के साथ-साथ उसके प्रति दिनकरजी के विचारों में थोड़ा-बहुत परिवर्तन होता गया है। उदाहरणार्थ, 'मिट्टी की ओर' नामक ग्रन्थ में उन्होंने लिखा था कि इस कविता की "चिन्ताधारा पर चित्र-व्यंजना से अधिक मनोवैज्ञानिक विश्लेषण-पद्धति का प्रभाव है।" पर, दस वर्ष बाद, "चक्रबाल' की भूमिका में वह लिखते हैं कि "प्रयोगवाद में चित्रों पर.....अधिक से अधिक जोर है।"

विचारों में इस प्रकार का विकास अथवा परिवर्तन अपने आप में एक स्वस्थ प्रवृत्ति है और इसका संकेत करती है कि दिनकरजी का चिन्तन अभी रूढ़ नहीं हुआ है। इस पृष्ठभूमि को ध्यान में रखकर, हमें आशा करनी चाहिए कि उनके जैसे जागरूक विचारक समय के साथ चलते रहकर, नयी कविता की गूढ़ से गूढ़तर होती जाती छवियों का आकलन करेंगे और उसके आभ्यन्तरिक स्वरूप का दिग्दर्शन हमें करा सकेंगे।

अन्त में, यह उल्लेखनीय है कि हिन्दी के वयोवृद्ध साहित्यकारों में वह, सम्भवतः, एकमात्र सृजनशील एवं सदाशय कलाकार हैं, जिन्होंने हिन्दी की समसामयिक कविता का विस्तृत विवेचन करने के बाद एक कदम आगे बढ़कर उसके भावी स्वरूप की भी परिकल्पना की है और इस विशिष्टता के लिए वह पुनः बधाई के पात्र हैं।

—: o :—

दिनकर के काव्य की मूल चेतना

हरप्रसाद शास्त्री

छायावाद की पलायन वृत्ति, अतिवैयक्तिकता, विचारों की निराकारता, अभिव्यक्ति की अस्पष्टता एवं दुर्बलता से साहित्य-जगत् ऊब चुका था। छायावादी-काव्य निराशा के धुंधलके का काव्य था। आवश्यकता थी कि इस कुहासे को फाड़कर काव्य को जीवन की वास्तविकताओं के आलोक में खड़ा किया जाए। छायावादी कवि जीवन की संघर्षमयी भूमि से बहुत दूर किसी कल्पना एवं भुलावे की दुनिया में एकान्त-विश्राम कर रहे थे। उनकी दृष्टि में कविता सामाजिक-चेतना का प्रतीक न होकर निराशा, करुणा और वेदना का व्यक्तिगत आलाप-मात्र थी।

विज्ञान एवं भौतिकता के इस नवयुग में जीवन की वास्तविकताओं से दूर रहकर वैयक्तिक कल्पनाओं के गानों में मस्त रहना और आध्यात्मिकता के अशरीरी, अतीन्द्रिय एवं वायवीय लोक में विचरण करना युग-सत्य की उपेक्षा होगी। छायावादी काव्य इसीलिए अपनी मौत मर गया कि उसने युग-सत्य एवं सामाजिक चेतना की उपेक्षा की। वे अपनी ही कल्पना के आलोक में छिप गये। इसी छायावादी धुंधलके के समय राष्ट्रकवि दिनकर अपनी 'मेघरन्ध्र में बजी रागिनी' को लेकर समस्त दिशाओं को सावधान करने, व्योमवासी सुरगणों को सजग बनाने एवं उनचास पवन को खुलकर बहाने के लिए साहित्य में आये। सामाजिक सत्य एवं युगधर्म से मिलाने के लिए उन्होंने अपनी कविता को कल्पना के व्योम-कुंज से उतार कर मिट्टी की दुनिया पर वास्तविकता की खोज में प्रवृत्त किया। दिनकर के समस्त काव्य का केन्द्र-विन्दु यही युग धर्म, सामाजिकता, अन्याय और अत्याचार से पीड़ित मानवता, चारों ओर मचा हुआ कुहराम, विगत युगों के महान् सांस्कृतिक प्रासादों के नष्ट-भ्रष्ट खण्डहर, जीवन की ऊँची-नीची खाइयों में डगमगाती हुई, कराहती हुई, क्षत-ग्रस्त मानव-चेतना है। उन्होंने शब्दों के निरर्थक अम्बारों में, चक्करदार कल्पना की भूलभुलैयों में, किसी अतीन्द्रिय जगत् की मृग मरीचिका के बालू-कणों में अपनी सामाजिक उद्बुद्धता के स्रोत को बहकने नहीं दिया, खोने नहीं दिया, सूखने नहीं दिया। यही उदात्त सामाजिक-सजगता दिनकर का प्रधान स्वर है। इस ओजस्वी

कवि ने अपनी हुंकारमयी तेजस्वी वाणी से एक बार समस्त जनता एवं साहित्यिक जगत् को झकझोर कर, छायावाद की व्यामोह-निद्रा से चौंकाकर सजग कर दिया। युगों बाद एक बार फिर ठोस धरातल हमने पैरों के नीचे अनुभव किया, जीवन में नई आशा और उमंग पाई, सामाजिक-उत्पीडन, बेबसी और वेदना के प्रति गर्जना सुनाई पड़ी।

दिनकर क्रान्तिकारी साहित्य-स्रष्टा है। उनकी क्रान्ति राजनीतिक मानों में नहीं वरन् साहित्यिक अर्थ की प्रेरक है। उनकी सर्वप्रथम रचना 'रेणुका' ने ही काव्य के नवीन-विषय, शिल्प-विधान और दृष्टिकोण के रूप में परम्परामुक्त नई कविता की सूचना दी थी। दिनकर की कविता ठुमुक-ठुमुककर नहीं चलती, वरन् सपाट दौड़ती है, उनकी वाणी में भर्त्सनापन और मिमियाना नहीं है वरन् प्रभावोत्पादक ढंग से पौरुष का सिंहनाद है, समाज के शोषित और दलित-वर्ग के प्रति हार्दिक सहानुभूति है। उसमें कल्पना की रंगीन तितलियों को पकड़ने या आकाश-कुसुम तोड़ लाने का प्रयास नहीं है, बल्कि भूख और रोटी की बात है, पेट की धधकती आग है, अन्याय और अत्याचार के विरुद्ध आक्रोश का विद्रोही स्वर है। सामाजिक-क्रूरता और उच्छृंखलता कवि को सह्य नहीं। उसकी कविता कामिनी के मदभरे यौवन की उतनी प्यासी नहीं है, जितनी दुर्बल प्राणों की नस-नस में चिनगारी फूंक देने के लिए लालायित है। उसकी कविता सम्राटों के प्रशस्ति-गान में अपने को धन्य नहीं मानती, अपितु उन लोगों के वेदना-पूर्ण गानों में—जिनका सुहाग लुट गया है :—

'जिनका लुटा सुहाग, हृदय में
उनके दारुण हूक उठे।
चीखूं यों कि यादकर ऋतुपति
की कोयल रो कूक उठे।'

वह अपने गायन से संसार की सुप्त आत्मा को झकझोर देना चाहता है :—

'दो आदेश फूंक दूं शृंगी
उठे प्रभाती राग महान्।
तीनों काल ध्वनित हों स्वर से
जागें, सुप्त-भुवन के प्राण।'

यदि हम दिनकर की कविताओं का वर्गिक-विभाजन करना चाहें, तो उसके छः रूप हमें मिलेंगे :—

१. भारत के गौरवपूर्ण अतीत की झाँकी।

२. जीवन की नश्वरता ।

३. राष्ट्रीय-चेतना ।

४. सामाजिक वैषम्य और अनैतिक मानों के प्रति विद्रोह ।

५. प्रकृति का भावुकतापूर्ण आख्यान ।

६. प्रेम और शृंगार के मादक रूप ।

भारत के गौरवपूर्ण अतीत की झांकी—दिनकर के काव्य में भारत की गौरवपूर्ण गत-विभूति के प्रति अगाध मोह मिलता है। समय पाते ही कवि भारत की सांस्कृतिक याद में अपनी सुध-बुध खो बैठता है। उसके काव्य में गत-विभूति के साथ-साथ भावी की आशा भी संलग्न है। 'रेणुका' की 'हिमालय' शीर्षक कविता में दिनकर का कवि-हृदय भारत के अतीत गौरव पर मुग्ध है। वह हिमालय को भारत के द्वार-रक्षक प्रहरी के रूप में कल्पित करके उसे सजग और सावधान रहने के लिए सम्बोधित करता है। यह कविता भारत के गौरवमय अतीत के साथ-साथ वर्तमान की हलचलपूर्ण परिस्थितियों का भी सुन्दर दिग्दर्शन कराती है। कवि नगराज को यह प्रश्न पूछने के लिए प्रेरित करता है :—

"पूछो सिकताकण से हिमपति
तेरा वह राजस्थान कहाँ ?
बन-बन स्वतन्त्रता दीप लिए
फिरने वाला बलवान कहाँ ?"

आजकल भारत में राम और कृष्ण जैसे सर्वकलाधिष्ठ महापुरुषों का अभाव है। उनके अभाव में अयोध्या और वृन्दावन अपना प्राचीन वैभव खो बैठे हैं। कवि उन महाविभूतियों के लुप्त हो जाने से दुखित होकर कहता है :—

"तू पूछ अवध से राम कहाँ ?
वृन्दा, बोलो घनश्याम कहाँ ?"

मौर्यकाल का भारत के इतिहास में विशिष्ट स्थान है। इसी युग में विश्व-विजेता सिकन्दर और सिल्यूकस को भारत के बाहुबल और तेजस्विता के सामने नत मस्तक होना पड़ा था। तक्षशिला के महाराज आम्भीक ने ३२६ ई० पू० तक्षशिला में आक्रमणकारी सिकन्दर का स्वागत किया और व्यक्तिगत द्वेष के कारण महाराज पोरस (पुरु) का विरोधी बनकर शत्रु का साथ दिया। उस समय सम्राट् चन्द्रगुप्त ही एक ऐसी शक्ति का केन्द्र था, जिसने सिकन्दर को परास्त करके भारत के गौरव की पुनः प्रतिष्ठा की। ३०५ ई० पू० में सिल्यूकस निकैटर ने भारत पर आक्रमण किया। इस आक्रमण में सिल्यूकस पराजित हुआ और सिन्धु के पश्चिम का

ग्रीक राज्य तथा काबुल, गन्धार, हिरात और गैड्रोशिया के प्रान्तों को चन्द्रगुप्त को देकर तथा उससे अपनी पुत्री कार्नेलिया (हैलेन) का विवाह करके एण्टीगोनस का सामना करने के लिए लौट गया। चन्द्रगुप्त मगध के विशाल साम्राज्य का प्रतिष्ठापक और भारत के वीरत्व तथा शौर्यशाली क्षत्रियत्व का मूर्तिमान रूप है। मानवीय एकसूत्रता एवं प्रीति के प्रचारक अशोक और वीरतादि प्रशस्त गुणों के आगार सम्राट् चन्द्रगुप्त के शासन में मगध का गौरव देवपुरी की भी ईर्ष्या का विषय रहा था।

कवि दिनकर की भारतीय अन्तरात्मा इन नामों को स्मरण करके पुलक भरे स्वर में मगध से प्रश्न करती है :—

'ओ मगध, कहां मेरे अशोक,
वह चन्द्रगुप्त बलधाम कहाँ ?

आज उस मिथिला के केवल खंडहर ही उसके गत-वैभव की याद दिलाते हैं, जिसमें भगवती राजेश्वरी सीता एवं जनक जैसे कर्मयोगियों ने जन्म-ग्रहण करके उसे पुण्यशीला बनाया था :—

'पैरों पर है पड़ी हुई
मिथिला भिखारिणी सुकुमारी।
तू पूछ कहाँ उसने खोईं
अपनी अनन्त निधियाँ सारी।'

कपिलवस्तु भगवान बुद्ध की पवित्र जन्मभूमि है। उन्होंने केवल भारत को ही नहीं वरन् समस्त मानव-मात्र को अमृतत्व का संदेश दिया। उनके मंगल उपदेशों से जीवन का कालुष्य धुल गया और अनासक्त, अहिंसक मानव समाज की सम्भावनाओं का उदय हुआ। उनके धर्म का प्रचार विश्व के दूर-दूर राष्ट्रों में हुआ। बुद्ध-धर्म संसार की आधी जनता का धर्म है। बुद्ध जैसी अलौकिक, जाज्वल्यमान, महान् मौलिक, विराट्दर्शी प्रतिभा विश्व के लिए भारत की अनुपम देन है। भारत के अतीत का कौन गायक बुद्ध के नाम की उपेक्षा कर सकता है ? दिनकर ने कितने स्वाभाविक और आत्मीय स्वर में कपिलवस्तु से पूछा है :—

'री कपिलवस्तु, कह बुद्ध देव
के वे मंगल-उपदेश कहाँ ?
तिब्बत, ईरान, जापान, चीन
तक गये हुए सन्देश कहाँ ?

भारतीय इतिहास में लिच्छिवी भूपों का शासनकाल तत्कालीन भारत की आन-काल, शान और मर्यादा का गौरवमय स्तम्भ है। उनकी राजधानी वैशाली भारत की सुप्रतिष्ठित राजधानियों में से एक थी। महत्त्वशाली शक्ति, संगठन और

शासनतन्त्र के केन्द्रीकरण की दिशा में लिच्छवी वंश अपनी समता नहीं रखता। वैशाली के खंडहर आज भी उसके गत-वैभव और शान के प्रत्यक्ष प्रमाण हैं। वैशाली के प्रति कवि दिनकर का विशेष-मोह है क्योंकि वह वीर-लिच्छवियों की जन्मदात्री है :—

'वैशाली के भग्नावशेष से
पूछ लिच्छवी शान कहाँ ?
ओ री उदास गंडकी, बता
विद्यापति कवि के गान कहाँ ?

मिथिला, पाटलिपुत्र, नालन्दा, वैशाली, दिल्ली आदि ऐसे महत्त्वपूर्ण, राजनीतिक एवं सांस्कृतिक प्रदेश हैं, जिनका नाम आते ही कवि का भावुक मन भर आता है और वह अपनी सुध-बुध खोकर उनका महत्त्व गाने में तल्लीन हो जाता है। 'रेणुका' की अधिकांश कविताओं में प्राचीननगरों और तत्सम्बन्धित महापुरुषों का प्रशस्ति-गान है।

पाटलिपुत्र मौर्यसम्राट चन्द्रगुप्त, प्रियदर्शी अशोक जैसे प्रतापी राजराजेश्वरों की जन्मभूमि है। पाटलिपुत्र की गंगा ने न जाने कितनी बार इन महावीरों के विमल कीर्तिगान को सुना होगा। कवि 'पाटलिपुत्र की गंगा' से यही प्रश्न करता है—

चल अतीत की रंगभूमि में
स्मृति-पंखों पर चढ़ अनजान।
विकल चित्त सुनती तू अपने
चन्द्रगुप्त का क्या जयगान ?
तुझे याद है चढ़े पदों पर
कितने जयसुमनों के हार।
कितनी बार समुद्रगुप्त ने
धोई है तुझमें तलवार।

मुगल काल भारतीय जीवन के परिवर्तित सामाजिक आधार, आर्थिक मान्यताओं के पुनर्गठन, उत्पादन और वितरण, वाणिज्य-व्यवसाय, सार्वजनीन सुख-समृद्धि और निर्माण-चेतना का युग था। उसने महान् अकबर, शाहजहाँ जैसे प्रतापी बादशाह एवं नूरजहाँ-मुमताज जैसी बुद्धिमती विश्व-सुन्दरियों को जन्म दिया। यह भारत के ठाटबाट और अनन्त वैभव का युग था। 'वैभव की समाधि पर' शीर्षक कविता में दिनकरजी ने 'मोगलगरिमा' के लुटे सुहाग पर रोती हुई दिल्ली का सुन्दर चित्र खींचा है :—

यह नियति-गोद में देखो
मोगल-गरिमा सोती है

यमुना-कछार पर बैठी
विधवा दिल्ली रोती है
जय-दीप्ति कहाँ अकबर के
उस न्याय-मुकुट मणिमय की
छिप गई झलक किस तम में
मेरे उस स्वर्ण-उदय की।
वह हरम कहाँ मुगलों की ?
छवियों को वह फुलवारी।
है कहाँ विश्व का सपना
वह नूरजहाँ सुकुमारी ?

भारत के इस गत-वैभव को अपूर्य क्षति मानकर कविमन शोकविह्वल हो जाता है, उसे सारी दुनिया श्मशान सी प्रतीत होती है। वह गा उठता है :—

रोता भावुक मन मेरा
कैसे इसको बहलाऊँ ?
पृथ्वी श्मशान है सारी
तज उसे कहाँ मैं जाऊँ ?

'रेणुका' कालीन कविताओं में भारत के अतीत युग के वैभव का गायन प्रमुख है। कवि का दृढ़ विश्वास है कि अतीत की प्रेरणा से ही हम अपने वर्तमान और भावी जीवन को उन्नत बना सकते हैं। इसी विश्वास को उन्होंने अपने काव्य में सरल और ओजस्वी वाणी में अभिव्यक्ति दी है। डा० रामकुमार वर्मा का यह कथन यथार्थ है—'अतीत और वर्तमान पर एक सुन्दर सेतु निर्माण करने वाले शिल्पी के रूप में दिनकरजी ने विशेष सफलता पाई है।'

जीवन की नश्वरता—दिनकर ने स्वयं स्वीकार किया है कि उनके काव्य में जीवन की नश्वरता का विलाप है। वह कहते हैं—"बाकी उस संग्रह (रेणुका) में ऐसा ही रचनाओं का प्राधान्य है, जिनमें या तो भारत के अतीत का रोना है या जीवन की नश्वरता का विलाप" (चक्रवाल की भूमिका)। दिनकर को ये दोनों गुण अपने पूर्ववर्ती छायावादी कवियों से परम्परा के रूप में उपलब्ध हुए हैं। छायावादी काव्य अपने इस पलायनवादी रूप के लिए बदनाम हुआ और शायद उसकी मृत्यु का कारण भी बना। छायावादी कवि किसी अलौकिक कल्पना की खोज में इस धरातल से दूर अवास्तविक दुनिया में पहुँच गया था। दिनकर में ये छायावादी संस्कार हमें उनकी प्रारम्भिक कविताओं में मिलते हैं। इस छायावादी संस्कार को दिनकर ने स्वयं स्वी-

कार किया है। 'रेणुका' की कुछ कविताओं के अतिरिक्त उन्होंने 'द्वन्द्वगीत' शीर्षक से अनेक पदों की रचना की है जिनमें जीवन की नश्वरता और क्षणभंगुरता का गायन है।

'रेणुका' में संग्रहीत 'कवि' शीर्षक कविता में दिनकर ने वैभव, वासना एवं यौवन-स्वप्नों को भूल-भुलैय्या मानकर उनके छविजाल में न फंसने का संदेश दिया है :—

मधुर यौवन-स्वप्नों में भूल
और फंस वैभव के छविजाल।
वासना-आसव का कर पान
मनुजता हुई बहुत बेहाल।
अचिर अन्तर्हित हों सब क्लेश,
लिखो कवि ! अमर स्वर्ग-संदेश।

मानव-जीवन का शाश्वत-सत्य मृत्यु है। वैभव, रूप-राशि, स्वर्णिम स्वप्न, छवि का शुभ्र उपवन—सभी मृगतृष्णा हैं। वास्तव में मृत्यु एक गीत है जिसे जिन्दगी गाती है और गाते-गाते एक दिन वह चुक जाती है और स्वयं गीत बन जाती है। मृत्यु जीवन की प्रतिध्वनि है, जीवन बोलता है और बोलते-बोलते समाप्त हो जाता है, किन्तु उसकी प्रतिध्वनि अजर और अमर रहती है, वह सदैव गगन मंडल में गूंजती रहती है। मृत्यु प्रकाश है जिसे जीवन का प्रदीप जलाता है। कुछ काल बाद दीपक मिट जाता है और केवल प्रकाश ही रह जाता है। अतः जीवन के इस क्षणिक घटा-टोप पर वास्तविक सत्य को भुलाना ठीक नहीं। दिनकर की 'जीवन-संगीत' कविता इस दृष्टि से महत्वपूर्ण रचना है। कवि कहता है :—

वैभव का उन्माद, रूप की
यह कैसी नादानी।
उषे ! भूल जाना न ओस की
करुणामयी कहानी।
रूप-राशि पर गर्व न करना,
जीवन ही नश्वर है।
छवि के इसी शुभ्र उपवन में
सर्वनाश का घर है।

महत्त्वाकांक्षाएँ दावानल की चिनगारियाँ हैं; मद, मोह, लोभ इसमें घृत और हवा का काम करते हैं। इनके स्पर्श से ये अव्याहत गति से सुलगती हैं। मानव की

महत्त्वाकांक्षाओं और तृष्णाओं की कोई परिधि नहीं है, वे अनन्त और अपरिमेय हैं। मनुष्य इन्हीं महत्त्वाकांक्षाओं का दास बनकर संग्रहशील बनता है। साम्राज्यों का निर्माण और क्रान्तियों का सूत्रपात प्रायः लोक-प्रज्वलित महत्त्वाकांक्षाओं से ही हुआ है। किन्तु उस अनन्त शक्ति के क्रूर करों के सामने किसी की पार नहीं बसाती। इतिहास साक्षी है कि बड़े-बड़े गर्वीले, यौवन एवं वैभव मद में चूर, वीरत्व के अभिमानी सम्राट् इस संसार में आये, किन्तु अन्त में सब इससे हार मानकर ही गये। सिकन्दर, महमूद, बोनापार्ट आदि इसके प्रमाण हैं :—

यह संग्रह किस लिए ? हाय-
इस जग में क्या अक्षय है।
अपने क्रूर करों से छूता
सबको यहाँ प्रलय है।
लो, यह देखो, वीर सिकन्दर
सारी दुनिया छोड़।
दो गज जमीं ढूँढने को
चल पड़ा कब्र की ओर।

मानव दो दिनों का सुख पाकर जीवन की विषमताओं, कठोरताओं और दुःख-दैन्य को भूलकर अपने को शाश्वत मानने लगता है। मनुष्य-जीवन समुद्र की भाँति है। सुख और दुःख उसी प्रकार अपरिहार्य और अवश्यंभावी हैं, जिस प्रकार समुद्र में हाला और अमिय दोनों की स्थिति है। जिस प्रकार उजियाले पाख के बाद अंधियारा पाख आना अनिवार्य है, उसी प्रकार जीवन में सुख के बाद दुःख नितान्त स्वाभाविक है :—

जीवन के छोटे समुद्र में
बसी प्रलय की ज्वाला।
अमिय यहीं है, और यहीं
वह प्राणघातिनी हाला।
इस चांदनी बाद आयेगा
यहाँ विकट अंधियाला।
यही बहुत है, छलक न पाया
जो अब तक यह प्याला।

मनुष्य-जीवन एक किताब है, जिसके प्रत्येक पृष्ठ पर उसके भविष्य की तस्वीर बनी होती है और प्रत्येक तस्वीर के नीचे उसके अगले कदम का आदेश रहता है। मनुष्य स्वयं नहीं चलता, वह शतरंज की तरह अपनी जगह पर रहता है, उसे

चलाता है कोई और—इस पुस्तक की प्रत्येक पंक्ति, प्रत्येक तस्वीर के अनुसार। हम तो वास्तव में उस शतरंज के मुहरे मात्र हैं, चालक शक्ति कोई और ही है, जिसे भाग्य, नियति, ईश्वर—चाहे जिस नाम से पुकारें। उमर खैय्याम ने एक स्थान पर लिखा है—"हमेशा चलती रहने वाली वह अंगुली लिखती रहती है और लिखकर आगे चल देती है। तुम्हारी सारी श्रद्धा, सारी बुद्धि इसे लौटाने और आधी पंक्ति भी काट देने के लिए उसे रजामन्द नहीं कर सकती·····और न तुम्हारे आंसू ही इस इबारत के अक्षरों को धो सकते हैं।"

निश्चित ही मनुष्य परिस्थितियों अथवा भाग्य का दास है। इसी भाग्यवाद की छाया दिनकर के काव्य में स्पष्ट मिलती है। 'मनुष्य' शीर्षक कविता में वह लिखते हैं :—

'हम कोमल, कान्त, प्रकृति-सुन्दर
हम मानव, हम शोभा-निधान।
जाने किस्मत में लिखा हाय
विधि ने क्यों दुख का उपाख्यान।
कैसी रचना, कैसा विधान।'

मनुष्य नियति के हाथों की कटपुतली है। उर्दू के शायर ने ठीक ही कहा है :—

'कोई खींचे लिए जाता है
खुद जेबो-गरेबा को।'

'रेणुका' कालीन अधिकांश कविताओं में विषाद, दुःख, वेदना, पीडा, करुणा का स्वर ही प्रधान है। इसका कारण कवि ने स्वयं 'उत्तर में' शीर्षक कविता में दिया है :—

जीवन ही है एक कहानी
घृणा और अपमानों की।
नीरस मत कहना, समाधि
है हृदय भग्न अरमानों की।
तिरस्कार की ज्वालाओं में
कैसे मोद मनाऊँ मैं?
स्नेह नहीं, गोधूलि-लग्न में
कैसे दीप जलाऊँ मैं?

हंस न सका तो क्या ? रोने में
भी तो है आनन्द यहाँ।
कुछ पगलों के लिए मधुर है
आँसू के ही छन्द यहाँ।

मनुष्य-जीवन की समस्त विषमताओं और असंगतियों का मूल असंतुलित दृष्टिकोण है। सुख को पाकर मनुष्य फूला नहीं समाता और दुःख में वह अपनी सत्ता को भूलकर परिधि का बाँध तोड़ फूट-फूटकर रोने लगता है। यह 'अहं' का अतिवाद ही उसकी विषमताओं का मूल है। उसके भीतर का 'मैं' जिस दिन सुख-दुःख में एकाकार हो जायेगा, अनन्त सत्ता के महासागर में विलीन हो जायेगा, तभी उसके दुःख-द्वन्द्वों का अन्त होगा। वह प्रायः ज्ञान के उस स्तर तक नहीं पहुँच पाता, जहाँ सुख-दुःख एक ही वस्तु के दो छोर बन जाते हैं। ज्ञान के इस स्तर तक पहुँचने के लिए मनुष्य को अपने में सत्यानुभूति को विकसित करना होगा, अपनी अन्तर्दृष्टि को जागृत करना होगा। इसी को अन्तर्नेत्र कहते हैं। उस आँख के खुलने पर ही 'तू-मैं-वह' और सुख-दुःख का भेदभाव मिट जाता है। मनुष्य जिसे दुःख कहता है, वास्तव में वह सुख का ही पूर्व रूप है, और जिसे सुख का वैभव मानता है, वही सर्वनाश या दुःख का घर है। अतः मानव को जीवन के क्षणिक छवि-वैभव में लिप्त न होना चाहिए। यही भाव निम्न पंक्तियों में अंकित है :—

'मूर्च्छित-स्वर एक विजन से
उठ टकराता अम्बर में।
गूँजता एक क्रन्दन-सा,
झंखाड़ शून्य खंडहर में।
जो कह जाता,—"छवि पर मत
भूलो जीवन नश्वर है।
वैभव के ही उपवन में
उस सर्वनाश का घर है।"

जब तक मानव-जीवन है, तब तक सुख और दुःख, हास्य और रुदन दोनों की बराबर सत्ता रहेगी। दोनों एक-दूसरे के पूरक हैं, अन्योन्याश्रित हैं :—

युग-युग होता जायेगा
अभिनय यह हास रुदन का।
कुछ मिट्टी से ही होगा
नित मोल मधुर-जीवन का।

संयोग और वियोग, जीवन और मृत्यु दोनों ही सत्य हैं। इस सत्यानुभूति के केन्द्रालोक को पहिचाने बिना मनुष्य का उद्धार नहीं :—

हास का अश्रु साथ विनिमय
यही है जग का परिवर्तन।
मिलन से मिलता यहाँ वियोग
मृत्यु की कीमत है जीवन।

'रेणुका' की अधिकांश कविताएँ दिनकर की इसी जीवन की नश्वरतापरक एवं निवृत्तिपन्थी विचारधारा की द्योतक हैं।

राष्ट्रीय-चेतना—दिनकर नवजागरण के कवि हैं। उनके काव्य में जन्म लेती हुई नई राष्ट्रीयता, सामाजिक दायित्व, युग के नये मानवीय-प्रतिमानों के प्रति जागरूकता और प्रवर्तनकालीन वैज्ञानिक दृष्टि है। उन्होंने अपने अहं को राष्ट्र के अहं से मिलाकर एकाकार कर दिया है। आपकी अधिकांश रचनाएँ राष्ट्रीय भावनाओं से ओत-प्रोत हैं। भारत की सोई हुई राष्ट्रीय चेतना को उद्‌बुद्ध करने में आपका उतना ही हाथ है जितना किसी बड़े से बड़े राष्ट्रीय नेता का अथवा साहित्यिक क्षेत्र में मैथिलीशरण गुप्त, माखनलाल चतुर्वेदी, रामनरेश त्रिपाठी, नवीन और सुभद्राकुमारी चौहान का है।

दिनकर के साहित्य-प्रवेश का काल राष्ट्रीय जागृति का युग था। उस समय देश की अन्तरात्मा कांग्रेस और गांधीजी के राष्ट्रमुक्ति-आन्दोलन से झंकृत हो चुकी थी, भारतीय जनता विदेशियों के फौलादी पंजे से छुटकारा पाने के लिए बेचैन थी। उसने अत्याचारी शासक और बुद्धि के चन्द ठेकेदारों एवं भाग्य-निर्णायकों के हाथों से मुक्ति पाने का व्रत ग्रहण कर लिया था। उस समय का समूचा जीवन उन सत्ताकांक्षी शासकों के हाथों में था, जिनके मुँह को इन्सान पर हकूमत करने का खून लग चुका था तथा जिन्हें अपनी सत्ता और कुर्सी जनता के जीवन और मरण की अपेक्षा कहीं अधिक प्यारी थी। इस व्यूह के समूलोच्छेद के लिए गांधीजी ने राष्ट्र को झकझोर कर मोहतन्द्रा से जगा दिया और जनता भी पराधीनता के काले कोट को उतार फेंकने के लिए आमरण व्रत में दीक्षित हो चुकी थी। ऐसे समय अन्य राष्ट्रीय कवियों के साथ दिनकर ने भी अपनी ओजस्वी और गर्जनमयी वाणी में राष्ट्र की सुप्त भावना को उद्‌बुद्ध करने में सहयोग दिया। दिनकर समय के पुत्र हैं, उनके काव्य में अपने युग के क्रोध, आक्रोश, अधीरता और बेचैनियों का सबल प्रकाशन है। उनकी कविताएँ जनसमुदाय को आन्दोलित करती हैं।

दिनकर के राष्ट्रीय और क्रान्तिकारी कवि व्यक्तित्व का प्रादुर्भाव 'हुंकार' से

हाता है। 'हुंकार' कवि की संक्रान्तिकालीन रचना है। इसमें उसके द्विधाग्रस्त कृतिकार का रूप प्रकट हुआ है। इस प्रथम रचना में राष्ट्रीय संदेश-वहन एवं वैयक्तिक आनन्दवाद की द्विधा स्पष्टत: मुखरित है। कवि का मन चाहता है कि वह सामाजिक पक्ष के गर्जन-तर्जन से दूर रहकर स्वान्त सुखाय, वैयक्तिक आनन्दवादी दृष्टिकोण से ऐसी कविताएँ लिखे, जिनमें कोमलता और कल्पना का उभार हो। एक ओर वर्तमान का निमन्त्रण उसे राष्ट्र की पुकार पर भारतीय जनता की आकुलता को व्यक्त करने के लिए आमन्त्रित कर रहा था और दूसरी ओर कवि की वैयक्तिक आत्म-साधना सामाजिक हलचलों और युगीन कोलाहल से परे किसी आत्म-सम्मोहन की स्थिति में, आत्मरति की स्वप्निल अवस्था में, वैयक्तिक अनुभूतियों की शीतल छाया में, काव्यानन्द के लिए प्रेरित कर रही थी। कवि सोचता था कि वह भी क्यों न कवीन्द्र रवीन्द्र, पन्त, निराला, महादेवी और प्रसाद की भांति ही सारी हलचलों से अलिप्त रहकर आनन्दवादी कलाकारों के खेमे में सम्मिलित हो जाए? किन्तु, समय की फूँक कवि की अन्तरात्मा पर छाई हुई इस व्यक्तिवादी राख को, विह्वलता से कांपते हुए वाष्पीय फेन को, धूम्र-मिश्रित धुंध की मुर्दनी को हटाकर, पूर्णत: दहकाने में समर्थ हुई।

'हुंकार' में इस द्विधाग्रस्त अनुभूति का स्पष्ट पता चलता है। अत: 'हुंकार' को कवि की संक्रान्तिकालीन रचना कहना उपयुक्त है। 'वर्तमान का निमन्त्रण' नामक कविता कवि के इस अन्तर्द्वन्द्व को प्रकट करती है :—

'समय-ढूह की ओर सिसकते
मेरे गीत विकल धाये।
आज खोजते उन्हें बुलाने
वर्तमान के पल आये।

कवि के हृदय में देश की पराधीनता, मूर्च्छा, निराशा, पीड़ा और अचेतनता के प्रति असन्तोष का तीव्र आवेग तो है, किन्तु साथ ही अविश्वास और विचिकित्सा भी अनेक दुविधाओं और दुश्चिन्ताओं के मध्य भीतर ही भीतर उमड़ती-घुमड़ती रहती है। वह प्रश्न करता है :—

शृंग छोड़ मिट्टी पर आया
किन्तु कहो क्या गाऊँ मैं?
जहां बोलना पाप, वहाँ
क्या गीतों से समझाऊँ मैं?
विधि का शाप, सुरभि सांसों पर
लिखूँ चरित मैं क्यारी का।

चौराहे पर बंधी जीभ से
मोल करूँ चिनगारी का।

किन्तु, कवि का यह अविश्वास अधिक समय तक नहीं ठहर पाता। यह द्विधाग्रस्त अन्तर्द्वन्द्व चिरस्थायी न रहकर क्षणिक रहता है और वह फिर आशा और विश्वास से भरे दृढ़ शब्दों में कहता है :—

रण की घड़ी, जलन की बेला,
तो भी मैं कुछ गाऊँगा।
सुलग रही यदि शिखा यज्ञ की
अपना हवन चढ़ाऊँगा।

वह वर्तमान के निमन्त्रण पर अतीत के व्यामोह, ऐन्द्रजालिक अन्तर्विरोधों एवं असामाजिक मनोवृत्ति को त्यागकर निर्भीक भाव से मन की पीर बजाने को तैयार हो जाता है :—

'वर्तमान की जय' अभीत हो,
खुलकर मन की पीर बजे।
एक राग मेरा भी रण में
बन्दी की जंजीर बजे।

कवि अतीत की आत्मरत निविड़ भावनाओं से मुक्ति पाकर आगत का स्वागत करता हुआ, अनागत के गीत गाने के लिए विकल हो उठता है। वह स्वयं को नये प्रभात का अरुण (दिनकर) मानकर कहता है :—

नये प्रात के अरुण ! तिमिर
उर में मरीचि सन्धान करो।
युग के मूक शैल उठ जागो,
हुंकारो, कुछ गान करो।

दिनकर को अपने राष्ट्र की महत्ता पर गर्व है। वह विषम परिस्थितियों के घात-प्रतिघात में जनता के डगमगाते हुए आत्म-विश्वास को आश्वासन देता हुआ उदात्त स्वर में गाता है :—

'गरज कर बता सबको, मारे किसी के, मरेगा नहीं हिन्द-देश।
लहू की नदी तैर कर आ गया है, कहीं से कहीं हिन्द देश।
लड़ाई के मैदान में चल रहे हैं, लेके हम उसका निशान।
खड़ा हो जवानो का झंडा उठा, ओ मेरे देश के नौजवान।

धीरे-धीरे कवि के अवचेतन मन और अन्तःप्रदेश में विचरने वाली छायामयी प्रवृत्तियाँ, अन्तर्द्वन्द्व और भीतरी संघर्षों से उत्पन्न अनेक अस्पष्ट चिन्ताएँ धुल जाती हैं और उसमें अनैतिकता के प्रति विद्रोह—बुद्धि तथा परिस्थितियों से संघर्ष लेने की सामर्थ्य अपनी पूर्ण पराकाष्ठा पर पहुँच जाती है। उसका आत्म-विश्वास हृदय के अबखिले सम्पुट को स्निग्धतम स्पर्श से छूकर पूर्ण प्रस्फुटित कर देता है।

कवि का यह आत्म-विश्वास 'आलोक धन्वा' कविता में सजीव रूप में चित्रित हुआ है। वह अपने को ज्योतिर्मय सौर मंडल के रवि के तुल्य ज्योतिर्धर कवि मानता है :—

ज्योतिर्धर कवि मैं ज्वलित सौर मंडल का,
मेरा शिखण्ड अरुणाभ, किरीट अनल का।
उदयाचल पर आलोक-शरासन ताने,
आया मैं उज्ज्वल गीत विभा के गाने।
मैं विभा-पुत्र, जागरण गान है मेरा,
जग को अक्षय आलोक दान है मेरा।
आलोक-विशिख से वेध जगा जन जन को,
सजता हूँ नूतन शिखा जला जीवन को।

अब कवि का गर्वीला अहं समस्त दुर्बलताओं से परे म्रियमाण जाति में प्राण फूंक देना चाहता है। इसके व्यक्तित्व में आँख मींच कर पर्वतों को रौंदने वाली, आसमान के तारे जमीन पर लाने वाली, अजेय अल्हड़ जवानी फूटी पड़ती है और उसके सबल स्वस्थ शरीर एवं हौंसलों में खंजन सा फुदकता मन, जड़ को उड़ने के पंख देने के लिए, चेतन मन को आँख देने के लिए, स्वर को विकराल हुंकार बना देने के लिए, यौवन को भीषण ज्वार बना देने के लिए, शूरों के दृगों को अंगार बना देने के लिए, लोहू में नई तेज़ रवानी देने के लिए, म्रियमाण जाति में प्राण फूंक देने के लिए, मचला पड़ता है :—

'जड़ को उड़ने के पांख दिये देता हूँ,
चेतन के मन को आँख दिये देता हूँ।
दौड़ा देता हूँ तरल अग्नि नस-नस में,
रहने देता हूँ बल को न बुद्धि के बस में।

स्वर को कराल हुंकार बना देता हूँ,
यौवन को भीषण ज्वार बना देता हूँ।
शूरों के दृग अंगार बना देता हूँ,
हिम्मत को ही तलवार बना देता हूँ।

लोहू में देता हूँ वह तेज़ रवानी,
जूझती पहाड़ी से हो अभय जवानी।
म्रियमाण जाति को प्राण दिया करता हूँ,
पीयूष प्रभामय गान दिया करता हूँ।

हुंकार की रचना का काल देश की आन्तरिक अशान्ति, राजनीतिक हलचल, विदेशी नौकरशाही के अन्याय से संत्रस्त, विक्षिप्त, किंकर्तव्य विमूढ, हतप्रभ भारतीय जनता के उर्मिल एवं भड़कते असन्तोष का युग था। विद्रोह की चिनगारियाँ फूटने लगी थीं, अत्याचारी शासकों के पाँव धरती से डगमगाने लगे थे, अपार जनसमूह की दासता की शृंखलाएँ कुछ ढीलीं पड़ने लगी थीं, असहयोग और सत्याग्रह के आन्दोलनों के द्वारा भारतीय जनता प्रबुद्ध हो चुकी थी। अन्याय के प्रति खुली बगावत और प्रतिकार की आग पूरी तौर से भड़क रही थी। देश में चारों ओर प्रलय एवं कयामत का दृश्य उपस्थित हो गया था। दिनकर ने 'दिगम्बरि' नामक कविता में इसी क्रान्ति का चित्र खींचा है :—

'नये युग की भवानी, आ गई बेला प्रलय की।
दिगम्बरि, बोल अम्बर में किरण का तार बोला।

राष्ट्रीय-प्रवृत्तियों को कुचलने के लिए तत्कालीन शासक वर्ग ने कुछ उठा न रखा। स्वतन्त्रता का नारा लगाने वालों को गोलियों से भून दिया जाता, कितने ही जेल की काल कोठरियों में सड़ कर मर गये, कितनों ने फांसी के तख्तों को हँसते-हँसते चूम लिया। कवि ने उन अमर शहीदों की स्तुति में 'शहीद-स्तवन' कविता लिखी। कवि उन शहीदों की जय बोलता है, जिन्होंने अपने जीवन-दीप को तिल-तिल जला कर राष्ट्र के हित में बुझा दिया :—

'ओ अगणित लघु-दीप हमारे,
तूफानों में एक किनारे।
जल-जल कर बुझ गये, किसी दिन, मांगा नहीं स्नेह मुख खोल,
कलम आज उनकी जय बोल।'

दूसरे वे जीवित शहीद हैं, जिनकी भूख के मारे बोटी-बोटी सूख रही है,

जिन्हें घास की रोटियाँ भी नसीब नहीं होतीं, फिर भी, जो अर्धनग्न रहकर देश का इतिहास गढ़ने में तल्लीन हैं :—

'सूख रही है बोटी-बोटी,
मिलती नहीं घास की रोटी।
गढ़ते हैं इतिहास देश का, सह कर कठिन क्षुधा की मार।
नमन उन्हें मेरा शत बार।
अर्धनग्न जिनकी प्रिय-माया,
शिशु विषण्ण-मुख, जर्जर काया,
रण की ओर चरण दृढ़ जिनके, मन के पीछे करुण पुकार।
नमन उन्हें मेरा शत बार।

तीसरे वे शहीद प्रणम्य हैं, जो भविष्य के गर्भ में छिपे हुए हैं, जो राष्ट्रीय यज्ञ की अग्नि में अपने साथ नई आहुतियां लेकर आयेंगे, जो मौत को चुनौती देकर अम्बर में अपना नाम लिखायेंगे :—

'जय हो, नव होता गण ! आओ !
सग नई आहुतियाँ लाओ,
जो कुछ बने फेंकते जाओ, यज्ञ मांगता नहीं विराम।
आने वालों, तुम्हें प्रणाम।
फिर डंके पर चोट पड़ी है,
मौत चुनौती लिए खड़ी है,
लिखने चली आग, अम्बर पर कौन लिखायेगा निज नाम।
आने वालों, तुम्हें प्रणाम।

कवि का राष्ट्रीय असन्तोष प्रलय के क्षुब्ध पारावार का रूप धारण कर लेता है, जिसमें भीषण क्षुधा की दबी हुई बड़वानल है, दलित-पीड़ितों का मौन हाहाकार है :—

दबी सी आग हूँ भीषण क्षुधा की,
दलित का मौन हाहाकार हूँ मैं।
सजग संसार तू निज को संभाले,
प्रलय का क्षुब्ध पारावार हूँ मैं।

दिनकर की राष्ट्रीय-भावनोत्तेजक कविताओं में 'दिल्ली' नामक रचना का महत्वपूर्ण स्थान है। आधुनिक दिल्ली भारतीय-संस्कृति और प्राचीन-गौरव की

वाहिका दिल्ली नहीं है। वह अंग्रेजों के द्वारा निर्मित वाह्य-आडम्बरों, अदम्य वासनो और आकांक्षाओं की नग्न मूर्ति, जीवन की समाज विरोधी, विनाशक और विगलन-कारी उद्‌भावनाओं की प्रतीक, आन्तरिक उत्तेजना और वासनात्मक पागलपन के कारण विवेकरहित संकल्पों तथा भावावेशों का अजायब-घर है। जहाँ व्यक्ति का मूल्यांकन नैतिकता के आधार पर नहीं, बल्कि भौतिक समृद्धिशालिता और बाहरी तड़क-भड़क के आधार पर होता है। कवि ने अनेक ऐतिहासिक घटनाओं के करुण एवं मार्मिक प्रसंगों तथा ग्लानिपूर्ण दृश्यों की झांकी देकर दिल्ली को परकीया निर्लज्ज नायिका के रूप में चित्रित किया है। जब जन-जन आर्थिक विषमताओं से पीड़ित हों, चारों ओर दुःख-दैन्य की धधकती हुई ज्वालाएँ संहार के लिए अशान्त हो रही हों, परतन्त्रता की बेड़ियों को छिन्न-भिन्न करने के लिए राष्ट्र का तारुण्य मचल रहा हो, राष्ट्र की धमनियों में क्रान्ति का उष्ण रक्त संचरित हो रहा हो, वन्दिनी मां की लटें बिखरी हुई हों, उसके नयनों से अजस्र अश्रु-धारा प्रवाहित हो रही हो, वन्दिनी मां के सामने उसके सुतों की निष्ठुर बलि चढ़ाई जा रही हो, तब राष्ट्र की राजधानी का निर्लज्ज शृंगारिक विलासिनी रूप अवश्य ही क्षोभकारी है। इस आन्तरिक क्षोभ को कवि ने 'दिल्ली' कविता में वाणी दी है :—

'इस उजाड़, निर्जन खंडहर में,
छिन्न-भिन्न उजड़े इस घर में
तुझे रूप सजने की सूझी
मेरे सत्यानाश प्रहर में।
बिखरी लट, आँसू छलके हैं,
देख वन्दिनी है बिलखाती।
अश्रु पोंछने हम जाते हैं
दिल्ली ! आह, कलम रुक जाती।
× × ×
अरी हया कर, हया अभागी,
मत फिर लज्जा को ठुकराती,
चीख न पड़े कब्र से अपनी
फट न जाय अकबर की छाती।'

दिल्ली का वैभव उसकी स्वोपार्जित सम्पत्ति नहीं है, वह अधनंगे और अधभूखे श्रमजीवियों, मजदूरों और किसानों के गाढ़े पसीने की कमाई का अनुचित शोषण है। दिल्ली की ऊँची-ऊँची विशाल अट्टालिकाओं और बिजली की चकाचौंध से जगमगाते हुए जनपथों में जो राशि-राशि राजकीय वैभव बिखरा पड़ा है, वह हजारों-लाखों

मजदूरों और किसानों का शोषित रक्त है। विलासपुरी दिल्ली भारतीय-संस्कृति के मौन पुजारी इन किसान-मजदूरों के अपमान की प्रतीक है। यहाँ आकर दिनकरजी की वाणी बड़ी तेजस्वी, आक्रोशमयी और उग्र हो गई है :—

आहें उठीं दीन कृषकों की
मजदूरों की तड़फ पुकारें।
अरी, गरीबों के लोहू पर
खड़ी हुई तेरी दीवारें।

दिनकर की इन राष्ट्रीय रचनाओं में विद्रोह का अनवरत उद्वेग और कसमसाता, मचलता, आकुल उफान है, भारतीयता के प्रति मर मिटने की पूरी आस्था है। उनमें गहरा आत्मविश्वास, सामाजिक दायित्व का बोध और भीतर की प्राणवत्ता के साथ तदाकार होता हुआ अनियन्त्रित आवेग है। राष्ट्रीय चेतना का व्यापक और सर्वतोमुखी उन्मेष तथा चिन्तामूलक भारतीय संस्कृति के सारभूत तत्त्वों तथा मानवात्मा के शाश्वत सत्यों का स्पन्दन है।

सामाजिक वैषम्य और अनैतिक मानों के प्रति विद्रोह—आज का समस्त संसार विषमता की पीड़ा से ग्रस्त है। मनुष्य की महत्त्वाकांक्षा और सत्तालिप्सा नंगे रूप में नृत्य कर रही हैं, आज सभ्यता, संस्कृति, शान्ति और लोकहित के नाम पर व्यक्तिगत स्वार्थों और सत्ता हथियाने की अदम्य लालसाओं का संघर्ष चल रहा है। राष्ट्रों के बीच युद्ध की स्थिति है, समाज में कुंठाओं, क्लान्तियों, क्रान्तियों और विग्रहों का बोलबाला है और व्यक्तियों के मध्य दुःख-दैन्य, अभावों, सामाजिक विकृतियों और आपसी छीनाझपटी का पाशविक कलह। इस युद्ध, विग्रह और कलह का मूल कारण है सत्ता हथियाने की उत्कट लालसा। सत्ताधिकार को आधुनिक सभ्यता का चरम मूल्य स्वीकार कर लिया गया है।

आज का युग-मानव विद्वेष की भावना से परास्त होकर विग्रहमूलक बन गया है। मनुष्य का सारा संघर्ष मनुष्य और समाज के विरुद्ध है। समाज का समस्त ढांचा योग्यतमावशेष (Servival of the fittest) के पाशविक नियम पर आधारित है। न जाने कहाँ से यह विषाक्त धारणा घर कर गई है कि मानव और मानव के बीच हितसंघर्ष है। आज न जाने क्यों, न केवल व्यक्ति के लिए, न केवल समाज-विशेष के लिए, बल्कि कहना चाहिए कि समूची मानवता के लिए एक अनासक्त निर्ममता, विलगाव और हित-संघर्ष पैदा हो गया है। हित संघर्ष की यह दीवार दो राष्ट्रों के बीच ही नहीं, एक ही राष्ट्र की दो जातियों के बीच, दो राजनीतिक दलों के बीच, एक ही राजनीतिक दल के दो सत्ताकांक्षी नेताओं के बीच, यहाँ तक

कि दो सगे भाईयों के बीच खड़ी है। इससे समाज में विघटन की स्थिति पैदा हो गई है। निरीह अबलों और असहायों का शोषण आज की सभ्यता का मानदण्ड है।

दिनकर का कवि-हृदय इस सामाजिक वैषम्य और सभ्यता के दानवी-रूप से असंतुष्ट है। वह अपूर्तियों, कुण्ठाओं, अभावों और उलझनों से ग्रस्त, गर्हित तथा रुग्ण समाज में आमूल-चूल परिवर्तन का पक्षपाती हैं। राष्ट्र और संस्कृति की परिधि से मुक्त मानवता उसका काम्य हैं। कवि नटवर, चन्द्रचूड, भगवान् शंकर से ताण्डव नृत्य करने की प्रार्थना करता है और समस्त सृष्टि को मिटाकर पुनः सत्य, शिव, सुन्दर पर आधारित नवीन सृष्टि-रचना की मांग करता है :—

'प्रभु ! तव पावन नील गगन-तल,
विदलित अमित निरीह-निबल-दल,
मिटे राष्ट्र, उजड़े दरिद्र जन,
आह ! सभ्यता आज कर रही
असहायों का शोणित शोषण।
× × × ×
गिरे विभव का दर्प चूर्ण हो,
लगे आग इस आडम्बर में,
वैभव के उच्चाभिमान में,
अहंकार के उच्च-शिखर में,
स्वामिन् ! अन्धड़-आग बुला दो,
जले पाप जग का क्षण-भर में,
रच दो फिर से इसे विधाता, तुम शिव, सत्य और सुन्दर
नाचो हे, नाचो, नटवर।

समाज में एक ओर व्यक्तिगत ; वर्गगत एवं राष्ट्रगत स्वार्थलिप्सा और सुख-प्राप्ति की होड़ है, दमन-शोषण-संहार के नये-नये रास्ते ढूंढे जा रहे हैं, तो दूसरी ओर एकांगी विवेचन एवं चिन्तन से संकुचितता, थोथे आदर्श, और विनाशक शस्त्रास्त्रों का निर्माण हो रहा है। भाई भाई के गले पर तलवार चला रहा है। इस युग व्यापी संहार से समस्त धरणी कराह रही है। कलुषनीति, हत्या, तृष्णा और पातकों पर आधारित इस सभ्यता का दाता ही बेली है। कवि शस्त्रास्त्रों की होड़ को मानवीय सभ्यता के लिए घातक मानकर उसकी निन्दा करता है :—

'धरणी चीख-कराह रही है, दुर्वह शस्त्रों की मारों से,
सभ्य जगत् को तृप्ति नहीं अब भी, युग व्यापी संहारों से,
गढ़ते ही भाई जाते हैं, भाई के हित तलवारें।

दिशि-दिशि शस्त्रों की कराल ध्वनि, धनपिशाच का भैरव नर्तन,
दिशा-दिशा में कलुषनीति, हत्या, तृष्णा-पातक-आवर्तन।
दलित हुए निर्बल सबलों से, मिटे राष्ट्र, उजड़े दरिद्रजन,
आह! सभ्यता आज कर रही असहायों का शोणित शोषण।

संकीर्ण-राष्ट्राभिमान की अलंघ्य दीवार ने मानव को मानव के खून का प्यासा बना दिया है। नाजी हिटलर ने राष्ट्रवादी अहंकार के दानवी जोम में मानव की शान्ति को भंग किया और सन् १९३५ में रक्तपिपासु इटली के फासिस्ट मुसोलिनी ने असहाय अबीसीनिया पर आक्रमण करके मानवता को कलंकित करने वाली संकीर्ण राष्ट्रीयता का परिचय दिया था। इस आक्रमण के अवसर पर लिखित दिनकर की 'मेघ-रन्ध्र में बजी रागिनी' शीर्षक कविता अपने ऐतिहासिक महत्त्व के साथ समाज-विरोधी तत्त्वों के प्रति ललकार है।

युद्ध मानवता के लिए सबसे बड़ा अभिशाप है। युद्धों की विषैली हवा में सभ्यता, संस्कृति और कला के कीटाणु घुटकर मर जाते हैं। युद्ध लोभ, क्रोध, प्रतिशोध और कलह की लज्जाभरी कहानी है। युद्ध का परिणाम होता है सत्यानाश, रुण्ड-मुण्डों की बौछार, युग-युगोपार्जित कला-कौशल का भूमि-निपात। युद्ध मनुष्य की पाशवीय प्रवृत्तियों का नग्न प्रदर्शन है। युद्ध की भयंकरता रोमांचकारी और सौभाग्यश्री की विलोपिका है। 'कलिंग-विजय' कविता में अशोक युद्धों के भीषण परिणामों की विवेचना करता है :—

'युद्ध का परिणाम?
युद्ध का परिणाम ह्रास-त्रास!
युद्ध का परिणाम सत्यानाश!
रुण्ड-मुण्ड-लुंठन, विहिंसन, मीच!
युद्ध का परिणाम लोहित कीच!

युद्ध मानवता के विनाश का कारण है किन्तु युद्ध का कारण क्या है? एक मनुष्य के द्वारा दूसरे मनुष्य का, एक जाति के द्वारा दूसरी जाति का और एक राष्ट्र के द्वारा दूसरे राष्ट्र का शोषण। जाति, रंग, अमीर, गरीब, साक्षर-निरक्षर सभी भेद वर्तमान है। ये सब हिंसा के, युद्ध के रूप हैं। जब तक ये सब कायम रहेंगे, दुनिया में हिंसा भी होगी और युद्ध भी होते रहेंगे। आज की दोष-पूर्ण अर्थ-व्यवस्था सामाजिक विषमता, अशान्ति, संघर्षों और युद्धों की जननी है। इस अर्थ-व्यवस्था का सबसे बड़ा दोष यह है कि इसमें व्यक्ति का मूल्यांकन श्रम अथवा योग्यता के आधार पर नहीं होता वरन् पूँजी के आधार पर होता है। एक वर्ग जहाँ दिन-रात लगातार श्रम करते हुए भी अभावग्रस्त रहता है, वहाँ दूसरा वर्ग आलसी एवं अकर्मण्यता का

जीवन बिताता हुआ, पैतृक सम्पत्ति अथवा अनुचित तरीकों के बल पर मौज उड़ाता है। इस आर्थिक विषमता के कारण ही अधिकांश व्यक्तियों को वस्त्र, भोजन, मकान आदि की प्राथमिक आवश्यकताओं से वंचित रहना पड़ता है। इस आर्थिक प्रणाली में मेहनतकश की मेहनत पर निठल्ला वर्ग चैन की वंशी बजाता है, रंगरेलियाँ करता है और बेचारा सर्वहारा वर्ग दिन-रात एड़ी चोटी का पसीना एक करने के बाद भी आधे पेट रहकर, खुली सड़कों पर सोने के लिए बाध्य होता है। उसके बच्चों को भर पेट भोजन और दूध नहीं मिल पाता। जहाँ एक ओर धनपतियों के कुत्ते भी गद्दों पर सोते और भरपेट दूध मलाई खाते हैं, वहाँ श्रमजीवियों के बच्चे अंजलि भर दूध के लिए बिलबिलाते हैं।

दिनकर की 'विपथगा' इसी सामाजिक-वैषम्य के असन्तोष की कविता है। इस कविता के सम्बन्ध में हम बेनीपुरी जी के इस कथन से पूर्णतः सहमत हैं कि 'विश्व-साहित्य में जितनी भी क्रान्ति पर कविताएँ लिखी गई हैं, 'विपथगा' उनमें सर्वश्रेष्ठ है'। कवि ने क्रान्ति को 'विपथगा' नाम से पुकारा है, क्योंकि वह विपरीत पथगामिनी है। शोषितों, दलितों और पीड़ितों की आहें उसे लाती हैं। इस कविता में आर्थिक वैषम्य का चित्रण बड़े सबल रूप में हुआ है—

श्वानों को मिलते दूध-वस्त्र, भूखे बालक अकुलाते हैं,
माँ की हड्डी से चिपक, ठिठुर जाड़ों की रात बिताते हैं,
युवती के लज्जा-वसन बेच जब ब्याज चुकाये जाते हैं,
मालिक जब तेल फुलेलों पर पानी-सा द्रव्य बहाते हैं,
पापी महलों का अहंकार देता मुझको तब आमन्त्रण।

कविता युगधर्म की पुकार है। जो कवि सामयिक युगधर्म को वाणी नहीं देता, वह कविकर्म को कलंकित करता है। आज का युगधर्म यही है कि समाज में फैले अनैतिक मानों, अन्ध-विश्वासों और गर्हणीय एवं अवाञ्छनीय सामाजिक क्षुब्धताओं को दूर करके इस भूतल को स्वर्ग बनाने की कल्पना की जाए। दिनकर की कविता स्वर्गलोक को भूलोक पर उतारने की प्रेरणा देती है :—

तेरे कण्ठ-बीच कवि ! मैं बनकर युगधर्म पुकार चुकी,
प्रकृति-पक्ष ले रक्त-शोषिणी संस्कृति को ललकार चुकी।
वार चुकी युग पर तन-मन-धन, अपना लक्ष्य विचार चुकी,
कवे ! तुम्हारे महायज्ञ की आहुति कर तैयार चुकी।

× × × ×

तू संदेश वहन कर मेरा, महागान मैं गाऊँगी,
एक विश्व के लिए लाख स्वर्गों को मैं ललचाऊँगी।'

राष्ट्र के निर्माता प्रतापशाली शासक नहीं, बड़े-बड़े उद्योगपति एवं पूँजीपति नहीं, राजतंत्र के संचालक ऊँचे-ऊँचे वेतनभोगी अफ़सर नहीं वरन् वे किसान और मजदूर हैं, जो नींव के पत्थर बनकर अपनी छाती पर राष्ट्र के विशाल महल का बोझा ढोते हैं, जिन्हें भरपेट खाना नहीं मिलता, जो पीते हैं आँसू और खाते हैं गम, फिर भी अभ्रध्वज सौधों और राजप्रासादों का निर्माण करते हैं। यदि हम राष्ट्र-प्रासाद को चिरस्थायी और मजबूत बनाना चाहते हैं, तो इन नींव के पत्थरों को सुरक्षित रखना होगा, दलितों, शोषितों को बोझ से आजाद कराना होगा। 'नींव का हाहाकार' कविता इस भावना को प्रकट करती है :—

कांपती है वज्र की दीवार।
नींव में से आ रहा है क्षीण हाहाकार
जानते हो यह अनोखा राज़ क्या है?
वज्र की दीवार यह क्यों कांपती है?
और गूंगी ईंट की आवाज़ क्या है?
तोड़ दो इसको, महल को पस्त औ' बर्बाद कर दो।
नीव की ईंटें हटाओ
दब गये हैं जो, अभी तक जी रहे हैं,
जीवितों को इस महल के बोझ से आज़ाद कर दो।

भारत कृषिप्रधान देश है। किसान राष्ट्र का पोषक है। दिन-रात के घोर परिश्रम के बावजूद भी वह भूख की दावानल में झुलसता जाता है। लाखों-लाखों भारतीय किसान दाने-दाने के लिए मोहताज हैं। किसानों का पैदा किया हुआ अन्न उनके पेटों में न पहुँचकर महलों की रंगरेलियाँ पूरी करने के लिए पहुँचता है। उनके रुदन और चीत्कार से भारतमाता की छाती दहलती है। दबे-पिसे किसानों के बच्चे दूध-दूध पुकारते असमय में जीवन-लीला समाप्त कर देते हैं, उनकी कब्रों से भी दूध-दूध का करुण चीत्कार सुनाई पड़ता है किन्तु उसे सुनने वाला किसान के अतिरिक्त कोई नहीं। किसानों की इस दीन-हीन अवस्था का बड़ा ही मार्मिक चित्रण 'हाहाकार' रचना में हुआ है। राष्ट्रपति डा० राजेन्द्रप्रसाद इस मार्मिक स्थल को सुनकर सहसा अश्रुगद्गद हो गये थे :—

कब्र-कब्र में अबुध बालकों की भूखी हड्डी रोती है।
'दूध-दूध !' की कदम-कदम पर सारी रात सदा होती है।
'दूध-दूध !' ओ वत्स ! मन्दिरों में बहरे पाषाण यहाँ हैं,
दूध-दूध !' तारे, बोलो, इन बच्चों के भगवान कहाँ हैं ?

× × × ×

'दूध-दूध !' फिर 'दूध' अरे, क्या याद दूध की खो न सकोगे ?
'दूध-दूध !' मर कर भी क्या तुम बिना दूध के सो न सकोगे ?
वे भी यहीं, दूध से जो अपने श्वानों को नहलाते हैं।
ये बच्चे भी यहीं, कब्र में 'दूध, दूध !' जो चिल्लाते हैं।

× × × ×

हटो व्योम के मेघ ! पन्थ से, स्वर्ग लूटने हम आते हैं,
'दूध-दूध'... ओ वत्स ! तुम्हारा दूध खोजने हम जाते हैं।

आज विश्व की सबसे बड़ी समस्या है— युद्ध और शान्ति। युद्ध बिना कार्य-कारण के अचानक ही समाज के हृदय से नहीं फूट पड़ता। सामाजिक-व्यवस्था में जो सर्व व्यापी हिंसा, शोषण और अत्याचार निहित हैं, युद्ध उन्हीं की चरम परिणति है। हिंसा के असंख्य कार्य तो हम नित्यप्रति अपने दैनिक जीवन में करते रहते हैं, विश्व-युद्ध और अणु-युद्ध उन्हीं की बुनियाद पर आधारित हैं। छोटी-छोटी हिंसाएँ भी विश्व व्यापी भयंकर युद्ध के प्रसार में सहारा देती हैं।

शान्ति की स्थापना के लिए आवश्यक है कि हम 'जिओ और जीने दो' के सिद्धान्त को अपनाएँ। जहाँ शोषण और विषमता इस चरम सीमा पर हों कि कुछों के श्वान भी दूध के भटके खाली करें और कुछों के बच्चे भी दूध के लिए तरसें, जहाँ कुछ रेशमी-वस्त्र धारण करें और कुछों को लंगोटी भी मयस्सर न हो, जहाँ कुछ विशाल अट्टालिकाओं में निवास करते हों और कुछ फुटपाथ पर ही सारी जिन्दगी बिता देते हों, भला, उस समाज की दवा क्रान्ति, युद्ध और विद्रोह के अतिरिक्त और क्या हो सकती है ? 'हिमालय का संदेश' नामक कविता में कवि ने शान्ति, हिंसा, रोटी और युद्ध की ज्वलन्त समस्याओं पर विवेचन किया है :—

'शान्ति ?
कहीं दूध के बिना तरसती मानव की सन्तान,
कहीं क्षीर के मटके खाली करते जाते श्वान।
कहीं वसन रेशम के सस्ते, महँगी कहीं लंगोटी,
कोई घी से नहा रहा, मिलती न किसी को रोटी।
इस समाज की एक दवा है आग और उत्क्रान्ति
शान्ति !!

× × × ×

जितना बने, संसार में माधुर्य्य, शीतलता भरो।
है क्या उचित नर को चलाना लाठियों के जोर से ?
सकता कभी हो व्यक्ति का मन तृप्त नीति कठोर से ?

रोटी की समस्या विश्व के संघर्षों का केन्द्र है। 'भूखे भजन न होय गुपाला'। भूखों को अध्यात्म ज्ञान, नैतिकता, धर्म, शान्ति और प्रेम का पाठ नहीं पढ़ाया जा सकता जब पेट में दाहक आग लगी हो, तो मन में ज्ञान का प्रदीप नहीं जलाया जा सकता। भूखा आदमी हिंसा-प्रतिहिंसा को नहीं देखता, उसे तो रोटी चाहिए, फिर चाहे जिस भी तरीके से वह मिले।

नवयुग के चिन्तकों को सम्बोधित करके कवि जीवन की प्राथमिक आवश्यकताओं—रोटी और कपड़ों—की पूर्ति की माँग करता है :—

रोटी दो, मत उसे गीत दो जिसको भूख लगी है,
भूखों में दर्शन उभारना छल है, दगा, ठगी है।
रोटी और वसन, ये जीवन के सोपान प्रथम हैं,
नव युग के चिन्तकों ! तुम्हें इसमें भी कोई भ्रम है,

छुआछूत और ऊँच-नीच का भेद-भाव मानवता के लिए बड़ा कलंक है। मानव को अ-पृश्य मानना अधर्म है। जिस धर्म में दीन-दलितों को प्रभु की पूजा का भी अधिकार न मिले, जहाँ धन की चकाचौंध में धर्म की पावन ज्योति अदृश्य हो जाए, वह धर्म नहीं अधर्म है। इस अनैतिक और अमानवीय भावना को हटाये बिना कल्याण नहीं। 'बुद्धदेव' शीर्षक कविता में कवि ने भगवान् बोधिसत्त्व को इस असामाजिक कृत्य के लिए पुकारा है :—

आज दीनता को प्रभु की पूजा का भी अधिकार नहीं,
देव! बना था क्या दुखियों के लिए निठुर संसार नहीं?
धन-पिशाच की विजय, धर्म की पावन ज्योति अदृश्य हुई,
दौड़ो बोधिसत्व ! भारत में मानवता अस्पृश्य हुई।

नारी की पराधीनता समाज के गलत मूल्यों की प्रतीक है। नारी और पुरुष का सम्बन्ध कुछ विलक्षण है। जहाँ एक ओर उनका जीवन एक-दूसरे के बिना अपूर्ण और असम्पन्न है, वहाँ दूसरी ओर आपसी अविश्वास और अन्योन्य-दोषारोपण की प्रवृत्ति भी चरम सीमा पर है। स्त्री पुरुष को अन्यायी, अत्याचारी और आक्रमणशील मानकर उससे डरती हैं और पुरुष की यह धारणा है कि नारी मायाविनी है, साक्षात् प्रलोभन की मूर्ति है, नरक का द्वार है, अधःपतन का कारण है। वह सदैव स्त्री के चरित्र पर संदेह करता है। कुछ शारीरिक असमर्थता के कारण तथा कुछ अपने कोमल एवं प्रेमपूर्ण स्वभाव के कारण नारी ने पुरुष के सामने आत्म-समर्पण कर दिया, हार मान ली। पुरुष नियन्ता, भर्ता और भोक्ता बन गया, तथा नारी नियन्त्रित, पोष्य और भोग्य वस्तु बन गई। यह मानना होगा कि इसमें जितना दोष पुरुष का है, उससे कम नारी का नहीं, क्योंकि दूसरे को

हराना अगर गुनाह है तो हारना भी कम गुनाह नहीं है। पुरुष का गौरव यदि उसके पौरुष भाव में हैं तो नारी का गौरव उसके मातृत्व में। पुरुष अनन्तकाल से नारी का शोषण करता आया है, उस पर अत्याचार और अनाचार करने से वह कभी नहीं चूका। पुरुष की यह सबसे बड़ी अनैतिकता और असामाजिकता है कि वह जगज्जननी को इस प्रकार घृणित और अपमानित करता है।

दिनकरजी ने नारी और पुरुष के अतिचारों को 'राजा-रानी' कविता में बड़े कोमल और भावुक-रूप में प्रस्तुत किया है। 'राजा-रानी' कविता में प्रेम और करुणा का अत्यन्त मर्मस्पर्शी चित्र है। वसन्त और वर्षा को स्त्री और पुरुष का प्रतिरूप मान कर इस अनैतिक अतिचार पर प्रकाश डाला है। इस कविता में वसन्त और वर्षा के बहाने पुरुष की विलासप्रियता, हृदयहीनता, निष्ठुरता और कामुक प्रवृत्ति का, और नारी के त्याग, सहिष्णुता, कोमलता और करुणा का चित्र खींचा है। राम और दुष्यन्त पुरुष की निष्ठुरता के प्रतीक हैं, और सीता-शकुन्तला नारी के ममत्त्व, त्याग और करुणा की प्रतीक हैं :—

'राजा वसन्त, वर्षा ऋतुओं की रानी,
लेकिन दोनों की कितनी भिन्न कहानी।
राजा के मुख में हंसी, कंठ में माला,
रानी का अन्तर विकल, दृगों में पानी।

× × × ×

लेखनी लिखे, मन में जो निहित व्यथा हैं,
रानी की सब दिन गीली रही कथा है।
त्रेता के राजा क्षमा करें यदि बोलूँ,
राजा-रानी की युग से यही प्रथा है।

× × × ×

नृप हुए राम, तुमने विपदाएँ झेलीं,
थी कीर्ति उन्हें प्रिय, तुम बन गयीं अकेली।
वैदेहि ! तुम्हें माना कलंकिनी प्रिय ने,
रानी ! करुणा की तुम भी विषम पहेली।

× × × ×

अयि शकुन्तले ! कैसा विषाद आनन में ?
रह-रह किसकी सुधि कसक रही है मन में ?
प्याली थी, वह विष-भरी, प्रेम में भूली,
पी गई जिसे भोली तुम लता-भवन में।

× × × ×

राजा हँसते हैं, हँसे, तुम्हें रोना है,
मालिन्य मुकुट का भी तुम को धोना है,
रानी! विधि का अभिशाप, यहाँ ऊसर में
आँसू से मोती-बीज तुम्हें बोना है।

जाति एवं धर्मगत विभिन्नता आज के समाज में आपसी होड़, संघर्ष और प्रतिहिंसा का कारण बनी हुई है। एक धर्म और जाति वाला अपने धर्म और जाति को अतिवरेण्य मानता है, दूसरों को तुच्छ, हेय और घृणित। धार्मिक-मत-विभिन्नता को प्रोत्साहन देना अज्ञानता है। वस्तुतः गरीबों और दुखियों के काम आना ही ईश-पूजा है, धर्म है। सभी धर्म समानभाव से आदरणीय और अनुकरणीय हैं।

भारत में धर्म के नाम पर पर्याप्त रक्तपात हुआ है। हिन्दू और मुस्लिम भेदभाव का मूलाधार यही धर्म या मजहब बना। धर्म की इस संकीर्ण परिधि ने हमेशा भाई को भाई के खून का प्यासा बना दिया। अंग्रेजों ने भी इसी धर्म की दुहाई देकर Divide and rule की नीति का आश्रय लेकर एक राष्ट्र को—भारत और पाकिस्तान—दो भागों में बाँट दिया। धर्म के नाम पर एक ने दूसरे की मां-बहिनों की अस्मत को लूटा। कवि इस धार्मिक संकीर्णता का घोर विरोधी है। सन् १९३८ में कांग्रेस और मुस्लिम लीग के बीच समझौता-वार्ता के असफल होने पर रचित 'तकदीर का बटवारा' कविता में हिन्दू और मुसलमानों को खूब धिक्कारा है :—

'खून ! खूं की प्यास, तो जाकर पिओ,
जालिमों ! अपने हृदय का खून ही।
मर चुकी तकदीर हिन्दुस्तान की,
शेष इसमें एक बूंद लहू नहीं।
मुस्लिमों ! तुम चाहते जिसकी ज़बाँ,
उस गरीबिन ने ज़बाँ खोली कभी ?
हिन्दुओं ! बोलो तुम्हारी याद में,
कौम की तकदीर क्या बोली कभी ?

× × × ×

खूं बहाया जा रहा इन्सान का,
सींग वाले जानवर के प्यार में !
कौम की तकदीर फोड़ी जा रही,
मस्जिदों की ईंट की दीवार में।

कवि दिनकर ने समाज की विकृतियों और अनैतिक मूल्यों के प्रति अपनी विद्रोह और आक्रोशमयी वाणी से जनमत को जाग्रत कर के युगधर्म का प्रतिनिधित्व किया है।

प्रकृति का भावुकतापूर्ण आख्यान—कवि का भावुक मन अनन्त काल से प्रकृति के रमणीय रूप पर मुग्ध होता और उसे आपने काव्य में वाणी देता आया है। विश्व-साहित्य के लगभग सभी महान् कवियों ने प्राकृतिक सौंदर्य पर कविताएँ लिखी हैं। वाल्मीकि, व्यास, कालिदास, बायरन, वर्ड्सवर्थ, रवीन्द्र आदि सभी ने प्रकृति के साथ तादात्म्य स्थापित करके अपने काव्य-प्ररोह को अंकुरित किया है। प्रकृति के रम्य प्रांगण में अटखेलियाँ करते हुए दृश्य जगत् के विविध रूपों और अगोचर व्यापारों को उद्घाटित किया है। समस्त विश्व मानव और प्रकृति के अतिरिक्त कुछ नहीं। कवियों के काव्य-विषय भी मानव और प्रकृति ही रहे हैं। यह दूसरी बात है कि कुछ कवियों के काव्य का विषय प्रधानतः प्रकृति रहा है और कुछ का मानव। बायरन के काव्य में मानवीय पक्ष गौण और प्रकृति-पक्ष प्रधान है। उसने एक स्थल पर लिखा है—I love not man the less, but Nature more (मैं मनुष्य से कम प्यार नहीं करता, पर प्रकृति से अधिक प्यार करता हूँ)। संस्कृत के महाकवि कालिदास में मानव और प्रकृति दोनों समान स्तर पर काव्य के विषय बने हैं। हिन्दी के कवियों में 'पन्त' में मानवीय पक्ष की अपेक्षा प्राकृतिक पक्ष प्रधान है। दिनकर के काव्य में सामाजिकता एवं मानवीय पक्ष मुख्य हैं और प्रकृति-प्रेम गौण।

दिनकर के काव्य में प्रकृति के भावुकतापूर्ण आख्यानों का पर्याप्त मात्रा में समावेश है। उनका प्रकृति-चित्रण प्रांजल, मांसल एवं सुरुचिपूर्ण है। जहाँ कवि सामाजिक गर्जन तर्जन से तटस्थ होकर प्रकृति की चित्रमयी रंग-स्थली में गया है, वहाँ उसने बड़े मनभावने चित्र अंकित किये हैं। 'रेणुका', जो कवि के काव्य-उपवन का प्रथम पुष्प है– की पहली रचना मंगल आह्वान' में वह प्रार्थना करता है :—

आज सरित का कल-कल, छल-छल,
निर्झर का अविरत झर-झर।
पावस की बूँदों की रिमझिम,
पीले पत्तों का मर्मर।
जलधिसांस, पक्षी के कलरव,
अनिल सनन, अलि का गुंजन,
मेरी वंशी के छिद्रों में
भर दो ये मधु-स्वर चुन-चुन।

दिनकर में प्रकृति के तीन रूप मिलते हैं। एक रूप तो वह, जब कवि सामाजिक विषमताओं के प्रति असंतोष प्रकट करता हुआ, आक्रोशमयी वाणी में, आवेश भरे स्वर से प्रकृति के उग्र रूप का आह्वान करता है, जिससे सृष्टि का समस्त कालुष्य, अनीति और दुराचार उस प्राकृतिक प्रकोप में नष्ट भ्रष्ट हो जाए और सृष्टि का पुनर्निर्माण हो। 'ताण्डव' शीर्षक कविता में यही प्रकृति का उग्ररूप वर्णित है :—

"नचे तीव्रगति भूमि कील पर,
अट्टहास कर उठे धराधर,
उपटे अनल, फटे ज्वालामुखी,
गरजे उथल-पुथल कर सागर,

गिरे दुर्ग जड़ता का, ऐसा प्रलय बुला दो प्रलयंकर !
नाचो हे, नाचो, नटवर !

घहरें प्रलय-पयोद गगन में,
अन्ध-धूम हो व्याप्त भुवन में,
बरसे आग, बहे झंझानिल,
मचे त्राहि जग के आंगन में,

फटे अतल पाताल, धंसे जग, उछल-उछल कूदें भूधर !
नाचो हे, नाचो, नटवर !

प्रकृति का दूसरा रूप वह है जब कवि किसानों और मजदूरों का पक्ष लेता हुआ नागरिक प्रकृति की अपेक्षा ग्रामीण प्रकृति को महत्त्व देता है। वह विशाल नगरों के कृत्रिम उपवनों की कटी छटी प्राकृतिक शोभा का वर्णन नहीं करता, वरन् ग्रामों की उन्मुक्त स्वर्णांचला धरणी को, रोमन्थन करती हुई गायों को, वन्य तुलसी के बिरवे की गन्ध लेकर बहती हुई हल्की पुरवैया को, काव्य का विषय बनाता है। कवि की कविता उडु के नील कुंज में स्वप्न खोजने जाना पसन्द नहीं करती, वह धूल भरे, पृथ्वी के स्वर्ग ग्रामों में विहार करना चाहती है, वह राजवाटिका छोड़कर कवि को वन-फूलों की ओर चलने की प्रेरणा देती है—

'आज न उडु के नील कुंज में स्वप्न खोजने जाऊँगी,
आज चमेली में न चन्द्रकिरणों में चित्र बनाऊँगी।
धूसर भुवन-स्वर्ग—ग्रामों में कर पाई न विहार,
आज यह राजवाटिका छोड़ चलो, कवि ! वन फूलों की ओर।
'स्वर्णांचला अहा ! खेतों में उतरी सन्ध्या श्याम परी,
रोमन्थन करती गायें आ रहीं रौंदती घास हरी।

वन-तुलसी की गन्ध लिए हलकी पुरवैया आती है,
मन्दिर की घंटा ध्वनि युग-युग का संदेश सुनाती है।

आषाढ़ के महीने में वर्षा की मन्द-मन्द फुहारें धान के खेतों में एक अजीब समा बांधती हैं, किसान की सुन्दरी प्रियतमा हरे-भरे लहलहाते खेतों को देखकर हर्षाकुल होकर अटपटे गीत गाती है, बच्चे हरियाली दूब के बिछौनों पर उमंग भरे खेलते हैं, इन्द्र-धनुष के रंगीनी खिलौनों को पाने के लिए मचलते हैं। उड़ती हुई तितली को पकड़ने के लिए दौड़ते हैं, ताली बजा-बजाकर नाचते हैं, मकई और पके आमों की सुरभि घ्राणेन्द्रिय को तृप्त करती है। प्रकृति का यह सुहावना रूप स्वर्गीय आभा के लिए भी ईर्ष्या की वस्तु है। दिनकर की कविता इन सच्चे प्राकृतिक वैभवों में क्रीड़ा करने के लिए मचल उठती है :—

'कवि, असाढ़ की इस रिमझिम में धन-खेतों में जाने दो,
कृषक-सुन्दरी के स्वर में अटपटे गीत कुछ गाने दो,
मैं बच्चों के संग जरा खेलूँगी दूब बिछौने पर,
मचलूँगी मैं जरा इन्द्रधनु के रंगीन खिलौने पर,
तितली के पाछे दौड़ूँगी, नाचूँगी दे दे ताली,
मैं मकई की सुरभि बनूंगी, पके आम फल का डाली।

तीसरा प्रकृति का रूप वह है, जो शाश्वत है, अनादि-अनन्त है, सर्वकालीन एवं सार्वदेशिक है। जिसे देखकर प्रत्येक सहृदय व्यक्ति के हृदय में एक गुदगुदी, कम्पन और सात्त्विक भावों (रोमांच, वेपथु आदि) का उदय होता है, जिसे देखकर काव्य, माधुर्य, जीवन एवं सहज स्वस्थ आनन्द मुखर हो जाता है। प्रकृति के नये सौम्य एवं मधुर रूप ही दिनकर के काव्य में उभरे-रूप में चित्रित हुए हैं। कलकल, छलछल करके बहते हुए झरने, मधुमास में पंचम-स्वर में स्वर्गीय तराने छेड़ती हुई मदभरी कोयल, चारों ओर धुली चांदनी सी बिछी हुई शरत्पूर्णिमा की धवल-चन्द्रिका, अमावस की नीरव, प्रशान्त, गहन रजनी, वर्षान्त के उमड़ते हुए सुनहरे बादल, प्रकृति के उज्ज्वल मुक्ताहार जैसे खिले हुए फूल—प्रकृति का शाश्वत वैभव हैं। प्रकृति की इस छवि पर जिसका मन नहीं रीझता, जो पुलक-स्पन्दित होकर नहीं झूम उठता और स्वरतन्त्री के तारों के संभार से मोदमयी वाणी में मुखर नहीं हो उठता, वह भी भला कवि है ?

दिनकर के काव्य में प्रकृति का आलम्बन रूप ही मिलता है, उद्दीपन रूप नहीं। प्रकृति को मानवीय स्तर पर लाकर उसे शरीरी रूप में चित्रण करने की चिर-प्राचीन प्रथा को कवि ने अवश्य अपनाया है। प्रकृति को मानवी रंग देने की छाया-

वादी प्रवृत्ति दिनकर में मिलती है। उनके प्रकृति-चित्रण में निजी निरीक्षण का पुट सर्वत्र विद्यमान है। वह केवल सुनी सुनाई परिगणनात्मक पद्धति पर आधारित नहीं है। उसमें प्राकृतिक सत्य के संश्लिष्ट जीवनानुभव वैयक्तिक आधार पर समग्रता में पैठकर उतरे हैं। अमा-सन्ध्या को श्यामपरी मानकर कवि ने मानवीय स्तर पर उसे प्राकृतिक अलंकारों से सजाया है :—

नीरव, प्रशान्त जग, तिमिर गहन,
रुनझुन-रुनझुन किसका शिंजन ?
किसकी किंकणि ध्वनि ? मौन विश्व में झनक उठा किसका कंकण।

प्रकृति का प्रतीकात्मक प्रयोग भी दिनकर ने अपने काव्य में किया है। राजा-रानी' कविता में प्रेम और करुणा का अत्यन्त मर्मस्पर्शी चित्र कवि ने खींचा है। यहाँ वर्षा करुणा, त्याग, सहिष्णुता और यन्त्रणा की प्रतिमूर्ति नारी (रानी) का प्रतीक हैं और बसन्त पुरुष की हृदय-हीनता, स्वार्थलिप्सा एवं विलासप्रियता का प्रतीक है।

'नील-कुसुम' में संग्रहीत 'पावस गीत' रचना प्रकृति सम्बन्धी कविताओं में महत्त्वपूर्ण है। यह गीत-शैली का उत्कृष्टतम उदाहरण है :—

'अम्बर के गृह गान रे, घन-पाहुन आये।
इन्द्र धनुष मेचक रुचि-हारी,
पीत वर्ण दामिनि-द्युति न्यारी,
प्रिय की छवि पहचान रे, नीलम घन छाये।

अतः दिनकर ने अपने काव्य में प्रकृति के भावुकतापूर्ण आख्यानों के विविध पक्षों को सहज एवं स्वस्थ दृष्टिकोण और गहरी संवेदनशीलता से उभारा है। उसमें प्रकृति के सूक्ष्म से सूक्ष्म पहलुओं को इस अतल-स्पर्शिनी दृष्टि से आंका गया है कि अनुभूति की आन्तरिकता और प्राणवन्त अभिव्यक्ति अनेक भावपूर्ण स्थलों पर वैशिष्ट्य के साथ मुखर हो उठी है।

प्रणय और शृंगार के मादक रूप—दिनकरजी जहाँ राष्ट्रीय, क्रान्तिवादी एवं ओजस्विनी कविताओं के कवि हैं, वहाँ सरस, कोमल एवं प्रेम-रस परिपूर्ण शृंगारिक रचनाओं की भी उनके काव्य में कमी नहीं है। हम पहले कह आये हैं कि दिनकर की राष्ट्रीयता अन्तःप्रेरणा से उद्बुद्ध नहीं है, वरन् समय की पुकार एवं परिस्थितियों की विवशता ने उन्हें समाज तथा राष्ट्र की अनुभूतियों के आधीन कर दिया। उनका मन तब भी काव्य के कोमल पक्ष का ही भक्त था। दिनकरजी ने

स्वयं सहज स्वाभाविकता और निश्छलता के साथ इस तथ्य को स्वीकार किया है—'संस्कारों से मैं कला के सामाजिक पक्ष का प्रेमी अवश्य बन गया था, किन्तु मन मेरा भी चाहता था कि गर्जन-तर्जन से दूर रहूँ और केवल ऐसी ही कविताएँ लिखूँ, जिनमें कोमलता और कल्पना का उभार हो। यही कारण था कि जिन दिनों 'हुंकार' की कविताएँ लिखी जा रहीं थीं, उन्हीं दिनों मैं 'रसवन्ती' और 'द्वन्द्व-गीत' की भी रचना कर रहा था और अजब संयोग की बात कि सन् १९३९-४० ई० में ये तीनों पुस्तकें एक वर्ष के भीतर-भीतर प्रकाशित हो गईं और सुयश तो मुझे 'हुंकार' से ही मिला, किन्तु, आत्मा मेरी अब भी 'रसवन्ती' में बसती है।'

'रेणुका' एवं 'हुंकार' कालीन कविताओं में दो चार स्थलों को छोड़कर सभी कविताएँ राष्ट्रीयता एवं क्रान्तिकारिता से ओत-प्रोत हैं। ओजस्वी कवि की वाणी से आग और विद्रोह की अपेक्षा सरस, कोमल एवं प्रेम-शृंगारमयी कविताओं को सुनकर कुछ आलोचकों को आश्चर्य हुआ। दिनकरजी ने चक्रवाल की भूमिका में लिखा है—'सन् १९३९ में जब 'द्वन्द्व-गीत' और 'रसवन्ती' प्रकाशित हुईं, प्रगतिवादियों ने उन दोनों पुस्तकों पर अपनी गहरी निराशा अभिव्यक्त की, मानों, कोई वैष्णव धर्मभ्रष्ट हो गया हो, मानों कोई योद्धा तलवार फेंककर केलि-कुंज में जा बैठा हो'।

कहने का मतलब यह है कि 'रसवन्ती' की कविताएँ कवि की उस आन्तरिक भूख की मांग हैं, जिसे प्रणय, शृंगार, कामवृत्ति या रति के नाम से पुकारा जाता है और जो सृष्टि की शाश्वत मूल-प्रेरणा है। दूसरे शब्दों में यह कहना होगा कि इस शृंगार अथवा प्रणय वृत्ति के बिना मनुष्य मानवीय कोटि में न आकर या तो देवत्व पद का अधिकारी होता है या फिर पाशविक श्रेणी का प्राणी। 'रसवन्ती' की भूमिका हमें 'रेणुका' में संगृहीत 'निर्झरिणी', 'मिथिला में शरद्', 'परदेशी', 'गीतवासिनी', 'गोपाल का चुम्बन' तथा 'हुंकार' की 'परिचय' जैसी सरस और प्रेम प्रधान कविताओं में मिलती है।

'गोपाल का चुम्बन' कविता एक अंग्रेजी कविता का भावानुवाद है, किन्तु इससे कवि के अन्तर में सोये भावुक हृदय का पता लगता है :—

'छि: छि, लज्जा-शरम नाम को भी न गई रह हाय,
ओचक चूम लिया मुख जब मैं दूह रही थी गाय।
लोट गई धरती पर अब की, उलर फूल की डार।
अबकी शील संभाल नहीं सकता यौवन का भार।
दोनों हाथ फँसे थे मेरे क्या करती मैं हाय,
ओचक चूम लिया मुँह जब मैं दूह रही थी गाय।

'गीतवासिनी' में कवि ने अपने गीतों की कल्पित प्रेयसी को सम्बोधित करके आशा-निराशा में डूबती-उतराती मोहक व्यंजनाएँ की हैं :—

'आँख में काली घटा, उर में प्रणय की प्यास,
सांस में दूँगा मलय का पूर्ण भर उच्छ्वास।
चाँद पर लहरायँगी दो नागिनें अनमोल,
चूमने को गाल दूँगा दो लटों को खोल।

वक्रधन्वा पर चढ़ा दूँगा कुसुम के तीर,
मत्त-यौवन-नाग पर लावण्य की जंजीर।
कल्पनाजग में बनाऊँगा तुम्हारा वास,
और ही धरती जहाँ, कुछ और ही आकाश।'

'हुंकार' की 'परिचय' कविता में जहाँ एक ओर कवि अपने को :—

'दबी सी आग हूँ भीषण क्षुधा की,
दलित का मौन हाहाकार हूँ मैं।
सजग संसार, तू निज को सँभाले,
प्रलय का क्षुब्ध पारावार हूँ मैं।'

—कहकर परिचित कराता है वहाँ अपने अतृप्त तृषित मन पर छाये मधुर भावनाओं के खुमार को भी यह कहकर प्रकट करता है :—

'जलन हूँ, दर्द हूँ, दिल की कसक हूँ,
किसी का हाय खोया प्यार हूँ मैं।
गिरा हूँ भूमि पर नन्दन-विपिन से,
अमरतरु का सुमन सुकुमार हूँ मैं।'

'रसवन्ती' में आकर तो मानो कवि के अन्तस् में सोया मधुमास सृजन की स्फूर्ति और स्वप्न-निर्माण का वैभव लेकर पूरी आकुलता के साथ गाने के लिए मचल पड़ता है। यहाँ कवि मन की समग्रता में आकण्ठ पैठकर बेताब जवानी की अगणित धड़कनों को भाव-शबनम की बूंदों के रूप में ढाल देता है। अबतक के अपने काव्य-उपवन की उजड़ी कटीली डार को वह नवल पुष्पाभरण पहनाना चाहता है। वह 'पतझड़ की सारिका' से कहता है :—

'सूखे विटप की डार को,
करदे हरी करुणामयी।
पढ़ दे ऋचा पीयूष की,
उग जाय फिर कोंपल नयी।

जीवन-गगन के दाह में
उड़ चल सजल नीहारिके।
सूखे विटप की सारिके।'

प्रेम का बन्धन सबसे महान् है। प्रेम की जंजीर में बँधकर कठोर से कठोर प्राणी भी कोमल और स्निग्ध हो जाता है। प्रणय की मादक अनुभूतियों से ओत-प्रोत तारुण्य की मधुवेला में प्रिय की याद सांसों के हिंडोलों पर झूलती है और प्रतीक्षा की घड़ियाँ अंगुलियों के पोरों पर गिनी जाती हैं। जब प्रेम का मधुर प्याला पीने का चसका लग जाता है, तब अक्षत माधुर्य अणु-परमाणु में एक दिव्य उद्वेलन और उन्मद प्रकम्पन भर देता है, तब दुनियाँ में जीने का स्वाद ही बदल जाता है। बाल्यकाल से यौवन के प्रथम-प्रवेश की मधुवेला में यह कम्पन मीठी इच्छाओं के साथ अजीब अल्हड़पन लेकर आता है। बाल्य और यौवन की घड़ियों का यह स्निग्ध-मिलन निर्जीव प्राणों में भी जीवन को लहरा देता है। 'बालिका से बधू' शीर्षक कविता में एक नवोढ़ा बालयुवती का बधू रूप प्रस्तुत किया गया है :—

हँस कर हृदय पहन लेता जब कठिन प्रेम-जंजीर,
खुलकर तब बजते न सुहागिन, पाँवों के मंजीर।
घड़ी गिनी जाती तब शिशिदिन उंगली की पोरों पर,
प्रिय की याद झूलती है सांसों के हिंडोरों पर।
पलती है दिल का रस पीकर सबसे प्यारी पीर,
बनती और बिगड़ती रहती पुतली में तस्वीर।
पड़ जाता चस्का जब मोहक प्रेम-सुधा पीने का,
सारा स्वाद बदल जाता है दुनियाँ में जीने का।

दिनकरजी ने प्रेम को व्यापक और उदार वृत्ति के रूप में स्वीकार किया है। उनका प्रेम क्षणिक मनोरंजन की प्रवृत्तिमात्र नहीं है, न ही वह बेताब जवानी की उत्तेजनात्मक मस्ती है, और न ही भोग की भूख एवं बाह्य हिंनाटिक प्रभाव है। प्रेम मानवात्मा के सत्य का शाश्वत स्पन्दन है। भीतर की प्राणवत्ता की आत्मविश्वास के साथ तदाकार परिणति प्रेम है। प्रेम सायंकालीन बादलों की भांति क्षणिक नहीं है, वह नील गगन की भांति गम्भीर और चिरन्तन है। प्रसादजी के शब्दों में प्रेम 'चेतना का उज्ज्वल वरदान' है। दिनकरजी ने प्रेम को जीवन की पूर्णता का साधन माना है। वह अशरीरी, अतीन्द्रिय और निर्मल है। 'प्रीति' शीर्षक कविता में उन्होंने प्रेम का यही उदार एवं आदर्शवादी दृष्टिकोण प्रस्तुत किया है :—

प्रीति न अरुण साँझ के घन सखि !
पल-भर चमक बिखर जाते जो
मना कनक-गोधूलि-लगन सखि !

प्रीति नील, गम्भीर गगन सखि !
चूम रहा जो विनत धरणि को,
निज सुख में नित मूक-मगन सखि !

प्रेम पूर्णिमा के चन्द्र की भाँति नित्यप्रति क्षीण नहीं होता, बल्कि दूज के चाँद की भांति नित्य शीतल—स्निग्ध नव रश्मियाँ बिखेरता है :—

प्रीति न पूर्णचन्द्र जगमग सखि !
जो होता नित क्षीण, एक दिन
विभा-सिक्त करके अग-जग सखि !

दूज-कला यह लघु नभ-नग सखि !
शीत, स्निग्ध, नव रश्मि छिड़कती,
बढ़ती ही जाती पग-पग सखि !

सच्चा प्रेमी तिनके की भाँति धधक-धधक कर जल जाने में प्रेमास्वाद का अनुभव नहीं करता। प्रेम का स्वाद तो तिल-तिल जलने में है। प्रेम की दर्दीली टीस ज्वालामुखी की भाँति एकदम नहीं फूट पड़ती, वह तो रिसते घाव की तरह हमेशा हरी-भरी रहती है। प्रीति के इस अपूर्व आस्वादन का चित्र कितना सजीव है :—

'तृणवत् धधक-धधक मत जल सखि !
ओदी आँच धुनी विरहिन की,
नहीं लपट की चहल-पहल सखि !
अन्तर्दाह मधुर मंगल सखि !
प्रीति-स्वाद कुछ ज्ञात उसे, जो
सुलग रहा तिल-तिल, पल-पल सखि !

प्रेम का सच्चा आनन्द प्रतीक्षा में है, मिलन से नहीं। उर्दू के कवि ने कहा है—'उतना मजा नहीं वस्ल में जितना मजा इन्तज़ार में'। मिलन में आकर प्रेमानन्द अपनी सात्त्विकता खो बैठता है। प्रेम वेदना और आन्तरिक कसक के हाहाकार की कहानी है। प्रतीक्षा प्रेम का जीवन है और मिलन मृत्यु। प्रतीक्षा में प्रेमी सजग रहता है, प्रेमी का स्नेह-प्रतिबिम्ब उसके नयन-दर्पण में उभरता रहता है। कवि सुनसान की संगिनी अपनी अज्ञात प्रेयसी को लक्ष्य करके कितनी सुन्दर भावनाएँ व्यक्त करता है। प्रणय-भावनाओं की इन्द्रधनुषी सतरंगी आभा से भरकर मन गद्गद हो उठता है :—

अयि संगिनी सुन सान की !
मन में मिलन की आस है,

दृग में दरस की प्यास है,
पर, ढूँढता फिरता जिसे
उसका पता मिलता नहीं,
झूठे बनी धरती बड़ी,
झूठे बृहत् आकाश है,
मिलती नहीं जग में कहीं,
प्रतिमा हृदय के गान की।
तुम जानती सब बात हो,
दिन हो कि आधी रात हो,
मैं जागता रहता कि कब
मंजीर की आहट मिले,
मेरे कमल-बन में उदय
किस काल पुण्य-प्रभात हो,
किस लग्न में हो जाय कब
जाने कृपा भगवान् की।
अयि संगिनी सुनसान की।

ऊपर कवि दिनकर के काव्य की विभिन्न प्रवृत्तियों की युग की व्यापक पृष्ठ-भूमि पर रखकर परीक्षा करने का प्रयास किया गया है। इसके प्रकाश में हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि उनके काव्य में युग का स्पन्दन है, जीवन में व्याप्त समाज विरोधी अनैतिक भावों के प्रति आक्रोश और विद्रोह है, साथ ही प्रकृति और मानवीय जीवन की संवेदनशील झाँकी है। सामान्य जीवन के सुख-दुःख, आनन्द-विषाद का करुण स्पर्श भी उनके काव्य में यत्र तत्र मिलता है।

देश की दशा और युग-पुकार उनकी कविताओं में सदैव प्रतिध्वनित हुई है। संहार, शोषण और बर्बरता के विरुद्ध वाणी उठाकर उन्होंने सृजन और निर्माण का पक्ष लिया है। युद्ध, आर्थिक वैषम्य और अत्याचार के समाज विरोधी प्रभाव के विरुद्ध बोलते समय दिनकर की वाणी आवेशमयी और कर्कश हो जाती है। ओज, उत्साह तथा करुणा के रूप में गहरी व्यथा दिनकर के काव्य में सर्वत्र मिलती है। आशावादिता को उन्होंने कभी नहीं छोड़ा। उन्होंने मानव की प्रतिष्ठा और मर्यादा को अनाहत और अक्षुण्ण रखा है। दिनकर के काव्य में कोई राजनीतिक मतवाद, साहित्यिक सम्प्रदाय अथवा पूर्वाग्रह-ग्रस्त जीवन-दृष्टि नहीं है, केवल शुद्ध मानव-अस्तित्व के बुनियादी प्रतिमान, मौलिक विवेक, तथा अपरिक्रान्त आत्मसत्ता का दृढ़ संकल्प है। उन्हें अपनी सामाजिक जागरूकता और उत्तरदायित्व का पूर्ण बोध है।

अपने साहित्य में वह व्यक्ति-स्वातन्त्र्य और जनहित—इन दोनों प्रतिमानों को साथ-साथ लेकर चले हैं। उन्होंने अपने काव्य में जहाँ एक ओर पूँजीवादी गली-सड़ी अर्थ-व्यवस्था से उद्‌भूत सामाजिक कुरीतियों पर कठोर आघात किया है, वहाँ वह साम्य-वाद के हिंसक विद्रोह के समर्थक नहीं बन पाये। उनमें इस मानवद्रोही पद्धति को बदल डालने का आकुल आवेग तो है, किन्तु ऐसा आवेग नहीं, जो सृजन की जगह विनाश लाये, जो चमन की जगह विध्वंस के स्फुलिंग लाये। दिनकर की क्रान्तिकारी प्रेरणाएँ राष्ट्रीयता पर आधारित हैं। मानव-मानव के बीच चौड़ी होती हुई खाई को पाटकर एकरूपता लाने का उनका शिवात्मक प्रयास है।

दिनकर को भारत की प्राचीन प्राणचेतना, परम्परागत सांस्कृतिक वैभव, प्रियदर्शन इतिहास पर पूर्ण आस्था है। साथ ही वर्तमान की अनैतिकता, दुर्बलता, दुःख-दैन्य, व्यापक वर्गद्वेष, सामाजिक दुरवस्था, अन्याय, शोषण, उत्पीड़न, क्लान्ति एवं कुण्ठाओं के प्रति उनके मन में भयंकर विद्रोह है। उन्होंने भारत के उज्ज्वल अतीत को वर्तमान की सापेक्षता में रखकर देखा है। भारत के तत्त्वत्याग और अमृत-जीवन के साथ जब वह वर्तमान के छल-कपट की तुलना करते हैं, तो उनके अन्तस् का मार्मिक कवि आह के साथ चिल्ला उठता है।

आज के वैज्ञानिक युग ने निश्चित ही विज्ञान की प्रगति के द्वारा मानव के वाह्य संसार को सुख सुविधाएँ प्रदान की हैं, किन्तु वह वाह्य विकास के साथ मनुष्य के आन्तरिक विकास का साधक नहीं बन पाया। उसने जहाँ मानव को बाहर से देवता बना दिया है, वहाँ हृदय से उसे दानवीय कोटि में पहुँचा दिया है। आज का मानव विज्ञान की प्रगति से कल्याण की दिशा में उन्मुख नहीं हो रहा, वह विनाश और विध्वंस के पथ पर अग्रसर हो रहा है। वह दिन दूर नहीं है, जब विज्ञान के अभिशप्त रूप से मानवता के विभिन्न संयोजक पहलुओं की एकता छिन्न-भिन्न हो जाएगी और सामाजिक अस्तव्यस्तता के साथ मानव जाति की सुख-समृद्धि भी समाप्त हो जाएगी। दिनकर विज्ञान के इस भस्मासुरी रूप से त्रस्त हैं। वर्तमान समाज की इस वैज्ञानिक निर्भरता और उसकी लपलपाती रक्तपिपासु जिह्वा से कवि का भावुक हृदय वेदना-व्यथित है। वैज्ञानिक शस्त्रास्त्रों की झनझनाहट से समस्त मानवता आतंकित एवं त्रस्त है। विज्ञान का सबसे बड़ा अभिशाप है संकीर्ण राष्ट्रीयता।

कवि चाहता है कि समस्त मानवता एक परिवार बने, विश्वबन्धुत्व के उदार भाव से मानव-समाज आत्म-तुष्ट होकर आपसी विश्वास, श्रद्धा और प्रेमभाव को लेकर बढ़े, धर्म-भिन्नता मानव के विकास में अवरोधक न हो, एक बार फिर विश्व में अखण्ड व्यापक एक-मानवता का स्वर्गिक प्रकाश फैले :—

'धर्मभिन्नता हो न, सभी जन
शैलतटी में हिल-मिल जायें।
ऊषा के स्वर्णिम प्रकाश में
भावुक भक्ति-मुग्ध जन गायें।'

—: ० :—

'दिनकर' का गीति-काव्य

श्री जगदीश वाजपेयी

कविता और संगीत का अटूट सम्बन्ध है। सरस्वती के एक हाथ में पुस्तक और दूसरे में वीणा का होना—इस तथ्य का प्रबल प्रमाण है। दोनों ही मानव-हृदय की रागात्मिका अनुभूति के परिणामस्वरूप जन्मती हैं। एक पर छन्द का और दूसरे पर राग-रागनियों का अनुशासन रहता है। दोनों का यह सम्बन्ध उस स्थिति में अपनी चरम सीमा पर पहुँच जाता है जब गीत या गीति-काव्य की सृष्टि होती है। वस्तुतः, आत्मगत भावोच्छ्वास पर केन्द्रित कविता संगीत का विन्यास लेकर गीत बन जाती है। पहले केवल गेय पदों को ही गीत कहा करते थे, पर कालान्तर में उसके लिए आत्मानुभूति की शर्त अनिवार्य बन गई। गीतों में रचनाकार के अन्तर्जगत् का चित्रण अपरिहार्य माना जाने लगा। इस प्रकार अब यह समझना चाहिए कि गीत की आत्मा आत्मानुभूति (Subjectivity) है, और उसका शरीर है गेयता। वैसे, हिन्दी आलोचना के क्षेत्र में गीत या गीतिकाव्य के विषय में अनेक परस्पर-विरोधी मत-मतान्तर प्रचलित हैं और सत्य यह है कि जितनी असावधानी इस शब्द के प्रयोग के विषय में हो रही है, उतनी शायद किसी दूसरे एक शब्द के प्रयोग के सम्बन्ध में नहीं हो रही होगी। कभी-कभी तो ऐसा लगने लगता है, मानो अपनी शीर्षकहीन कविताओं के लिए कवि ने इसे ही सबसे उपयुक्त शीर्षक समझ लिया है। फिर भी वाद-विवाद के झाड़-झंखाड़ से पृथक् रहकर कहना चाहें तो कह सकते हैं कि काव्य के दो भेदों—प्रबन्ध और मुक्तक में से मुक्तक के तीन भेद माने गये हैं—साधारण मुक्तक, गेयमुक्तक और प्रगीत (Lyric)। और आज इसी अन्तिम भेद को गीति-काव्य का द्योतक या समानार्थी समझना चाहिए। हिन्दी में एक प्रसिद्ध कोष* के अनुसार—'कवि की वैयक्तिक भाव-धारा और अनुभूति को उनके अनुरूप लयात्मक अभिव्यक्ति देने के विधान को गीतिकाव्य कहते हैं।'

पर, यहाँ तक तो रही गीति-काव्य के सिद्धान्त-पक्ष की बात। जहाँ तक 'दिनकर' के गीति-काव्य का सम्बन्ध है, उनकी प्रवृत्ति मुख्यतः प्रबन्ध और मुक्तक

*हिन्दी साहित्य कोश—सम्पादक डा० धीरेन्द्र वर्मा प्रभृति

काव्य की ओर रही है। इस बात को और अधिक स्पष्ट करने के लिए हमें कवि की समस्त रचनाओं का वर्गीकरण करना पड़ेगा, जो बहुत-कुछ इस प्रकार होगा :—

प्रबन्धकविता—कुरुक्षेत्र, रश्मिरथी, उर्वशी

मुक्तककविता—जिसे सुविधा के लिए चार उपवर्गों में विभक्त किया जा सकता है—(अ) वृत्तात्मक (आ) वर्णनात्मक (इ) भावात्मक (ई) गीतात्मक।

इस प्रकार हम देखते हैं कि मुक्तक कविता के उपरोक्त चार भेदों में केवल अन्तिम प्रकार की रचनाएँ विशुद्ध गीतिकाव्य के क्षेत्र में आती हैं, जो उनकी प्रभूत रचना-राशि में केवल मात्रा की दृष्टि से बहुत अधिक नहीं कही जा सकती हैं। कारण यह है कि 'दिनकर' मुख्यतः विशालता और व्यापकता के कवि हैं। उनका साहित्यकार अपनी कृतियों के रूप में बहुत विशद और व्यापक भाव-भूमि समेटे बैठा है। वह एक ही साथ श्रेष्ठ कवि, समर्थ समालोचक, सूक्ष्म विचारक, सफल सूक्तिकार तथा सरस अनुवादकर्ता है। अन्तस् से उद्भूत सरस और मधुर भावों के चितेरे-कवि होने के साथ-साथ वह मस्तिष्क से उद्भूत गहरे तथा सूक्ष्म विचारों के धनी भी हैं। सत्य यह है कि उनके साहित्य में हृदय और मस्तिष्क तत्त्व का मणि-कांचन संयोग रहा है। उनकी रचनाओं में न तो भाव ही विचारों को अकेला छोड़ पाये हैं और न विचार भावों को ही अकेला पड़ने देते हैं। आरम्भ से ही उनकी काव्य रचनाओं का यही मूल-स्वर रहा है। और ज्यों-ज्यों समय बीतता गया तथा कवि के मस्तिष्क में स्थित तत्त्वचिन्तक की विचारधारा प्रौढ़ से प्रौढतर होती गई, त्यों-त्यों 'दिनकर' की कृतियों में चिन्तन-पक्ष सबल से सबलतर होता गया है। उदाहरण के लिए उनकी आरम्भिक कृतियों—'रेणुका' और 'हुंकार' में चित्रोपम-वर्णन का बाहुल्य है, पर 'सामधेनी' और 'नील-कुसुम' में संकलित कविताओं में कवि का चिन्तन ही मुख्य रूप मे मुखर हो उठा है। प्रख्यात आलोचक डा० नगेन्द्र के शब्दों में—'.....वे एक विचारक कवि हैं'।* निश्चय ही, गीति-काव्य की रचना के लिए भावना की जिस कोमलता, कल्पना की जिस रमणीयता तथा बहिर्जगत् के कोलाहल को भूलकर अन्तर्मन की जिस मर्मानुभूति की आवश्यकता होती है, 'दिनकर' की चित्रवृत्ति उसके विशेष अनुकूल नहीं रही है। वस्तु-जगत् के सुख-दुःख, लाभ-हानि, स्तुति-निंदा आदि से नितान्त निरपेक्ष रहकर कवि जब भाव-लोक, कल्पना-कुंज तथा अन्तरानुभूति के सुरम्य क्षेत्र में विचरण करने लगता है, ऐसे ही कुछ 'दिव्य' तथा 'अन्तर्मुखी' क्षणों में विशुद्ध गीति-काव्य का सृजन होने लगता है।

सत्य यह है कि अपने चारों ओर की परिस्थितियों के प्रति आरम्भ से ही अत्यधिक जागरूक 'दिनकर' का कवि, व्यष्टि का नहीं समष्टि का कलाकार रहा है।

*विचार और विवेचन—पृ० १३२

सौभाग्य से उसका जन्म भारत के एक ऐसे प्रान्त में हुआ है जिसका अतीत जितना अधिक समृद्ध रहा है, वर्तमान उतना ही अधिक उत्पीड़ित तथा शोषित। इसी कारण कवि की दृष्टि अतिशय अन्तर्मुखी होने के स्थान पर बहिर्मुखी हो गई है। इस कथन के प्रमाण के लिये हमें अधिक दूर न जाकर उनकी कविताओं के विषय-वस्तु पर दृष्टि डालनी चाहिए, जो 'कलिंग-विजय', 'मिथिला में शरत्' से लेकर 'जयप्रकाश' तथा 'भूदान' तक को अपनी विस्तृत परिधि में समेटे है। अतः यदि कवि अपनी इस गीति-काव्य सम्बन्धिनी विवशता को संकेत कर—

संगिनि, जी भर गा न सका मैं
अग-जग घूम थका, लेकिन, अपने घर अब तक आ न सका मैं।
अथवा
सोच रहा, कुछ गा न रहा मैं।

कह उठता है, तो अपनी अन्तर्वृत्ति के प्रति पूरी ईमानदारी बरतता है और निश्छल मन से अपना हृदय खोलकर निर्भीकतापूर्वक पाठकों के सामने रख देता है।

पर उपरोक्त वक्तव्य से यह निष्कर्ष निकालना कि 'दिनकर' जी की रचनाओं में गीति-तत्त्व का सम्यक् अभाव है, निश्चय ही कवि की बहुमुखी प्रतिभा के प्रति अन्याय होगा। विवशता एक चीज़ है और अक्षमता उससे बिल्कुल भिन्न दूसरी वस्तु। ससीम मानव होने के कारण प्रत्येक कवि की निश्चित सीमायें होती हैं और 'दिनकर' अपनी सीमाओं से भली-भाँति अवगत हैं। पर यहाँ यह उल्लेख कर देना नितान्त प्रासंगिक होगा कि यदा-कदा, जीवन के अलस क्षणों में (हालाँकि अध्यापक, विचारक तथा संसद्-सदस्य श्री रामधारीसिंह के व्यस्त और कर्मठ जीवन में ऐसे क्षणों का निश्चय ही अभाव है, किन्तु सुकवि 'दिनकर' के कवि-सुलभ जीवन में ऐसे क्षणों का पूर्ण अभाव कदापि नहीं माना जा सकता है) यह 'अपने हाथ से छुट-सा गया है'। और कवि के अपने शब्दों में 'उसकी वह यात्रा, उसका यह अलस भ्रमण सुखद ही रहा है।' 'निरुद्देश्य प्रसन्नता' से मण्डित इन पलों में कवि जो कुछ कह सका है, उनमें ऐसा कुछ सरस और गीतिमय अवश्य है जिसके विषय में कवि को स्वयं यह लिखने को बाध्य होना पड़ा है कि दिन भर सूर्य के ताप में जलने वाले पहाड़ के हृदय में भी, चाँदनी की शीतलता को पाकर, कभी-कभी बाँसुरी का-सा कोई अस्पष्ट स्वर गूँजने लगता है, जो पत्थर की छाती को फोड़कर किसी जल-धारा के बह जाने की आकुलता का नाद है।'[२] कहने का तात्पर्य यह है कि गीतिमय इन पलों में

---

१ रसवन्ती (भूमिका—पृ० १)
२. वही (भूमिका—पृ० १)

कवि जो कुछ कहता या कहना चाहता है, वह उसकी अपनी बात है, उसके अन्तर्मन की आवाज़ है—मधुर, मादक और रसमयी। वह वैषम्यभरे समाज की चर्चा नहीं है, पराधीन राष्ट्र की गुहार नहीं है और किसी स्वर्णिम अतीत की विरुदावली भी नहीं है। कारण यह कि ये क्षण कवि के अपने और बिल्कुल अपने हैं। इन पर अपने से अतिरिक्त किसी पराये का अधिकार या आधिपत्य नहीं है और यह निर्विवाद है कि ऐसे ही क्षणों में श्रेष्ठतम गीतिकाव्य का जन्म होता है। किसी आलोचक ने ठीक ही लिखा है कि महाकाव्य में सम्पूर्ण जीवन, खण्डकाव्य में काल-विशेष तथा गीति-काव्य में क्षण-विशेष की व्यंजना ही मुख्य रूप से होती हैं।

रसवन्ती में कई रचनाएँ—'गीत, अगीत कौन सुन्दर है,' 'सोच रहा, कुछ गा न रहा मैं,' 'संगिनि, जी भर गा न सका मैं' प्रगीत मुक्तक वर्ग की तथा 'प्रीति', 'रसवन्ती', 'दाह की कोयल', 'अगुरु-धूम', 'रास की मुरली', 'गीत', 'अन्तर्वासिनी', 'प्रभाती' आदि गीति-शैली की प्रमुख कृतियाँ हैं। वस्तुतः, इस 'यथा नाम तथा गुण' वाली रचना में हमें प्रथम बार सुकवि 'दिनकर' में स्थित सरस गीतकार के दर्शन होते हैं क्योंकि उनकी प्रथम रचना—'रेणुका' में रेणुका के कणों पर होकर अतीत की अन्तःसलिला प्रवाहित होती है, दूसरी कृति 'हुंकार' में युग-धर्म की हुंकार अपनी पूरी प्रबलता के साथ गूँज उठी है, और तीसरी कृति 'द्वन्द्वगीत' में आन्तरिक और वाह्य द्वन्द्व—दोनों का ही इतना प्राबल्य है कि 'गीत' की गूँज 'अनुगूँज' बनकर रह गई है।

'दिनकर' जी की काव्य-साधना के अन्य आयाम है—'धूप-छांह', 'सामधेनी' आदि। पर इनमें मुख्यतः उनका कवि रूप ही प्रकट हुआ है, गीतकार नहीं। हाँ, 'कुरुक्षेत्र' में, जिसे कवि ने जानबूझ कर 'प्रबन्ध-काव्य' न कहकर 'प्रबन्ध-कविता' कहा है, एक बार फिर गीति-शैली के प्रति उसका मोह उमड़ता है और यह मोह उस समय और भी प्रबल हो उठता है जब वह पीछे मुड़ कर गुप्तजी द्वारा प्रणीत 'साकेत' और 'प्रसाद' जी द्वारा रचित 'कामायनी' जैसी उत्कृष्ट प्रबंधात्मक रचनाओं में गीति विधान का समावेश देखता है। परिणामस्वरूप, 'कुरुक्षेत्र' के षष्ठ सर्ग में एक बार पुनः वह प्रबन्ध-कविता की विरसता और परुषता (शासन, नियम, नियंत्रण, नीति, उपदेश, संयम आदि के अपरिहार्य, पर कण्टकर शूलों) को त्याग कर गीति-काव्य की 'चाँदनी की रागिनी', 'भोर की मुसकान', 'खिलती कली का राज' आदि मोम-सी कोई मुलायम चीज पाने को उतावला दीखता है। लगता है मानों युद्ध-भीत, संग्राम-संत्रस्त आज के मानव का मन तथा प्रबन्ध-काव्य की विरसता से ऊबा हुआ कवि का आकुल-अन्तस् दोनों यहाँ एकाकार और अभिन्न हो उठे हैं। 'कुरुक्षेत्र' का यह पूरा का पूरा सर्ग, जिसे कवि ने ग्रंथ के निवेदन में 'क्षेपक' की संज्ञा दी है, भले

ही परम्परा से प्राप्त नियम-विधान के अनुसार गीति-काव्य के बने-बनाये चौखटे में फिट न हो, फिर भी उसके अन्तः प्राण में बसी अनुभूति की मार्मिकता, कल्पना की कोमलता तथा अभिव्यक्ति की लाक्षणिक वक्रता उसे गीति-काव्य के बहुत समीप ला देती है। कहना न होगा कि काव्य के विभिन्न रूपों का सूक्ष्म विवेचन करने वाले साहित्य-शास्त्रियों के सामने 'कुरुक्षेत्र' का यह सर्ग एक अबूझ पहेली, एक कठिन प्रश्न तथा एक कठोर चुनौती उपस्थित कर देता है।

'कुरुक्षेत्र' के पश्चात् 'नीलकुसुम' नामक काव्य-संग्रह में 'दिनकर' का कवि पुनः गीतिकाव्य के क्षेत्र में उतरता सा दिखाई पड़ता है। इस संग्रह की कई रचनाएँ यथा-'व्याल-विजय', 'सबसे बड़ी आवाज़', 'ये गान बहुत रोये', 'नयी आवाज़', 'आनन्दातिरेक', 'कांटों का गीत', 'किसको नमन करूँ मैं', 'लोहे के पेड़ हरे होंगे' आदि इसी कोटि की हैं। यही नहीं इस संकलन की अन्तिम रचना—'हिमालय का संदेश', जो एक गीति-रूपक है, इस नई विधा में छिपी अनेक नवीन संभावनाओं की व्यंजक है। दृश्य और श्रव्य काव्य के इस संगम में जहाँ एक ओर मार्मिक-व्यापार की उद्भावना की जाती है, वहीं दूसरी ओर काव्य में संगीत के प्राचुर्य से पाठकों और दर्शकों के मन पर बड़ा गहरा प्रभाव भी पड़ता है।

'दिनकर' की काव्य-कृतियों में गीति-काव्य के इस संक्षिप्त सर्वेक्षण के पश्चात् यह जान लेना भी उपादेय ही होगा कि गीति-काव्य की कितनी विभिन्न उपविधाओं को लेकर उन्होंने रचनाएँ की हैं। गीति-काव्य का वर्गीकरण करते हुए मुख्य रूप से राष्ट्रीय गीति (जिसके अन्तर्गत वन्दना-गीति, प्रशस्ति गीति, जागरण गीति, अभियान गीति आदि स्वतः समाविष्ट हैं), वीर गीति (Ballads), करुण या शोक गीति (Elegy), संबोध-गीति (Ode), व्यंग्यगीति तथा उपालम्भगीति की चर्चा की जाती है और आगे चलकर गीतिनाट्य (Opera) एवं गीति-रूपक अथवा रूपक-गीति* को इन्हीं में जोड़ लिया जाता है।

जहाँ तक 'दिनकर' जी के गीति-काव्य का सम्बन्ध है, उपरिलिखित लगभग सभी भेद उनकी रचनाओं में प्राप्त होते हैं। उदाहरण के लिये 'हिमालय' तथा 'निर्झरिणी' शीर्षक रचनायें सम्बोध-गीति के वर्ग में रखी जा सकती हैं, 'नई-दिल्ली' को उपालम्भ-गीति की कोटि में परिगणित किया जा सकता है और 'रे प्रवासी जाग, तेरे देश का संवाद आया'—शीर्षक गीत सुविधापूर्वक जागरणगीति के वर्ग में गिना जा सकता है। पर इस प्रकार का विश्लेषण या श्रेणी-विभाजन थोड़ी दूर तक ही संभव है। कारण स्पष्ट है कि जिस विशिष्ट मनःस्थिति में कवि काव्य-रचना करता है, उसमें इन निश्चित वर्गों तथा भेदों की ओर ध्यान देने की कतई गुंजायश नहीं

*गीतिकाव्य (डा० रामखेलावन पाण्डेय) पृ० २३८

रहती है। वह तो भावावेश की दशा में हृदयगत भावों को तदनुरूप भाषा में व्यक्त करता चला जाता है। यह तो बहुत बाद में साहित्य-शास्त्रियों अथवा आलोचकों का काम हो जाता है कि वे उन सहज-प्रसूत गीतों और अन्तरोद्भूत रचनाओं के लिये श्रेणियाँ बनायें और उनमें इन्हें विभक्त करें। इसी कारण, कई ऐसी रचनायें भी मिलेंगी जो एक साथ ही दो-दो और तीन-तीन वर्गों तक में परिगणित की जा सकती हैं। उदाहरणार्थ 'रसवन्ती' में संकलित 'दाह की कोयल' और 'बालिका से बध' शीर्षक रचनायें जहाँ एक ओर 'सम्बोधगीति' के अन्तर्गत गिनी जा सकती है, वहीं दूसरी ओर वे करुण-गीति और व्यंग्य-गीति की कोटि में भी रक्खी जा सकती हैं। आलोचक की इस कठिनाई का उल्लेख करने के साथ ही प्रसंगवशात् कवि की, विशेष कर गीतकार 'दिनकर' की एक दुर्बलता का उल्लेख करना भी न्याय-संगत ही होगा और वह यह है कि जहाँ गीत में एक ही भाव की प्रधानता रहती है, उनके कुछ गीतों को छोड़कर अधिकांश में बहुधा एक से अधिक भावों का समावेश पाया जाता है, जिसके परिणामस्वरूप प्रभाव की अन्विति, जो गीत को मार्मिक तथा हृदय-हारी बनाने के लिये आवश्यक ही नहीं अपितु अपरिहार्य होती है, छिन्न-भिन्न हो जाती है और गीत के संवेग में व्याघात आ पड़ता है। कभी-कभी इसके ठीक विपरीत यह भी संभावना विद्यमान रहती है कि मूलभाव को प्रखर तथा उद्दीप्त करने के लिए कुछ सहायक भाव भी आ जाएँ, पर ऐसी संभावना केवल अपवाद रूप में ही सम्भव है।

कवि की यह प्रवृत्ति जहाँ उसके गीतकार की दुर्बलता है, वहीं दूसरी ओर उसके कवि की शक्ति है। उनकी राष्ट्रीय कविताओं में जन-मन को छूकर उसे आन्दोलित कर देने, तथा उसे सहसा झकझोर देने की जो क्षमता है, उसके मूल में उमड़ते भावों को तदनुरूप विपुल विशाल शब्द-राशि में व्यक्त कर देने की शक्ति ही है। पर, भाव-प्रवण कोमल तथा सुकुमार गीत-शिशुओं को शब्दों की 'यह उद्दाम निर्झर धार' जुड़ाने में नहीं बल्कि डराने में ही अधिक सक्षम है।

—: ० :—

अर्धनारीश्वर की भावना और दिनकर-काव्य

प्रोफेसर कमला रतनम्

"मही माँगती प्राण-प्राण में सजी कुसुम की क्यारी ;
स्व न-स्वप्न में गूंज सत्य की, पुरुष-पुरुष में नारी।" —(दिनकर)

लगभग चौथाई शती बीत गई जब मैं यूनिवर्सिटी में रिसर्च करती थी और मुझसे कहा गया था कि मैं "संस्कृत काव्य को नारी की देन" विषय पर अनुसंधान करूँ। यह बात मुझे इसलिए याद आती है कि प्रस्तुत ग्रन्थ के योगदान में भी मुझसे वही काम करने के लिए कहा गया है। दिनकर के काव्य की नारी-भावना को अलग कर लेने का काम मुझे सौंपा गया है। यह ठीक है कि मेरे छात्र-दिनों में संस्कृत विभाग का कार्यकर्तावर्ग समस्तरूपेण पुरुषों के हाथ में था जैसा कि अब भी है, और यह समझा जाता था कि नारी नारियों की भावना पुरुषों से अधिक अच्छी तरह समझ सकती है, अथवा वह स्त्रियों की कार्यशीलता में अधिक दिलचस्पी रखती है, अथवा पुरुषों के कार्य और प्रतिभा उसकी समझ और परख से बहुत ऊँचे हैं और उसे उनको उलटने पलटने का प्रयास नहीं करना चाहिए। इस बात का एक निष्कर्ष यह भी निकलता है कि पुरुष नारी के कार्य को इस योग्य नहीं समझता कि वह उस पर अपना कीमती समय और शक्ति खर्च करे, ऐसी बात नहीं कि वह स्वयं उसके मूल्यांकन में अयोग्य है। मेरा प्रयास केवल एक ही दृष्टि से सार्थक हो सकता है वह यह कि शायद नारी-नारी की व्यथा को सबसे अच्छी तरह समझ सकती है। वही "जाके पाँव न फटी बिवाई" वाली बात है।

दिनकर के कवि की क्रियाशीलता को अब तीस वर्ष से अधिक हो चुके हैं। इस बीच में नारी के बहुविध रूप उनके आगे आये हैं : परिणीता, प्रेयसी, मोहिनी, चित्रा, विचित्रा, रंजिका, रूपजीवा, साध्वी, पतिता, श्री, शारदा, देवी, कल्याणी, गृहिणी, माता, कन्या, किशोरी, वधू और समयचक्र के दूसरी बार घूमने पर कन्या और वधू की गोद भरनेवाली गौरी बालिकाएँ। स्पष्ट ही है कि जिस प्रकार पुरुष-सहयोगियों के सम्पर्क से उनके विचार और धारणाएँ मथित और आलोड़ित होकर स्वच्छ हुईं उसी प्रकार उनकी भावनायें और चिन्तन इन सब मनोहारी प्रेरणा-किरणों

से चमकीं। इस सम्पूर्ण-सामग्री में से नारी के प्रति उनकी भावना को अलग कर लेना वैसा ही होगा जैसे मोती से उसके लावण्य को उतार लेना। यदि यह संभव भी हो तो फिर मोती मोती नहीं रह जाता। कहने का मतलब यह है कि काव्य के सम्पूर्ण व्यक्तित्व की सृष्टि जिन दोनों तत्त्वों के मिलन से होती है उनको अलग नहीं किया जा सकता। नारी के विषय में कुछ भी न कहते हुए उनकी रचनाओं में जो एक प्रकार का रस, एक प्रकार का अलंकाररहित अलंकरण प्रवाहित होता है वह उसी प्रेरणा का परिणाम है जिसका पुंजीभूत रूप नारी है। आश्चर्य की बात है कि यह गुण उनकी गद्य-कृतियों में कविता की अपेक्षा अधिक दिखाई देता है।[1] दिनकर की चिन्तनपरक गद्य रचनाओं में नारी-समस्या के ऊपर विस्तृत विचार किया गया है, और यह उचित होगा कि कविता की भाषा को निचोड़ने से पहले जो बातें उन्होंने स्वयं कहीं हैं हम उनकी ओर ध्यान दे लें। वह कहते हैं : "नारियों पर अत्याचार सभी देशो के पुरुषों ने किया था, किन्तु, उन पर जैसा अत्याचार भारतवर्ष में हुआ, वैसा कदाचित्, अन्यत्र नहीं हुआ होगा।"[2] इसमें कवि की आत्मा का नारी अंश बोल रहा है। "किन्तु बुद्धि-वाद के उत्थान के साथ यह बात अमान्य होने लगी कि नैतिकता के नियम पुरुषों के लिए एक और नारियों के लिए दूसरे रखे जायें।" भारतीय समाज को जब बौद्ध, जैन और कुछ हद तक औपनिषदिक धर्म की निवृत्तिपरक प्रेरणाओं ने संन्यासोन्मुख बना दिया, जीवन का सर्वोच्च ध्येय मोक्ष हो गया तब "समाज के हट्टे-कट्टे नवयुवक भी पत्नियों को छोड़कर संन्यास लेने लगे।" इस प्रकार की उक्तियों में कवि का विचारपरक नर-अंश प्रबल हो उठा है। "उस विवशताभरी वेदना की तनिक कल्पना कीजिए जो उन पत्नियों के हृदय को दग्ध करती होगी, जिनके पति जीवन के सर्वोच्च ध्येय की खोज में उनका त्याग कर रहे थे।"[3] यहाँ कवि का मातृ-हृदय मुखर है। अजीब विषम परिस्थिति थी, न तो वे उनके उद्देश्यों का महत्त्व अस्वीकार करके अपने पतियों की निन्दा कर सकती थीं और न ही उनके साथ संन्यासिनी बनकर घर से बाहर जा सकती थीं क्योंकि पत्नी के साथ रहने से संन्यास नहीं होता। संन्यास वास्तव में गृहिणी से ही लिया जाता है जो कि संसार और इन्द्रियों से उठनेवाले सब सुखों का प्रतीक है। स्वयं दिनकर के व्यक्तित्व का यदि विश्लेषण किया जाय तो उनका बुद्धि-पक्ष उनके भावनापक्ष से अधिक प्रबल है। उन्होंने सदैव भावना के आगे कर्त्तव्य की विजय दिखायी है अर्थात् उनका नरतत्त्व नारीतत्त्व से अधिक बलशाली पड़ता है। उन्होंने स्थान-स्थान पर इस भाव को दोहराया है कि "जब जब प्रवृत्ति का उत्थान

१—'उजली आग', 'धर्म, नैतिकता और विज्ञान' तथा अन्य चिन्तनपरक ग्रन्थ इस बात के अच्छे उदाहरण हैं।

२—'पन्त, प्रसाद और मैथिलीशरण' —पृ० १६.

३— वही पृ० १६.

होता है, समाज में गृहस्थ की मर्यादा में वृद्धि होती है और तत्परिणामस्वरूप, नारियों की प्रतिष्ठा भी बढ़ जाती है। किन्तु, जब निवृत्तिवादी विचारधारा जोर पकड़ती है, तब समाज में गृहस्थधर्म की महत्ता क्षीण हो जाती है, और उसके साथ-साथ नारियों का भी मान घटने लगता है।"[4] शंकराचार्य की उक्तियों में—"नारी नरकस्य द्वारम्"—इस बात का प्रमाण मिलता है। भावना से कबीर और तुलसी के अनन्य भक्त होते हुए भी दिनकर ने कबीर की इस उक्ति को आलोचना की है कि :

"नारी तो हमहूँ करी, तब ना किया विचार।
जब जानी तब परिहरी, नारी महा विकार॥"

तथा तुलसीदास को भी नारियों के प्रति ऐसे ही कठोर विचारों का दोषी ठहराया है।[5] इस कटुता का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण करते हुए वह कहते हैं :

"कई लोग नारी-समाज की निन्दा करते रहते हैं।
मैं कहता हूँ, यह निन्दा है किसी एक ही नारी की॥"[6]

वास्तव में समस्त हिन्दी-वाङ्मय के आरम्भकाल में ही नारी घोर अनादर के गर्हित धरातल पर पहुँच गयी थी। रीतिकाल के कवियों ने नारी को केवल काम-क्रीड़ा का साधन बना रक्खा था। उनकी सारी कल्पनायें और सारा कवित्व नख-शिखवर्णन तथा नायिकाओं के विश्लेषण में ही समाप्त हो जाता था। उस काल की नारियाँ सुन्दरी मोम की गुड़िया भर हैं जिनमें मन, बुद्धि अथवा भावना का लेश नहीं है। दिनकर कहते हैं, "इसमें कोई सन्देह नहीं कि नारी को केवल कामिनी मानने से बढ़कर उसकी और कोई निन्दा नहीं हो सकती।" पतन के इस गर्त से हिन्दी-साहित्य के पुनरुत्थान का काल द्विवेदी-युग माना जाता है। द्विवेदी-युग में लोगों का ध्यान पुनः नैतिक और सामाजिक उठान की ओर गया और वेदों तथा उपनिषदों के काल में नारी के व्यक्तित्व और बौद्धिकता का जो रूप था वह उनके सामने आया। उन्हें स्मरण आया कि प्राचीन भारत में ऋषि गृहस्थ होते थे और नारियाँ मन्त्रद्रष्टा होती थीं तथा समाज के सर्वांगीण निर्माण में उनका हाथ होता था। "यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः" जैसी उक्तियों को वे दोहराने लगे। इस दशा में स्वाभाविकतया स्त्री का "सती-साध्वी, वीरप्रसविनी", पतिव्रता, आत्मवीरा और त्यागमयी रूप उनके सामने आया। नारी पुरुषों की प्रेरणादात्री समझी गयी, और उसकी दुर्गति का भागी पुरुष को ठहराया गया। द्विवेदी-काल के प्रतिनिधि कवि मैथिलीशरणगुप्त की रचनाओं में नारी के त्याग और तपस्यामय रूप को खूब

---

४. 'वट-पीपल' पृ० ७३.
५. वही पृ० ७४.
६. 'नए सुभाषित' पृ० ७.

निखारा गया। उन्होंने चुन-चुनकर ऐसी नारियों को अपना पात्र बनाया जिनमें शरीर के गुणों की अपेक्षा आत्मा के गुण ऊँचे पड़ते थे। उर्मिला, यशोधरा और विष्णुप्रिया में उन्होंने नारी के आत्मापक्ष को ऊँचा उठाया। गुप्तजी ने अपने स्त्री-पात्रों को इसलिए नहीं चुना कि वे अतिशय मोहिनी अथवा सुन्दरी थीं, प्रत्युत इसलिए कि त्याग और कर्तव्य की कठोर साधना में उन्होंने अपने इन गुणों की आहुति दे दी थी। छायावाद के आते-आते नारियों के प्रति भावना में बड़ा भारी परिवर्तन हो गया। नारी पुरुष को प्रेरणा देती थी इसलिए छायावादी नारी को पुरुष से ऊँचा और श्रेष्ठ मानने लगे। परन्तु कल्पना-लोक के कवि होने के कारण उन्होंने नारी को इतना ऊँचा उठा दिया कि वह उनके यथार्थ जीवन से बाहर हो गयी और उस देवी को अपने मिट्टी से सने हाथों से छूना वे उसे कलंकित करने के समान समझने लगे। उनकी नारी की कल्पना आकाश में पहुँचकर किसी अतीन्द्रिय जगत् में तिरने लगी और मिट्टी से उसके पैर उखड़ गये। फलतः छायावाद में नर-नारी का भेद बढ़ता ही गया; दोनों को एक दूसरे का हाथ हाथ में लेकर काम करने का अवसर न मिला।

दिनकर नारी के प्रति निवृत्ति की भावना को तथा शृंगार-कालीन भोग की भावना दोनों को ही अतिवादी सिद्धान्त मानते हैं जो "अन्ततः अस्वस्थ भावों को जन्म देते हैं। सदा की भाँति यहाँ भी मध्यम मार्ग स्वास्थ्य का मार्ग है। नारी के गोचर-रूप के भीतर एक और रूप है जिसका सत्कार किये बिना नारीत्व का सही सत्कार नहीं हो सकता।"[7] दिनकर नारी को न देवी समझते हैं और न भोग्या, उसे वह मनुष्य समझते हैं, और सन्तुलित मनुष्य वही है जिसमें बुद्धि और भावना, परुषता और मृदुता, नर और नारी के वैशिष्ट्य एक दूसरे का उत्कर्ष करते हों। छायावादी कवि नारी का रूप पहचानने में बहुत दूर तक पहुँच गये, 'परन्तु उन्होंने गंगा के कूल पर पहुँचकर गंगा-स्नान नहीं किया।' रवीन्द्रनाथ, प्रेमचन्द, पन्त और प्रसाद सबने नारी के कोमल भावना-तत्व को देखा, उसके चाँदनी और शांतलता देनेवाले गुण की प्रशंसा की—

"नारी यदि नारी हय·····तबे तार सार्थक जनम।
की होइबे कर्म-कीर्ति, वीर्यबल, शिक्षा-दीक्षा तार?"

रवीन्द्रनाथ की इस उक्ति की आलोचना करते हुए दिनकर ने छायावादी कवियों की नारी भावना को "काम का प्रच्छन्न किन्तु उग्ररूप" माना है।[8] नारी के

७. 'बट-पीपल' पृ. ७४.
८. वही पृ. ७५.

व्यक्तित्व को अभी तक उसके भौतिक नारीत्व के अन्दर सीमित रखा गया है, इस सीमा से छुटकारा पाने पर ही वह अपना पूरा व्यक्तित्व प्राप्त कर सकती है। नारी का व्यक्तित्व उसके शारीरिक संमोहन से भिन्न वस्तु है और बिना अपने व्यक्तित्व को बनाये वह स्वतन्त्र नहीं हो सकती। नारी के प्रति स्वस्थ दृष्टिकोण कौन-सा है इसका उत्तर देते हुए दिनकर कहते हैं कि वह जिससे गान्धी और मार्क्स उसे देखा करते थे, अर्थात् नारी न तो पुरुष की प्रेरक शक्ति है और न उसकी पूरक—दोनों का स्वतन्त्र अपना-अपना व्यक्तित्व है। यह भावना अनेक स्थलों पर उनकी कविता में व्यक्त हुई है। 'रसवन्ती' में यदि उसकी झलक दिखायी देती है तो 'उर्वशी' में उसका पूरा चित्र उतर आया है।

"रसवन्ती" की पहली कविता 'नारी' में कवि ने नारी को बहुत कुछ पुरुष की प्रेरणा ही माना है[9], परन्तु विशेषता यह है कि वह केवल प्रेयसी-रूप में ही प्रेरणा नहीं देती, प्रत्युत प्रत्येक रूप में, प्रत्येक आयु में वह पुरुष की प्रेरणाप्रतिमा है। पुरुष सम्पूर्ण जीवन नारी से शक्ति और जीवन ग्रहण करता है, पर अघाता नहीं :

"तुम्हारे अधरों का रस प्राण !
वासना-तट पर, पिया अधीर ;
अरी ओ मां, हमने है पिया
तुम्हारे स्तन का उज्ज्वल क्षीर।
पिया शैशव ने रस-पीयूष
पिया यौवन ने मधु मकरन्द ;
तृषा प्राणों की पर, हे देवि !
एक पल को न सकी हो मन्द।"

"रसवन्ती" की दूसरी कविता 'नारी' में नारी के तीन चित्र हैं ; तितली, अबला अथवा विवशा और माता। समग्ररूप में यह कविता नारी के केवल चर्मस्पर्शी हलके-फुलके प्रभाव की उपेक्षा करती है क्योंकि केवल त्वचा पर खेलने वाला प्रभाव कोई गहरी प्रेरणा नहीं देता, वह तो व्यभिचारी भाव की तरह उठकर विलीन हो जानेवाला भाव है, "जल पर की रेखा है जो आती और चली जाती है, जो प्राण-पुरुष को नहीं जगा सकती। पुरुष वज्र-लेख का भूखा है और वज्र-लेख लिखनेवाली नारी "अभी तक तुम में सात पत्थरों के नीचे दबी है।" घूँघट में लिपटी नारी को देखकर कवि की सहानुभूति सजग हो जाती है और वह उसका नकली घूँघट-पट उतारकर उसे अपनी 'इज्जत' का असली कवच पहनाना चाहता है, जो उसे स्वतन्त्र

९—यह उस काल की कविता है जब कवि अभी छायावाद से उठने का प्रयत्न कर रहा है।

रूप से जीने की दिशा देगा। परन्तु दिनकर का कवि भी नारी के प्रेयसी और पत्नी रूप को ही स्वतन्त्रता दे पाया। जहाँ उसका माता-रूप उसके सामने आता है, उसे उसके सबल, सम्पूर्ण और स्वतन्त्र व्यक्तित्व को उभारने में कठिनाई अनुभव होती है। माँ बनते ही नारी को अपने जन्म का ध्येय झलकता है, जिस जीवन से वह दूर ही दूर घूमती थी उसके निकट अब उसका बेटा उसे ले आया है।

"जग के संघर्षों में नारी सीधा योग नहीं देती,
बेटों के मुख से अपना संदेश कहा करती है"

यह बहुत कुछ नारी का 'वीर-प्रसविनी' रूप है। मातृ-भाव के अंकुर ने आगे चलकर 'उर्वशी' में पूर्ण-परिणत जटा-पल्लवित वट का रूप धारण कर लिया है। मातृ-भाव ही वह कसौटी है जिस पर दिनकर की 'स्वतन्त्र-नारी' की धारणा खरी नहीं उतरती। निश्चय ही यहाँ कवि की अवचेतना काम कर रही है, क्योंकि जिस पुत्र का पिता दो वर्ष की आयु में ही स्वर्ग चल बसे और सुन्दरी माता सबला भी हो, उसे यदि स्त्रियों में मातृत्व अधिक दिखायी देने लगे तो इसमें कोई आश्चर्य नहीं। (दिनकरजी की प्रगाढ़ मातृ-भक्ति के विषय में यह घटना शायद लोगों को ज्ञात नहीं है कि पिता के स्वर्गवास के बाद जब उनके छोटे भाई का जन्म हुआ तो वह उसके मुख से माता का स्तन हटाकर स्वयं पीने लगते थे। प्रेयसी रूप में भी नारी थोड़ी ही देर उनके सामने ठहर पाती है, लौट फिरकर उसका माता रूप ही उन्हें ग्रसित कर लेता है। इस 'ओब्सेशन' अतिभावना ने उन्हें कितना आक्रान्त किया है इसके लिए उनकी कविता 'कत्तिन का गीत' देखिए, 'यह रूई का तार कि फूटा जग-जननी का पय है।')

एक और भावना जिसने कवि के सम्पूर्ण यौवन और प्रौढ़ता के पहले भाग की कृतियों को निरन्तर आक्रान्त किया है, वह है पुरुष के अपने पौरुष और अहंकार का ऊसर, अपनी वीरता तथा मांसपेशियों की शक्ति रूपी मरुस्थली, जिसमें क्रोध, अभिमान, गौरव तथा युयुत्सा के अंधड़ चला करते हैं :—

"शीश पर जलता हुआ दिनमान,
और नीचे तप्त रेगिस्तान।
.....
बालुओं का दाह मेरे ईश!
.....
चिलचिलाती धूप का यह देश,
.....
लाल चिनगारी यहाँ की धूल।" [10]

१०—'रसवन्ती' —(दाह की कोयल) पृ० २७.

"मुझ में जलन है, प्यास है,
रस का नहीं आभास है।" [11]

और जिसका आभास उसे नारी की हरियाली देख कर होता है :

"जिस दिन देखा यह हरित स्रोत,
अपने ऊसर का ज्ञान हुआ।"

प्रकाश को जाने बिना अन्धकार का ज्ञान नहीं होता। उसी प्रकार नारी की सरसता जाने बिना व्यक्ति को अपने अहंकार के ऊसर का भी ज्ञान नहीं होता। 'पुरुष-प्रिया' कविता में कवि कहता है कि प्रारम्भ में जब पौरुष-मदमत्त पुरुष ने पहली बार नारी के अम्लान, अक्षत सौंदर्य को देखा तो वह उसका स्वतन्त्र नारी-रूप था, तब तक वह पुरुष की ग्रीवा का हार नहीं बनी थी, और उस समय उसके मुख से जो प्रथम 'प्रिया' शब्द निकले वे अत्यन्त पवित्र आत्ममय थे। "रसना की प्रथम ऋचा निर्मल", यही भाव आगे चलकर 'उर्वशी' में और मंज गया है :

"जहाँ त्रिया कामिनी नहीं, छाया है परम विभा की,
जहाँ प्रेम कामना नहीं, प्रार्थना, निदिध्यासन है।" [12]

परन्तु प्रार्थना की शिखा पर पुरुष देर तक नहीं टिक सकता। वह जो शृंग देख कर दौड़ कर उस पर चढ़ जाता है, जलराशि देख कर कूदकर उसमें तैरने लगता है और वन की सघनता देखकर उसमें अभियान करता है, नारी-रूप के आभरणों, 'मुक्ता-सुवर्ण' पर ललच गया, उसका धैर्य छूट गया, और 'क्या ले और क्या छोड़े' यह भेद न जान सका।

"पा सका न मन का द्वार लुब्ध,
भग चला कुसुम का तन लेकर।"
"तरुणी-उर को कर चूर्ण, खोजने
लगा सुरभि का कोष कहाँ ?
प्रतिमा विदीर्ण कर ढूँढ रहा
वरदान कहाँ ? सन्तोष कहाँ ?" [13]

इस समय नारीत्व का जो सम्पूर्ण ज्ञान कवि खोज रहा था वह उसे नहीं मिला, इसके लिए उसे तीस साल की प्रतीक्षा करनी पड़ी। उर्वशी के साक्षात्कार के बाद ही ऊसर में फूल फूटे।

११—वही—आमुख।
१२—'उर्वशी'—पृ० १५१.
१३—'रसवन्ती' पृ० ७२.

'कुरुक्षेत्र', 'रश्मिरथी' तथा बीच के काव्यों में नारी-भावना—दिनकर के काव्य-सृजन में नर-भावना और नारी-भावना का एक लयपूर्ण छन्द चलता है। जैसे 'रेणुका' और 'हुंकार' में ताण्डव, हिमालय, कस्मै देवाय, आलोकधन्वा, दिगम्बरी जैसी ओजपूर्ण रचनाएँ हैं तो 'रसवन्ती' में गीत-अगीत, बालिका से वधू, दाह की कोयल, नारी और पुरुष-प्रिया जैसी कोमल और रसमय रचनायें हैं। इसके पश्चात् 'कुरुक्षेत्र' पुरुष के क्रोध, अभिमान और वीरता का काव्य है जहाँ विचारों और तर्कों की स्वस्थता और सबलता से काव्य में शक्ति का स्फुरण होता है। विचारप्रधान कृति होने के कारण यह कवि के नर-पक्ष की द्योतक है : "सबसे बड़ा धर्म है नर का सदा प्रज्वलित रहना।"[14] इसी काल का दूसरा पक्ष (नारी-पक्ष) 'रश्मिरथी' है जहाँ नायक का तेज और शौर्य उसके भावनापक्ष में है। कर्ण निश्चय ही वीर है, परन्तु उसकी वीरता हृदय की वीरता है, वह दान-वीर है। युद्ध को आसन्न देखकर भी वह इन्द्र को अपने कवच और कुण्डल दान दे देता है, तथा कुन्ती को असन्माता जानकर भी चार पाण्डवों को न मारने का वचन दे देता है। उसकी उदारता की सीमा चरम को छू लेती है जब वह अपनी प्राणघातिनी माँ के परिष्वजन में भी वात्सल्यरस में डूब जाता है। अर्थात् यहाँ मनुष्य के बुद्धितत्त्व की अपेक्षा उसके हृदय-तत्त्व को अधिक उभारा गया है। ऐसा नहीं है कि कवि जानबूझकर तर्क और भावना से आँखमिचौनी खेल रहा है, तर्क और भावना का ठोक-पीटकर ताना-बाना बैठाना उसका दूसरा स्वभाव ही बन गया है। 'रश्मिरथी' की भूमिका में कवि स्वयं कहता है : "कुरुक्षेत्र की रचना कर चुकने के बाद ही मुझ में यह भाव जगा कि मैं कोई ऐसा काव्य भी लिखूँ जिसमें केवल विचारोत्तेजकता ही नहीं, कुछ कथा-संवाद और वर्णन का भी माहात्म्य हो।" कहने का मतलब यह कि विचारों के नीरस दांव-पेचों के बाद लेखक को प्रबन्ध-काव्य की सरसता की आवश्यकता महसूस होती है। प्रकृति में भी हम यही उन्नमन-नमन देखते हैं; कड़ी मशक्कत के बाद विश्राम और विश्राम के बाद ताज़गी और फिर से मशक्कत करने की प्रेरणा; धूप के बाद छाँह और चाँदनी और चाँदनी के बाद फिर धूप। 'उर्वशी' यदि रसानुभूति की आकुल निर्झरिणी है तो यह अपनी बड़ी बहिन 'नीलकुसुम' की हिमालय का सन्देश, कांटों का गीत और नींव का हाहाकार जैसी कक्तिाओं की खुरदुरी विचार-शिलाओं को ही चिकना करने के लिए बही है। वस्तुओं के दोनो पक्षों, तर्क और भावना को, अच्छी तरह तौल कर देखने की प्रवृत्ति कवि की भाषा, शैली यहाँ तक कि शीर्षकों

१४. 'कुरुक्षेत्र' पृ. ६१.

के चुनाव में भी दिखायी देती है ।[15] दिनकर की रचनाओं की उपरोक्त विशेषता के कारण उनके एक आलोचक को प्रसन्नराघव की एक सूक्ति याद आती है :

"येषां कोमलकाव्यकौशलकलालीलावती भारती
तेषां कर्कशतर्कवक्रवचनोद्गारेऽपि किं हीयते ?
यैः कान्ताकुचमण्डले करुहाः सानन्दमारोपिता-
स्तैः किं मत्तकरीन्द्रकुम्भशिखरे नारोपणीयाः शराः ?"

सोचने और अनुभव करने की यह लयात्मक प्रवृत्ति आगे चलकर अर्धनारीश्वर की भावना को जन्म देती है। "नारी और नर एक ही द्रव्य की ढली दो प्रतिमाएँ हैं। आरम्भ में दोनों बहुत कुछ समान थे।"[16] "उन दिनों नर बलिष्ठ और नारी इतनी दुर्बल नहीं थी, न आहार के लिए ही एक को दूसरे पर अवलम्बित रहना पड़ता था। नारी की पराधीनता तब आरम्भ हुई जब मानव जाति ने कृषि का आविष्कार किया।"[17] जीवनक्षेत्र दो भागों में बँट गया 'घर' और 'बाहर', नारी घर में और पुरुष बाहर रहने लगा। घर का जीवन अधिकाधिक सीमित होने लगा और बाहर का निस्सीम ; घर की छोटी जिन्दगी में नारी बाहर के बड़े जीवन के प्राणी पुरुष की अधिकाधिक अधीना होती चली गयी। इसका कुपरिणाम यह हुआ कि पुरुष में नर के गुण कर्कशता, कठोरता आदि बेतरह बढ़ने लगे और युद्ध तथा अत्याचार और परस्वत्वहरण के रूप में उनका प्रदर्शन होने लगा। नारी में क्षमा, दया, संकोच, कोमलता आदि वे गुण, जो पुरुषों को पसन्द आते थे और उसके श्रम और कर्कशता को हर लेते थे, अधिक विकसित हुए। इन गुणों को नारी-सुलभ' कहा जाने लगा और नारी पूर्ण रूप से पुरुष की आश्रिता बन गयी। इसका फल यह हुआ कि संसार में असन्तुलन बढ़ गया है, "आधी दुनिया उछलने कूदने, आग लगाने और उसे बुझाने में लगी हुई है, और आधी दुनिया फूलों की सैर में है।"[18]

१५—उदाहरण के लिए 'उजली आग' में नर-नारी और 'नील-कुसुम' में हिमालय का सन्देश नामक रचनाओं में पदों और वाक्यांशों को भावों के साथ क्रमशः पूर्वापर बैठाना, 'उर्वशी' की भूमिका की भाषा में भावोचित पदच्छेदों का संतुलित उतार-चढ़ाव तथा शीर्षकों में जैसे, "धूप-छाँह', 'अर्धनारीश्वर", 'वट-पीपल' आदि। छन्दों के चुनाव में भी कवि की बहुत कुछ यही मनोदशा प्रतिबिम्बित होती है।

१६—'वेणुवन'—पृ. ७। और भी देखिये 'उजली आग' पृ. ३३-३४-३५ "अर्धनारीश्वर, जिसकी कविता में ज्ञान की रीढ़ होगी और अर्धनारीश्वर, जिसके ज्ञान में कवित्व का लोच होगा।"

१७—'वेणुवन' पृ. ३.

१८—वही पृ. ८.

भय यह है कि आग बढ़ती ही जाती है और यदि नारियाँ इस ओर से उदासीन रहीं तो पुरुषों का संसार तो नष्ट होगा ही उनका भी "फूलों और रेशमी वस्त्रों का संसार" उसकी चपेट से बच नहीं सकता। 'नर और नारी के प्रचलित सम्बन्धों का मनोवैज्ञानिक प्रभाव संसार के इतिहास पर पड़ रहा है।' संसार के युद्धों का इतिहास नर में पुरुषों के गुणों के अतिशय विकास का तथा नारी में उन्हीं गुणों के अन्यतम परिहार का इतिहास है। 'कौरवों की सभा में सन्धि की बातचीत यदि दुर्योधन और कृष्ण के बीच न होकर कुन्ती और गान्धारी के बीच हुई होती तो बहुत सम्भव था कि महाभारत नहीं मचता।' कहने को यह बात असम्भव-सी लगती है परन्तु अनुभव यही है कि आज युद्ध के शमन और मैत्री की पुकार सबसे जोर से उन्हीं देशों में उठ रही है जहाँ की औरतों ने नारी के गुणों के साथ-साथ अपने व्यक्तित्व में पुरुषों के गुणों का भी अधिकाधिक समावेश किया है। जितने दिन मैं रूस में रही वहाँ की माताओं और स्त्रियों के मुख से बराबर मैंने यही बात सुनी।[1७] रूस से लौटने पर कवि दिनकर को भी वैसा ही अनुभव हुआ होगा क्योंकि नवम्बर १९६१ में मास्को से लौटने पर पटना की सम्मान-सभा में उन्होंने कुछ ऐसी बातें कही थीं जिनका यही अर्थ निकलता है कि रूस में औरतें कुछ अधिक मरदानी होती जा रही हैं, और इस बात का प्रभाव उनके देश और सम्पूर्ण अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थिति पर पड़ रहा था।

भारतवर्ष के इतिहास में वैदिक-काल ही सुख, शान्ति और सन्तोष का स्वर्ण-काल माना जाता है। इस काल में ऋषि विवाह करते थे, नर और नारी आश्रम बना कर साथ-साथ गृहस्थ जीवन बिताते थे। कृषि का अधिक विकास न होने के कारण दोनों के कार्यक्षेत्र भी बहुत कुछ एक थे। इसी काल में अनसूया, गार्गी, लोपामुद्रा आदि स्त्री मन्त्र-द्रष्टाओं का वर्णन आता है। वैदिक-काल में हम भयंकर युद्धों अथवा नर के द्वारा नर के संहार का वर्णन नहीं पाते। सम्पूर्ण वैदिक वाङ्मय में यदि मनुष्य को किसी चीज से भय है तो वह प्रकृति की भिन्न-भिन्न शक्तियों से है जिनको उसने देवता का रूप दे रक्खा था। परन्तु महाभारत-काल तक कृषि-सभ्यता जोर पकड़ गयी थी तथा नर और नारी का कार्य-क्षेत्र विभक्त हो गया था। समाज की इस व्यवस्था का परिणाम मनुष्य की मानसिक वृत्तियों पर भी दिखायी दिया और उनमें असन्तुलन का आविर्भाव हुआ। इसका उग्ररूप 'कुरुक्षेत्र' में कौरवों की सभा में दिखायी देता है, जब भरी सभा में नारी का अपमान होता है और पुरुष सिर झुकाये बैठा रहता है :

१९—देखिये "पोवेस्त ओ जोये इ शूरे"—"जोधा और शूरा की कथा"—ल्यूबोव कास्मोदेम्यान् स्काया—मास्को १९४९.

"नर की कीर्ति-ध्वजा उस दिन कट गयी देश में जड़ से,
नारी ने सुर को टेरा जिस दिन निराश हो नर से।"[20]

पुरुष के पौरुष की सार्थकता इसी बात में है कि वे संसार में क्षमा, दया, तपस्या, सौन्दर्य, सौरभ और कला जैसे गुणों की रक्षा करें जिनकी नारी प्रतीक है। भीष्म के चरित्रांकन में भी कवि की अर्धनारीश्वर भावना क्रियाशील है। भीष्म ने ब्रह्मचर्य लेकर केवल नर के ही कठोर गुणों को अपनाया था। पाण्डवों को हृदय से चाहते हुए भी उन्होंने कर्त्तव्यपालन के लिए कौरवों की सेवा स्वीकार की थी। परन्तु युद्ध के मैदान में उनकी चिरकाल से दबी नारी-भावना जाग उठी :

"ब्रह्मचर्य के प्रण के दिन जो
रुद्ध हुई थी धारा,
कुरुक्षेत्र में फूट उसी ने
बन कर प्रेम पुकारा"।[21]

पुरुषों में यदि पौरुष और स्नेह का असन्तुलन न होता "तो स्यात् देश को कुरुक्षेत्र का दिन न देखना पड़ता।"[22] अर्धनारीश्वर के गुण 'कुरुक्षेत्र' काव्य के मानसिक आलोड़न में भी निकले हैं, 'न्याय और राजनीति का रूप स्नेह की सिद्धि से पूर्ण होता है।' (Justice tempered with mercy.) पंचम सर्ग में जब भीष्म युधिष्ठिर से विधवाओं पर राज्य करने की तीखी बात कहते हैं तब वह युद्ध के परिणामों से आक्रान्त नारी की दुर्गति की ही बात सोचते हैं, विज्ञान द्वारा कला के ग्रास की बात सोचते हैं, इससे युधिष्ठिर में निर्वेद और आत्मग्लानि जगती है। छठे अंक में फिर मस्तिष्क और हृदय के सामंजस्य की बात है, वही अर्धनारीश्वर की नपी-तुली मूर्ति जिसमें एक तत्त्व के भी आगे बढ़ जाने से समत्व—"बैलेन्स—" नष्ट हो जाता है तथा ध्वंस और संहार के चर छूट निकलते हैं।[23]

"ज्ञान के मरु में सुकोमल भावना की धार
चाँदनी की रागिनी, कुछ भोर की मुस्कान ;
धूम, कोलाहल, थकावट धूल के उस पार,
.....

२०—"कुरुक्षेत्र" पृ. ५८.
२१—वही पृ. ६७.
२२—वही पृ. ७०.
२३—वही पृ. ९७.

आदमी काटे जहाँ कुछ छुट्टियाँ, कुछ शाम,
"हो जहाँ पर बैठ नर कुछ पल स्वयं में लीन—
.....
फूल सा एकान्त में उर खोलने के हेतु।"[24]

और—

"श्रेय होगा मनुज का समता-विधायक ज्ञान,
स्नेह-सिंचित न्याय पर नव-विश्व का निर्माण।"[25]

युद्ध की विभीषिका से ऊब कर युधिष्ठिर जब संन्यास लेना चाहता है तब भी अकेले निर्वेद का परिहार करके भीष्म निवृत्ति और प्रवृत्ति के सामंजस्य की ही शिक्षा देते हैं। वे कहते हैं संन्यास घर या सांसारिक चीजों से नहीं लिया जाता, वह हमेशा जीवन से लिया जाता है। संन्यास जीवन से पलायन है।[26] अकेले अपने ही लिए मुक्ति खोजना एक पंथ है, दूसरे को साथ लेकर स्वर्गलोक जाना दूसरा पंथ है और इनमें से अपर ही श्रेष्ठ है :

"होता विदा जगत से, जग को
कुछ रमणीय बना कर,
साथ हुआ था जहाँ, वहाँ से
कुछ आगे पहुंचाकर।"[27]

काव्य का अन्त युधिष्ठिर को इस उपदेश से होता है कि मनुष्य के मृण्मय और चिन्मय, नर और नारी तत्त्व में एक नवीन स्वस्थ, प्रवृत्तिपरक, कर्मनिष्ठ साम्य बनाया जाय जो जीवन से भागे नहीं बल्कि उसका सामना करे, उसे और आगे ले जाये।

पुरुषों ने जीवन की यज्ञभूमि के बहुत से हिस्से पर अपना कब्ज़ा जमा रखा है, इसीलिए यज्ञ पूरा नहीं होता। 'जीवन-यज्ञ में नारी का भी अपना हिस्सा है और वह हिस्सा घर तक ही सीमित नहीं, बाहर भी है। जिसे भी पुरुष अपना कर्म-क्षेत्र मानता है, वह नारी का भी कर्मक्षेत्र है। नर और नारी दोनों के जीवनोद्देश्य एक हैं।"[28] आजकल साहित्य-समीक्षा में नारी-भावना की जो खोज चल पड़ी है वह भी नये स्वास्थ्य का चिन्ह है। इसमें पुरुषभावना की अतिवृद्धि से आक्रान्त नारी-

२४—वही पृ. ९८.
२५—वही पृ. १०३.
२६—वही पृ. १३०.
२७—वही पृ. १४१.
२८—'वेणुवन' पृ. ८.

भावना को स्वतन्त्र करने का प्रयास है। इसका परिणाम अन्ततः यही होगा कि जीवन के जिन क्षेत्रों से अभी तक पुरुष ने नारी को बहिष्कृत कर रखा है वहाँ अब नारी की भावना प्रवेश करेगी।

नर और नारी मृण्मय और चिन्मय प्रेरणाओं के स्थूल रूप—नर और नारी जिन प्रेरणाओं के स्थूल रूप हैं, मृण्मय और चिन्मय तत्त्व उन्हीं के सूक्ष्म रूप हैं। शिव शव हैं, मिट्टी हैं, चेतना तो उन्हे शिवा शक्ति से प्राप्त होती है। आपस में अन्योन्याश्रय सम्बन्ध से बंधे रहने पर भी इन दोनों तत्त्वों में जो शाश्वत संघर्ष चला करता है उसकी विराट् अनुभूति दिनकर की नवीनतम काव्यकृति 'उर्वशी' में है।

'उर्वशी' काव्य में पुरूरवा और उर्वशी विश्वनर और विश्वनारी के प्रतीक हैं। अपनी कविता के प्रथम उन्मेष में कवि को प्रकृति से तादात्म्य के क्षणों में नारी के विराट् रूप के दर्शन अवश्य हुए थे, परन्तु यह विश्व में नारी-तत्त्व की अनुभूति थी और इससे भिन्न थी :

"खोल दृग देखा प्राची ओर
अलक्तक चरणों का शृंगार,
तुम्हारा नव, उद्वेलित रूप,
व्योम में उड़ता कुन्तल भार।" [29]
"सूर्य, शशि, उडु जिनकी नखज्योति
पुरुष उन चरणों का उपहार।" [30]

समस्त प्रकृति को मातृ-रूपिणी, जगदम्बा शक्ति के रूप में देखने वाले कतिपय भक्त सन्तों के दृष्टिकोण के समान यह बहुत रहस्यवादी दृष्टिकोण था, कारण उस समय कवि छायावाद के बहुत निकट था और छायावादी कल्पना तथा रहस्य से छूट जाना उसके लिए सम्भव न था। 'उर्वशी' के समय तक कवि को मनन और चिन्तन का बहुत समय मिल गया और बुद्धि की सहायता से यह चिन्तन स्वच्छ भी हो उठा। 'उर्वशी' में काम और अध्यात्म की समस्या पर विचार किया गया है। उर्वशी "उत्कट अभिलाषा, अपरिमित वासना, इच्छा अथवा कामना है।" वह काम का प्रतीक है, स्वर्ग की अमरता छोड़कर इन्द्रियों का सुख भोगने पृथ्वी पर आयी है। पुरूरवा "नाना प्रकार के रव से आक्रान्त मनुष्य है।" इन्द्रियों के सुखों से उठी हुई नाना ध्वनियों को वह पीता है, परन्तु वे उसे सन्तोष देने के साथ-साथ किसी अन्य लक्ष्य की ओर उद्वेलित भी करती हैं। इन्द्रियों के सुख की कामना करता हुआ भी वह उस सुख से आगे निकलना चाहता है, यह प्रेरणा अध्यात्म की है, और पुरूरवा उसका प्रतीक

२९—'रसवन्ती' पृ. १०.
३०—वही पृ. ३३.

है। काम और अध्यात्म में निरन्तर जो संघर्ष चलता आया है उसका निराकरण किसी एक को अच्छा और दूसरे को बुरा बताने से नहीं हो सकता। अभिनव मनोविज्ञान के द्वारा प्रेम की उदात्तीकृत स्थिति में इन दोनों का सामञ्जस्य हो सकता है। इस काव्य में उस स्थिति को कवि ने 'समाधि' कहा है। पुरुषार्थ के तीन अंग, जिनका मनुष्य के लौकिक जीवन से सम्बन्ध है, उनका उसके अभ्यन्तर जीवन से भी सम्बन्ध है। पुरुषार्थ का काम-पक्ष मनुष्य के जैव धरातल से सम्बन्ध रखता है, अर्थ-पक्ष बुद्धि के धरातल से, और धर्मपक्ष आत्मा के धरातल से। जीवन में सफलता तभी मिलती है जब जैव और बौद्धिक धरातल के कार्य आत्मा के धरातल से अथवा संबुद्धि से प्रेरित हों, यह बहुत कुछ वही बात हुई जैसे यह कहना कि अर्थ और काम धर्म की प्रेरणा से चल।

'उर्वशी' में निष्काम-काम की कल्पना की गई है, अर्थात् भौतिक काम अध्यात्म के प्रकाश से चमका है। प्रेम ने केवल अंगों में ही सौंदर्य नहीं भरा है, आत्मा का भी शृंगार किया है। "पहले प्रेम स्पर्श होता है, तदनन्तर चिन्तन भी।"[31] प्रेम जब शरीर के धरातल से उठकर आत्मा के धरातल का स्पर्श करता है तब उसकी व्याख्या वही हो जाती है जो कला की है। श्रेष्ठ कविता वह है जो भौतिक से उठकर पारभौतिक सौंदर्य का अनुभव करे, व्यष्टि से उठकर समष्टि में फैल जाय, दिनकर इसे 'फ़िज़िकल को लाँघ कर मेटाफ़िज़िकल हो जाना' कहते हैं। धर्म, अर्थ और काम तीनों ही जीवन में अनिवार्य तत्त्व हैं और तीनों के ही सत्सामञ्जस्य से जीवन सफल हो सकता है :

"धर्मार्थकामं सममेव सेव्यं
य एक सेवी स नरो जघन्यः।"

इसलिए यद्यपि 'उर्वशी' मनुष्य की मानवता की वेदना का काव्य है और सन्देश देना उसका प्रयोजन नहीं है फिर भी उसमें "वैराग्य नहीं रागों से मैत्री," "निषेध नहीं स्वीकृति और समन्वय" के संकेत की ध्वनि है। वह काम और अध्यात्म में संघर्ष नहीं "सहज, स्वच्छ, प्राकृतिक जीवन" के आधार पर दोनों के सह-अस्तित्व का संकेत करता है। ये विचार उन रसिक-भ्रमरों के लिए बहुत निराशाप्रद सिद्ध होंगे जो केवल मृण्मय काम-काव्य की आशा से शृंगाररस की कविता में हाथ लगाते हैं। भारतीय साहित्य की प्राचीनतम परम्परा में साहित्य का प्रत्येक अंग, यहाँ तक कि व्याकरण भी, ईश्वर-प्राप्ति का एक साधन समझा जाता था, फिर काम द्वारा मनुष्य चरमार्थ क्यों नहीं पा सकता ?

३१—'उर्वशी' पृ. ६२.

"नहीं इतर इच्छाओं तक ही अनासक्ति सीमित है
उसका किञ्चित् स्पर्श प्रणय को भी पवित्र करता है।" [32]

वह चरमार्थ जो 'अतल, अनादि, अनन्त पूर्ण, बृंहित और असीम है, देश-काल से परे जिसकी समाधि के शिखर पर चेतना जाकर ठहर जाती है, "उड़ता हुआ विशिख अम्बर में स्थिर समान लगता है।"[33] वह अनुभूति जिसमें भूत, भविष्य, वर्तमान केन्द्रित हो जाते हैं और देश का भी अन्तर मिट जाता है :

"महाशून्य का उत्स हमारे मन का भी उद्गम है,
बहती है चेतना काल के आदिमूल को छूकर।"[34]

समाधि की अनुभूति इतनी विकल और विश्व-जनीन है कि वह स्रष्टा और सृष्टि के भेद को चीर कर ईश्वर रूपी परम अद्वैत तत्त्व पर पहुँच जाती है :

"यह अरूप आभा-तरंग अर्पित उसके चरणों पर
निराकार जो जाग रहा है सारे आकारों में।"[35]

और तब नारी और नरतत्त्व, मृण्मय और चिन्मय एकाकार हो जाते हैं :

"देह डूबने चली अतल मन के अकूल सागर में,
किरणें फेंक अरूप रूप को ऊपर खींच रहा है।"[36]

और अन्त में उस अतीन्द्रिय, अगोचर सुख का वर्णन करने में वाणी मूक हो जाती है, "भाषा रूपाश्रित, अरूप है वह तरंग प्राणों की।"[37]

इस प्रकार पाठक को काम-सुख को एकायन समाधि की अनुभूति देकर कवि निष्काम-काम की व्याख्या करता है। निष्काम-काम फलासक्ति से मुक्त क्रिया है, उसमें तन की या मन की भूख मिटाने की प्रेरणा नहीं रहती, न एक का दूसरे पर अधिकार रहता है, दोनों एक दूसरे के निकट रहकर भी इस प्रकार अलग रहते हैं कि स्वतन्त्रता की वायु उनके बीच अनवरुद्ध सञ्चरित होती रहे। यह काम अनायास स्फुटित होता है जैसे फूल खिलते हैं और सीपी के खुले हृदय में स्वाति की बूँद आकर गिर पड़ती हैं :

"लिया-दिया वह नहीं, मात्र वह ग्रहण किया जाता है।"[38]

३२—'उर्वशी' पृ. ४६.
३३—वही पृ. ६९.
३४—वही पृ. ७०.
३५—वही पृ. ७१.
३६—वही पृ. ७३.
३७—वही पृ. ७४.
३८—वही पृ. ८६.

पुत्रकामना भी जिसका ध्येय नहीं है :

"निरुद्देश्य, निष्काम काम-सुख की अचेत धारा में,
सन्तानें अज्ञात लोक से आकर खिल जाती हैं।"[39]

आदर्श तो यह है कि नारी और नर समत्व के शिखर पर एक हैं, परन्तु दैनिक जीवन में वे उस स्तर के नीचे उतर आते हैं। नर फिर नर हो जाता है और नारी नारी। आदर्श पूर्णता का द्योतक, है और पूर्णता मृत्यु है। अपूर्णता जीवन है इसीलिए यथार्थ जीवन हमेशा अपूर्ण रहता है। इसे इस प्रकार भी कहा जा सकता है कि अपूर्ण की पूर्ण को पाने की क्रिया का नाम जीवन है, और जब पूर्णत्व प्राप्त कर लिया गया तो क्रिया स्थिर हो जाती है और जीवन नहीं रहता। जीवन शब्द की व्युत्पत्ति में ल्युट् प्रत्यय निरन्तर क्रियाशीलता का वाचक है।

"उर्वशी" में तीसरे सर्ग के बाद चौथा सर्ग भी आता है जो शकुन्तला के चौथे अंक की भाँति करुण और वात्सल्य-रस से पूर्ण है। नारी की ममतामयी माँ की मूर्ति कवि को सबसे अधिक आच्छादित करती है, उसकी शीतल छाया में वह अपना दर्शन भूल जाता है :

"और नारियों में भी श्लथ, गर्भिणी सत्वशीला को
देख मुझे सम्मानपूर्ण करुणा-सी हो आती है।
कितनी विवश, किन्तु कितनी लोकोत्तर वह लगती है।"
"देह-कान्ति पीतिमा-युक्त, गति नहीं पदों के वश में"
"सत्ववती नारी अंकन-पट है भविष्य के कर का"

और इससे अधिक स्तुति क्या हो सकती है :

"नारी ही वह महासेतु जिस पर अदृश्य से चल कर
नये मनुज, नव-प्राण दृश्य जग में आते रहते हैं।
नारी ही वह कोष्ठ, देव, दानव, मनुष्य से छिपकर
महाशून्य, चुपचाप, जहाँ आकार ग्रहण करता है।"[40]

मृण्मय और चिन्मय तत्त्वों की अकल्प-समाधि की कल्पना के बाद मातृत्व जैसे अतिशय मृण्मय कार्य के प्रति कवि की गहरी आस्था से अनुमान हो सकता है कि मातृत्व की भावना ने उसे कितना ग्रसित कर रक्खा है। माता के स्तनों के दूध में मनुष्य के रक्त का राग घुलकर स्वच्छ हो गया है। यह सच है कि उसका उद्भव काम के मदमाते आरक्त सोतों से होता है, परन्तु वह माता के हृदय के आकाश में

३९—वही पृ. ८६.
४०—उर्वशी पृ. ११६-११७.

पहुँच कर अमृत का क्षीर बन जाता है और उसे प्रत्येक दिशा में अपरिमेय बना देता है। यह श्रेय मातृत्व को ही है कि काम-कक्ष में जो नारी अपने आनन्द की पूर्ति चाहती है, प्रसूति-गृह से निकल कर वही आत्मविस्मृता, आत्मसंवर्धिता हो जाती है, एक प्रकार से वह अपने को ही और अधिक पूर्णरूप में पाती है।[41] यहाँ कवि की न्यायदृष्टि सन्तानोत्पत्ति का सारा श्रेय माता को दे डालती है, प्रजा-सृष्टि में पिता का क्या भाग है, यज्ञ का सारा काम तो नारी ही पूर्ण करती है :

"और वही शिशु को ले जाती मन के उच्च निलय में।"[42]

चतुर्थ अंक में उर्वशी के अपने पुत्र को छोड़कर राजधानी लौट जाने का प्रसंग है, स्वभावतया इस प्रसंग में करुण-रस का ही निर्वाह होना चाहिए था, परन्तु कवि ने यहाँ वात्सल्य को इतना विकसित किया है कि उसके उद्रेक में करुण बिलकुल दब गया है, इससे उर्वशी के चरित्र को एक अपूर्व गौरव और दृढ़ता मिली है।

अर्धनारीश्वर की कल्पना की पूरी परिभाषा करते हुए दिनकर कहते हैं : "अर्धनारीश्वर केवल इसी बात का प्रतीक नहीं है कि नारी और नर जब तक अलग हैं तब तक दोनों अधूरे हैं, बल्कि इस बात का भी कि जिस पुरुष में नारीत्व नहीं वह अधूरा है, एवं जिस नारी में पुरुषत्व नहीं वह अपूर्ण है।"[43] यद्यपि इस कल्पना को अपनी विचारधारा में साकार करने के लिए कवि नारी जाति का विशेषकर भारतीय नारी वर्ग का आभारपात्र है, परन्तु फिर भी यह नहीं कहा जा सकता कि यह कल्पना उसके काव्य में साकार उतरी है। और इसमें कोई विरोध नहीं क्योंकि कवि यन्त्र की तरह एक काल से दूसरे काल में संक्रमण नहीं किया करते। जैसे वर्तमान कभी पूर्णरूप से स्वतन्त्र नहीं होता उसी प्रकार उनकी कृतियों में अतीत और भविष्य की छाया वर्तमान पर पड़ती रहती है। समाज और रूढ़ि की शृंखलाओं के बन्धन बड़ी मुश्किल से टूटते हैं। लेनिन ने कहा था, "समाज में रहना और समाज से स्वतन्त्र हो जाना यह असम्भव है।" इसी सिद्धान्त पर सोवियत रूस में समाज हित साहित्यिक समीक्षा का एक बड़ा अंग बन गया है। 'उर्वशी' के अन्तिम अंक में कवि के ऊपर समकालीन हिन्दू समाज की और अपने अग्रज कवियों की गहरी छाप पड़ी है। पुरूरवा के संन्यास ले लेने के बाद औशीनरी की मनोदशा बहुत कुछ यशोधरा और विष्णुप्रिया जैसी ही हो जाती है, और लगभग शब्दशः वैसे ही भाव बरबस संस्कारवश

४१—रसवन्ती पृ. ६२.
४२—'उर्वशी' पृ. १२४.
४३—'वेणुवन' पृ. ९.

उसके मुह से निकल पड़ते हैं। नीचे के उद्धरणों में राष्ट्रकवि मैथिलीशरण की स्पष्ट छाया है :

"और हाय, तब भी मैं केवल त्रिया, भीरु नारी हूँ,
रुदन छोड़ विधि ने सिरजा क्या और भाग्य नारी का।"[44]
"जो भी हो आपदा, मुझे दो, मैं प्रसन्न सह लूँगी,
देव ! किन्तु मत चुभे तुच्छतम कंटक भी प्रियतम को।"[45]

और

"चले गये देवता बिना ही कहे बात इतनी भी
हतभागी ! उठ, जाग, देख मैं मन्दिर से जाता हूँ।"[46]
"गृहिणी की यदि सुने, गेह से कौन निकल सकता है ?
.....
अचरज नहीं, आपसे मिलकर नृप यदि नही गये हैं।"[47]

औशीनरी का चरित्र अभिनव मनोविज्ञान में ऐसा है जिसे अविकसित अथवा ध्वस्त (frustrated) व्यक्तित्व कह सकते हैं, जिसमें पुरुष की पूरी पुकार की प्रतिक्रिया नहीं हो सकती। उर्वशी इसलिए जीतती है कि उसमें साहस, शौर्य, उद्दामता आदि पुरुषों के गुण भी विकसित हुए थे, जीवन के जैव और काम-पक्ष में वह अर्धनारीश्वर की कल्पना के अतिनिकट पहुँची हुई थी, और औशीनरी इसलिए हारती है "कि मेरे व्रीडा-विकल दृगों में खुली धूप की प्रभा, किरण कोलाहल की गड़ती थी।" क्योंकि वह बाह्य-जीवन के तरंगाकुल समुद्र से बची रही जहां नर और नारी साथ मिलकर जीवन से संघर्ष करते हैं। कवि पुरूरवा के सन्यास की प्रशंसा नहीं करता क्योंकि प्रेम के मृण्मय आधार के अचानक लुप्त हो जाने के कारण वह संन्यास ग्रहण करता है, उसका संन्यास अस्वस्थ संन्यास है जैसे उस बालक का रोना, जिसके चारों ओर पात्र के अकस्मात् टूट जाने से दूध बिखर गया हो, अथवा हाथ में लिए हुए मदिरापात्र के अचानक चूर-चूर हो जाने पर मद्यप का मदिराद्वेष।[48] नारी-तत्त्व सृष्टि के मूल में छिपा हुआ है। परन्तु इतिहास उसी नारी की कथा कहता है जिसमें पुरुषों के गुण भी बाहर आये हों। जोन ऑफ आर्क, महारानी एलिज़ाबेथ प्रथम, मादाम क्यूरी तथा झाँसी की रानी लक्ष्मीबाई ऐसी ही नारियाँ

४४—'उर्वशी' पृ. १५५.
४५—वही पृ. १५७.
४६—वही पृ. १५७.
४७—वही पृ. १५८.
४८—वही पृ. १६१.

थों जिनमें पुरुषों के गुण भी बाहर आये थे। स्वयं उर्वशी भी इसी कोटि की थी, परन्तु कवि की दृष्टि में ऐसी नारियाँ दो चार ही होती हैं, क्योंकि नारी स्वभावतया मानवता के गुणों के अधिक निकट होती है, "नारी की सहज भूमि धूप नहीं छाया है।"

"नारी क्रिया नहीं, वह केवल क्षमा, क्षान्ति, करुणा है।
इसीलिए, इतिहास पहुँचता जभी निकट नारी के,
हो रहता वह अचल या कि फिर कविता बन जाता है।[49]

परन्तु समस्या का निदान यहाँ भी नहीं हो पाता। नर के गुणों का विकास यदि अधिक हो तो सृष्टि में अत्याचार फैलकर हाहाकार मच जाता है, और यदि नर का निर्माण नारी करने लगे, जैसा कि आयु के साथ हुआ, तो वह निर्बल हो जाता है और लड़ाई में हार जाता है। निष्कर्ष यह है कि जब तक जीवन है समस्याएँ तब तक बनी रहेंगी। उनका हल तभी हो सकता है जब प्रत्येक व्यक्ति में नर और नारी के गुणों का समान रूप से सामंजस्य हो, जब मृण्मय और चिन्मय तत्त्व समता की समाधि में हों। परन्तु सृष्टि तभी होती है जब इस समता में व्याघात पड़ता है, जीवन समता अथवा पूर्णता में नहीं है, समता और पूर्णता वह आदर्श हैं जिनकी ओर बढ़ने का जीवन एक असम और अपूर्ण प्रयास है।

जीवन की अनिवार्य अपूर्णता को स्वीकार करते हुए कवि उसी नारी को आदर्श मानता है जिसमें नारीत्व अधिक और पुरुषत्व कम हो, जो औघट में पड़ी पुरुष की नाव को छिगुनी की शक्ति लगाकर फिर चला दे और स्वयं इतिहास के पृष्ठों से लुप्त हो जाये। अर्धनारीश्वर की कल्पना आदर्श है, जो सदैव आदर्श रहेगी, परन्तु तथ्य यह है कि यदि नारी को नारी-रूप में आना है तो उसे नारी के गुणों का कुछ अधिक विकास करना पड़ेगा क्योंकि अर्धनारीश्वर के स्तर पर नर नारी में कोई भेद नहीं रहता।

—: ० :—

४९—वही पृ. १६४.

दिनकर का सांस्कृतिक राष्ट्रीय चिन्तन

श्री सेवाराम यात्री

किसी साहित्यकार के सृजनात्मक मूल्यों एवं उपलब्धियों पर विचार करते समय उसके व्यक्तित्व का स्वतः ही प्रत्यक्षीकरण हो जाता है तथा उसके साहित्य की किसी भी विधा पर चिन्तन करते समय उसके व्यक्तित्व में संयोजित मानदण्डों की रूप-रेखा भी स्पष्ट हो जाती है। यदि उसके पास पीठिका के रूप में गहरे चिन्तन-दर्शन की भूमिका नहीं है तो उसकी उपलब्धियाँ जीवन के बहुविध पक्षों का उद्‌घाटन करने में असमर्थ होंगी। चूँकि साहित्य जीवन के सर्वांग को आत्मसात् कर लेता है, फलतः वह साहित्यकार के जीवन-दर्शन का पुष्ट प्रतीक होता है। जिस साहित्यकार के पास पीठिका के रूप में गहरा जीवन-दर्शन, सूक्ष्म-चिंतन और व्यापक दृष्टि नहीं होगी, निश्चय ही जीवन के सागर में उसकी पैठ गहरी नहीं हो सकती। कवि का कार्य सत्य और सौंदर्य का उद्‌घाटन करना है। आन्तरिक सत्यों की स्थापना करने वाले कवि के पास यदि विचारणा की व्यापक एवं निर्मल दृष्टि नहीं है तो वह मौलिक उद्‌भावनाओं की प्रतिष्ठा करने में असमर्थ है।

आधुनिक साहित्य पर दृष्टि-निक्षेप करते समय उन्नीसवीं शती के पुनर्जागरण की भावभूमि को भी दृष्टि में रखना आवश्यक है। भारतेन्दु युग में हमारी प्राचीन-मान्यताएँ खंडित हो गई और राजनीतिक, धार्मिक तथा सामाजिक मान्यताओं को परखने की एक नवीन दृष्टि प्राप्त हुई। हमारे आधुनिक साहित्य की पृष्ठ-भूमि सुधारवाद, भावुकता और राष्ट्रीय-चेतना के विविध सूत्रों से निर्मित है। जागरण काल के साहित्य में साहित्य को परखने की कसौटी ही बदल गई। भारतेन्दु से हमें विरासत के रूप में जो मान-दण्ड प्राप्त हुए उनमें आदर्शवाद एवं सुधार-परक दृष्टिकोण विशेष हैं। कहना न होगा कि उन्नीसवीं शती के उत्तरार्द्ध से चली आती हुई दृष्टि ही द्विवेदी काल के समस्त साहित्य का मेरूदण्ड है। भारतेन्दु और द्विवेदी काल के साहित्य चिन्तन की पार्श्वभूमि में राष्ट्र-भावना का ही स्वर विशिष्ट है, भाव और रूपाकार के प्रति भी दोनों की समान दृष्टि है। जब हम आधुनिक साहित्य की विशिष्ट काव्य-विधा को लेकर उसकी गति विधियों पर विचार करते हैं तो हमें द्विवेदी युग की प्रखर राष्ट्र-चेतना का

का सम्मोहन हठात् अपनी ओर आकर्षित कर लेता है किन्तु साथ ही यह भी स्वीकार करना पड़ता है कि काव्य का उच्छल प्रवाह एवं उद्दाम सरसता यहाँ बहुल मात्रा में रुक्षता में परिणत हो गई है। द्विवेदी-कालीन इतिवृत्तात्मकता के विरोध में जो स्वच्छन्दतावादी धारा आई उसे छायावाद नाम दिया गया। छायावाद के अन्तर्गत जहाँ एक ओर उन्मुक्त आशा-आकाँक्षाओं की अभिव्यक्ति हुई, व्यक्तिवाद और कुण्ठाओं का दुर्दम वेग फूटा, वहाँ दूसरी ओर राष्ट्रीयता एवं सांस्कृतिक चिन्तन की भी पृष्ठभूमि तैयार हुई। छायावाद के स्वस्थ पक्ष को लेकर कहा जा सकता है कि उसका विद्रोह अत्यन्त संयमित और सन्तुलित था और उसकी मौलिकता निर्द्वन्द्व थी। इसी भूमिका के सन्दर्भ में हम कवि दिनकर के उदय के दर्शन कर सकते हैं। दिनकर का आविर्भाव छायावादी काव्य-धारा के उन्मेष-काल में हुआ। जिस युग में हिन्दी कविता अपने वायवीपन, दुरूहता और विस्मयोत्तेजन के कारण सूक्ष्मतर एवं अति मानसिक होती जा रही थी, दिनकर राष्ट्र-चिन्तन एवं सांस्कृतिक-चेतना का ज्वार लेकर काव्य-क्षेत्र में उतरे। उनके काव्य में अपराजेय पौरुष के स्वर गूंज उठे। उन्नीसवीं शताब्दी के नव्य जागरण का सशक्त स्वर दिनकर के काव्य में सर्वांगीण होकर ध्वनित हुआ। लाक्षणिकता तथा संकेतात्मकता के बाहुल्य से राष्ट्रीयजीवन की अभिव्यक्ति अपेक्षाकृत कुंठित सी हो रही थी कि दिनकर ने गुरु गम्भीर स्वरों में नवयुग की भैरवी छेड़ दी।

बीसवीं शती के द्वितीय दशक में द्विवेदी जी के काव्यगत स्थूल मानदण्डों का बड़ी उग्रता से विरोध हुआ किन्तु भारत के प्रांगण में छिड़े मरणोत्यौहार पर सूक्ष्म-काव्य की काकली अपना मोहक आवरण डालने में समर्थ न हो सकी। जहाँ एक ओर छायावादी कवि आत्मलिप्त होकर कला के सूक्ष्म भेदों का विश्लेषण करने में व्यस्त थे वहीं दूसरी ओर गुप्त जी, माखनलाल चतुर्वेदी, नवीन तथा सुभद्राकुमारी चौहान—राष्ट्र के सम्मुख उपस्थित विकट संघर्ष में जूझ रहे थे। दिनकर इसी काव्य धारा के अन्तर्गत आते हैं। इस दिशा में स्वयं दिनकर के शब्द ध्यान देने योग्य हैं—

"छायावादी युग में पाठकों के बीच हिन्दी कविता की बहुत कुछ प्रतिष्ठा राष्ट्रीय कविताओं ने रखी।" —'मिट्टी की ओर'

दिनकर के प्रारम्भिक काव्य में आक्रोश और उत्तेजना के स्वर बहुत समर्थ होकर फूटे हैं। चूँकि दिनकर लोक-जीवन में घुल मिलकर काव्य-सृजन कर रहे थे। अतः भारतीय जनता के उस संघर्ष से भी वे अछूते नहीं रहे जो वह साम्राज्य-वाद से जूझने में कर रही थी। भारतीय जनता को उत्साह, प्रेरणा और स्फूर्ति की आवश्यकता थी, कर्म और पौरुष के स्वर ही उसके संघर्ष को उद्दीप्त कर

सकते थे। दिनकर ने भारतीय जनता की इस आकांक्षा की पूर्ति की और स्वतन्त्रता संग्राम में जूझने वाले भारत की आत्मा को अपनी हुंकार से झकझोर दिया। साथ ही उनके काव्य का परिवेश उनकी भावधारा के अनुकूल रहा। इस दिशा में उनके निम्न उद्‌गार लक्ष्य करने योग्य हैं—

"जागृत युग के स्वप्न फूलों से नहीं चिंगारियों से सजाए जाते हैं। केवल कारीगरी इस युग के तूफान को बाँधने में असमर्थ है। अभिनव सरस्वती अपने को धुएँ और धूल की रुक्षता से बचा नहीं सकती। वर्तमान युग का सच्चा प्रतिनिधित्व करने के लिए हमें इसकी अधिक-से-अधिक गर्मी को आत्मसात् करना होगा कि हम इसकी अनुभूतियों के शिखर-प्रदेश पर खड़े हो सकें। कारीगरी के लिए यह आवश्यक न भी हो, लेकिन जिसने अपने समय का प्रतिनिधित्व करने के मनसूबे बाँधे हैं, उसे तो इसके प्रवाहों का निर्भीक होकर आलिंगन करना होगा।"

('मिट्टी की ओर' पृष्ठ ६६)

राष्ट्रीयता और सांस्कृतिक चिंतन दिनकर के काव्य में घुल-मिल गए हैं। दिनकर ने सांस्कृतिक विचारधारा को अपनी राष्ट्रीयता के घोल में गला लिया है। पौरुष और ओज उनके काव्य के मुख्य उपादान हैं। कला की सज्जा का मोह दिनकर में नहीं है। भावना की सच्चाई और तीव्रता ही उनका प्रतिपाद्य है। भावना की प्रखरता में ही उनकी कला का मूल उत्स है। दिनकर के व्यक्तित्व पर प्रकाश डालने वाले बेनीपुरीजी के निम्नलिखित उद्‌गार स्पष्ट कर देते हैं कि दिनकर के काव्य में उनके व्यक्तित्व की तेजस्विता कहाँ तक रच-पच गई है—

"दिनकर का समस्त जीवन संघर्ष का रहा है और इसलिए संघर्ष दिनकर के जीवन का मुख्य भाग बन गया है। इन संघर्षों में दिनकर को सफलता भी मिली है, इसलिए संघर्ष की कटुता से दिनकर का व्यक्तित्व विशृंखल और लक्ष्य भ्रष्ट नहीं हुआ, दिनकर के अन्दर वाली सात्त्विकता और कल्याण की भावना को ठेस नहीं पहुँची। लेकिन इसके साथ-साथ यह भी सत्य है कि इन संघर्षों ने दिनकर को किसी हद तक कठोर बना दिया है।"

दिनकरजी ने भारत के अतीत गौरव की कुहेलिका में झाँककर देखा और उन्हें वर्तमान भारत की शक्ति का विघटन और मानवीय मूल्यों का ह्रास देखकर भारी क्षोभ हुआ, इसी विषमता को देख कर उनके काव्य में संवेदनात्मक तीव्रता उभरी। दिनकर की प्रारम्भिक कृतियों 'रेणुका' तथा 'हुंकार' में क्रांतिपरक ओजस्विता के दर्शन होते हैं। क्रान्ति के उद्दाम वेग को वाणी देते समय उनकी दृष्टि भारत के विस्मृत वैभव पर केन्द्रित होती है। उदाहरण के लिए हम 'रेणुका' की अत्यन्त सशक्त कविता 'हिमालय' को ले सकते हैं। इस कविता में दिनकर ने भारत

के समस्त सांस्कृतिक वैभव को जीवन्त कर दिया है। भारत के विपन्न वर्तमान को देखकर कवि 'हिमालय' से पूछता है कि भारत के अतीत वैभव को किस दुर्धर्ष शक्ति ने अपहृत कर लिया ? कवि ने राष्ट्रचिंतन करते हुए पुण्यभूमि भारत पर एक महान विपत्ति का अनुभव किया तथा उन कराल व्यालों का उल्लेख किया जिन्होंने चतुर्दिक् भारतसन्तान को डसने का षड्यन्त्र फैला रखा था। क्षोभ और रोष में डूबी कवि की वाणी अभिव्यक्ति की समस्त तीव्रता लेकर फूट पड़ी—

"तू पूछ अवध से राम कहाँ ?
वृन्दा बोलो घनश्याम कहाँ ?
ओ अवध कहाँ मेरे अशोक ?
वह चन्द्रगुप्त बलधाम कहाँ ?"

('हिमालय')

भारतवर्ष का स्वर्णयुग कवि को जलता हुआ दीख पड़ा तथा सान्त्वना के लिए कोई अवलम्ब नहीं मिला। अतः कवि करुणा-कातर होकर दृढ़तापूर्वक गर्जना कर उठा—

"प्राची के प्रांगण बीच देख
जल रहा स्वर्ण युग अग्नि जाल,
तू सिंहनाद कर जाग तपी
मेरे नगपति ! मेरे विशाल।"

('हिमालय')

दिनकर की सांस्कृतिक निष्ठा अत्यन्त व्यापक एवं वेगपूर्ण है। वह भारत की पुरातन संस्कृति का चिन्तन केवल उसके वैभव के स्वरूप का स्मरण करने के लिए नहीं करता बल्कि वह अतीत और वर्तमान के असन्तुलित वैषम्य को दिखाकर, प्राणों में एक नवीन चेतना तथा स्फूर्ति का संचार करना चाहता है। उसने 'प्रसाद' की भाँति पौराणिक और बौद्ध-कालीन संस्कृति का उच्छ्वसित होकर स्मरण नहीं किया, उसका अभीष्ट अतीत के सन्दर्भ में वर्तमान की विषण्णता दिखाना ही रहा है। वह 'कपिलवस्तु' से बुद्धदेव के उपदेशों का उल्लेख करके, उनके उपदेशों पर प्रश्न-वाचक चिन्ह लगाता है तथा 'वैशाली' के भग्नावशेषों से लिच्छवी के लुप्त वैभव की करुण-गाथा पूछता है। उसे विद्यापति की तरंगायित करने वाली माधुर्यमयी वाणी कहीं खोजे नहीं मिलती। उस लुप्त विभव पर दृष्टिपात करके कवि का रोष और भी उद्दीप्त हो उठता है, शायद इसीलिए वह धर्मराज युधिष्ठिर को इस संघर्षरत धरा पर नहीं रोकना चाहता। वह गाण्डीव-गदा के धनी, अर्जुन और भीम को पुनः इस पृथ्वी पर लौटाना चाहता है। दिनकर का अतीत-चिन्तन ऐसा नहीं है कि हम

कल्पना का अवलम्ब लेकर युगों की प्राचीर तोड़ दें और सपनों की अलका नगरी में जा बैठें और वर्तमान के प्रति तटस्थता की दृष्टि ग्रहण कर लें। दिनकर का मन्तव्य उस वैभव की झलक दिखाकर हमारे बढ़ते हुए रोष को उद्दीप्त करना है। देश का उद्दाम यौवन क्या इस आमंत्रण की उपेक्षा कर सकता है—

तू मौन त्याग कर सिंहनाद,
रे तपी ! आज तप का न काल।
नव-युग शंखध्वनि जगा रही,
तू जाग जाग मेरे विशाल !

दिनकर की प्रारम्भिक कृतियों से यह भली भाँति स्पष्ट हो जाता है कि कवि भारतीय संस्कृति के स्वरूप से पूर्णतया अभिभूत है। उसे भारतीय संस्कृति का स्मरण विचारोत्तेजन एवं उन्मुख होने की प्रेरणा देता है। कवि-कर्म का निर्वाह करते हुए, दिनकर ने सदैव पौरुष को ही स्वर दिया है। यही कारण है कि अपने युग के अन्यान्य छायावादी कवियों के सांस्कृतिक चिंतन के साथ उसका सामञ्जस्य नहीं बैठता। केवल 'निराला' इस कथन के अपवाद कहे जा सकते हैं। छायावाद काल के कवियों में विशेष रूप से 'प्रसादजी' की सांस्कृतिक पृष्ठभूमि अत्यन्त सुनियोजित एवं व्यापक है। उनका सांस्कृतिक निरूपण बहुत गम्भीर है और गौरव की भूमि प्रतिष्ठित करता है, किन्तु वर्तमान के सन्दर्भ में वह कारुण्य ही जगाता है; उद्दाम रोष और उद्बोधन का वहाँ एकान्त अभाव है। यह अन्तर उचित भी है क्योंकि कवि प्रसाद मुख्य रूप से आनन्द की वृत्ति के कवि हैं। दिनकर के काव्य में 'रेणुका' भारत के पौराणिक अतीत को लेकर चलती है किन्तु 'हुंकार' तक आते-आते कवि ऐतिहासिक अतीत पर दृष्टि निबद्ध कर देता है। साथ ही यह भी निर्विवाद है कि चाहे दिनकर ने पौराणिक अतीत को ग्रहण किया अथवा ऐतिहासिक अतीत को, दृष्टि उनकी सदैव वर्तमान के ज्वलन्त स्वरूप पर ही केन्द्रित रही है। उदाहरण के लिए हम 'हुंकार' की 'दिल्ली' कविता को ले सकते हैं। इस कविता में आकुल प्राणों का ओजपूर्ण स्वर मुखरित हुआ है। इस कविता के माध्यम से दिनकर ने भारत की आर्थिक विपन्नता, नैतिकता के गिरते हुए मान-मूल्यों तथा सामाजिक विपर्ययों को उभारकर रख दिया है। दिनकर की इस कविता में राष्ट्रीयता का स्वर प्रधान है किन्तु वह संस्कृति और इतिहास के प्रश्नों से अनुस्यूत है—

"हमने देखा यहीं पाण्डु-वीरों का कीर्ति प्रसार,
वैभव का सुख-स्वप्न, कला का महास्वप्न अभिसार,
यही कभी अपनी रानी थी, तू ऐसे मत भूल
अकबर-शाहजहाँ ने किया जिसका स्वयं शृंगार।"

('हुंकार')

दिनकर का सांस्कृतिक मनोमन्थन एवं ऐतिहासिक प्रश्न क्रमशः उनकी प्रत्येक रचना में उभरे हैं। 'कुरुक्षेत्र' यों सतही तौर पर देखने से युद्ध और शान्ति पर एक 'ट्रीटाइज़' मालूम पड़ता है किन्तु इसमें भारतीय संस्कृति के मूल स्वरों को गति मिली है, फलतः यह एक चिन्तन-प्रधान कृति बन गई है। दिनकर किसी भी नैतिक, धार्मिक अथवा सांस्कृतिक समस्या को निरपेक्ष दृष्टि से नहीं लेते। उनके द्वारा प्रस्तुत प्रत्येक समस्या राष्ट्रचिंतन एवं कर्म से गुम्फित होने के कारण बहुत व्यापक धरातल घेर लेती है। दिनकर ने कुरुक्षेत्र में युद्ध के सनातन प्रश्न पर नये सिरे से विचार किया है। कतिपय आलोचकों का मत है कि दिनकर ने युद्ध को अनिवार्य घोषित करके उसका पक्ष लिया है, किन्तु युद्ध के औचित्य पर दिनकर के तर्क अत्यन्त प्रबल हैं। दिनकर युद्ध की भूमिका में झाँककर उसकी पूरी प्रक्रिया का विश्लेषण करते हैं। वह युद्ध को केवल तब तक तर्कसम्मत मानते हैं जब तक कि संसार में शांति की स्थापना न हो। दिनकर ने युद्ध की भूमिका का वास्तविक परिचय 'कुरुक्षेत्र' के सप्तम सर्ग में दिया है। 'कुरुक्षेत्र' के उत्तर-संवादों का आधार यद्यपि महाभारत ही है किन्तु कवि ने भीष्म के कथन को युगानुरूप भाव एवं अर्थ प्रदान कर दिया है। दिनकर को विरागात्मक सन्देश निःसत्त्व प्रतीत होते हैं और दिनकर विराग के कवि हैं भी नहीं। अतः वह जीवन के कर्म में लय होने का सन्देश देते हैं—

कर्मभूमि में निखिल महीतल,
जब तक नर की काया,
तब तक हैं जीवन के अणु-अणु
में कर्तव्य समाया।"

('कुरुक्षेत्र' : सप्तम सर्ग)

कवि युद्ध की अनिवार्यता का मूल अन्याय और लोभ की उत्पत्ति में मानता है। कवि लोकतन्त्र का समर्थक है, वह राजतन्त्र की उत्पत्ति के ऐतिहासिक कारणों का 'कुरुक्षेत्र' के सप्तम सर्ग में व्यापक रूप से उल्लेख करता है। छठे संस्करण के पृष्ठ ११० से ११६ तक कवि राजतन्त्र की उत्पत्ति का विवरण देता है। राजतन्त्र की उत्पति के बारे में जो मत रूसो का है, लगभग वही मत दिनकर का भी है। कवि यह मानता है कि प्रारम्भ में मनुष्य प्रकृति के प्रांगण में उन्मुक्त होकर विचरता था और भरपेट खाता था। ऊंच-नीच का भी कोई भेद नहीं था। सब लोग समान भाव से रहते थे तथा समष्टि के उत्कर्ष एवं सुख की कामना करते थे। कोई अपने व्यक्तिगत जीवन की श्रेष्ठता को लेकर अन्य लोगों को हेय नहीं ठहराता था। समस्त समाज में लोकोत्कर्ष के ही भाव का प्राबल्य था। कोई भी व्यक्ति अपने लिए कुछ छिपाकर

नहीं रखता था—सबका प्राप्य और उपलब्धियाँ समाज की दृष्टि में थीं। उन्मुक्त विचरण के इस काल में लोक-जीवन किसी कठोर नियन्त्रण से आबद्ध नहीं था, प्रत्येक व्यक्ति अपने चरम लक्ष्य को निर्व्याघात रूप से पा सकता था। समाज का यही स्वरूप चल रहा था कि तभी घोर अकाल पड़ा और अगणित मनुष्य भूखे मर गए। जो बच गए उनमें से किसी के हृदय के निभृत कोने से लोभ की यह सर्वग्रासी भूख फूट पड़ी—

"हाय रखा होता संचित कर
तू ने यदि कुछ अपना,
इस संकट में आज नहीं,
पड़ता यों तुझे कलपना।"

('कुरुक्षेत्र' : सप्तम सर्ग)

इसी विचारधारा को लेकर व्यक्तिवाद की पृष्ठभूमि निर्मित हो गई और सब लोगों ने दुष्काल के लिए संचय करना आरम्भ कर दिया। संचय करते-करते उनके पारस्परिक स्वार्थों में संघर्ष हुआ और वह पशुवत् ईर्ष्याकुल होकर रक्तपात पर उतर आए। इस स्वनिर्मित विपत्ति को टालने के लिए उन्होंने किसी पराक्रमी व्यक्ति को राजा बनाया, जो उन्हें आपस में लड़ने से वर्जित कर सके। कवि ने राजतन्त्र के त्रास-युक्त स्वरूप का परिचय इस प्रकार दिया है—

"और खड्ग धर पुरुष विक्रमी
शासक बना मनुज का,
दण्ड - नीति - धारी त्रासक
नर तन में छिपे दनुज का।"

('कुरुक्षेत्र' : सप्तम सर्ग)

इस प्रकार स्वयं को बाँधकर मनुष्य ने सहज मानवीय गुणों का परित्याग कर दिया और इस प्रकार उसके समस्त मानवीय गौरव का हनन हो गया। कालांतर में ऐसी स्थिति आगई कि राजतन्त्र के बिना वह अनय से दूर नहीं रह सकता था। राजतन्त्र का शिकंजा इतना कठोर हो गया कि व्यक्ति के मन, वचन और कर्म पर भी नियम का दृढ़ अनुशासन हो गया। कवि ने राजतन्त्र के घृण्य और निन्दनीय स्वरूप को इस प्रकार व्यक्त किया है—

"राजतन्त्र है द्योतक नर की,
मलिन, निहीन प्रकृति का,
मानवता की ग्लानि और
कुत्सित कलंक संस्कृति का।"

('कुरुक्षेत्र' : सप्तम सर्ग)

इस सर्ग में आगे जाकर भीष्म कर्म-कोलाहल से पराङ्मुख होने वाले युधिष्ठिर को कर्म का सन्देश देते हैं और कहते हैं कि यदि तुम इस बसे हुए संसार को त्यागकर निर्जन में चले जाओगे तो तुम संसार का कुछ कल्याण न कर सकोगे। इसके अतिरिक्त मानो तुमने अपनी आत्मिक उन्नति भी कर ली तो भुवन में तुम अपना क्या चिन्ह छोड़ जाओगे? इस प्रकार कवि ने निवृत्तिमूलक जीवनदृष्टि पर कठोर आघात किया है और जन-जीवन को प्रवृत्तिमार्ग की ओर उन्मुख किया है।

'रश्मिरथी' काव्य में भी कवि के सम्मुख सांस्कृतिक मूल्यों के विघटन का प्रश्न बहुत प्रखर रूप में आया है। इसमें कवि ने मारक युद्धों की भर्त्सना की है और मानव समाज के भाग्य का निर्माण इन स्वरों में स्पष्ट किया है—

"है वृथा धर्म का किसी समय करना विग्रह के साथ ग्रथन
करुणा से कढ़ता धर्म विमल, है मलिन पुत्र हिंसा का रण।"

'रश्मिरथी' तक आते-आते कवि के चिंतन में पर्याप्त विकास हुआ है। यद्यपि 'कुरुक्षेत्र' में भी कवि ने रक्तपात और राजतन्त्र की विभीषिका को घृणित ठहराया है किन्तु वहाँ कवि ने युद्ध को अनीति के लिए अनिवार्य घोषित किया है। 'रश्मिरथी' में कवि को उस मारक शक्ति पर सन्देह हो चला है। अब वह युद्ध में शान्ति का निराकरण नहीं खोजता, वह करुणा तथा शान्ति को ही मानव समाज की उन्नति का अवलम्ब स्वीकार करता है। 'रश्मिरथी' में युद्ध को, कवि 'हिंसा' का मलिन पुत्र घोषित करता है। उसके चिन्तन में क्रमशः राष्ट्र के स्थान पर समस्त मानवता का प्रश्न आ गया है। कवि —मित्रता, सहिष्णुता और त्याग की भावनाओं को सर्वोपरि मानता है। राष्ट्रीयता का गान गाने वाले वैतालिक कंठ से विश्वमानवता का राग फूट रहा है। साथ ही यह भी सत्य है कि इस गम्भीर चिंतन में भी कवि की ओजस्विता फीकी नहीं पड़ी, वह मानव समाज की मूल समस्याओं का हल अभी भी यथार्थवादी ढंग से खोजता है और इस प्रकार वह पौरुष-प्रवृत्ति का सिद्ध कवि घोषित होता है।

आज भी दिनकर का काव्य अप्रतिहत रूप से अपनी समस्त विशेषताओं के साथ आगे बढ़ रहा है और वह सांस्कृतिक मूल्यों की स्थापना अपने कवि-कर्म द्वारा करते आ रहे हैं। इधर उनकी प्रवृत्ति गद्य लेखन की ओर अधिक जागरूक हो गई है। ऐसा प्रतीत होता है कि वह काव्य में अपने राष्ट्रीय सांस्कृतिक चिंतन को सूत्र रूप में अभिव्यक्त करते हैं और गद्यात्मक कृतियों में निर्बाध होकर उसका यथेष्ट आकलन करते हैं। काव्य-कृतियों के साथ-साथ बराबर उनकी गद्यात्मक कृतियाँ भी प्रकाश में आती रही हैं और उनमें भावात्मकता और सुनियोजित चिंतन का अपूर्व सामञ्जस्य

देखने को मिलता है। 'अर्धनारीश्वर' और 'मिट्टी की ओर' कृतियों में उन्होंने समाज, संस्कृति और साहित्य के मूल्यों पर अपने अत्यन्त सुलझे हुए विचार प्रस्तुत किए हैं। 'रेती के फूल' में तारुण्य को उद्‌बोधन दिया है और 'हमारी सांस्कृतिक एकता' में वैविध्य और वैचित्र्य में सांस्कृतिक एकता के सूत्रों को खोजने का प्रयास किया है।

दिनकर के चिंतन की समस्त पुष्ट प्रक्रिया 'संस्कृति के चार अध्याय' में संकलित है। भारतीय संस्कृति पर अपने विचार व्यक्त करते हुए अत्यन्त व्यापक और शुभ निष्कर्ष निकाले हैं। वह मानते हैं कि भारतीय संस्कृति सामासिक है और उसका विकास सहस्रों वर्षों में हुआ है। भारतीय संस्कृति में अन्यान्य धर्मों तथा संस्कृतियों के उपकरणों को संजो लेने की अद्‌भुत क्षमता रही है। भारतीय संस्कृति की गत्यात्मकता को लक्ष्य करके दिनकर ने अनुसन्धानात्मक विवरण दिये हैं। वह भारत की चार बड़ी सांस्कृतिक क्रान्तियों का उल्लेख करते हैं। पहली क्रान्ति का स्वरूप भारत में आर्यों के आने तथा आर्येतर जातियों से सम्पर्क बढ़ाने में देखा जा सकता है। दूसरी क्रान्ति के दर्शन बुद्ध तथा महावीर द्वारा पूर्ण स्थापित धर्म के विरुद्ध विद्रोह किए जाने में होते हैं। तीसरी क्रान्ति—इस्लाम धर्म की विजय, कट्टरता और अन्तर्तोगत्वा हिन्दू धर्म के साथ मिलाप होने में देखी जा सकती है और चौथी क्रान्ति का स्वरूप यूरोपीय शक्तियों का भारत में आगमन है।

दिनकर ने उक्त क्रान्तियों के ह्रासोन्मुख पक्ष पर भी विस्तार से विचार किया है, किन्तु अन्त में उन्होंने जो निष्कर्ष निकाले हैं उनका सार यही है कि भारत में इतनी क्रान्तियों से एक ऐसी चारित्रिक दृढ़ता आ गई है कि भारत संकीर्ण विचारों और भावनाओं को पीछे छोड़कर आगे बढ़ रहा है। सांस्कृतिक समन्वय पर दिनकर के निम्न विचार दृष्टव्य हैं—

"संस्कृति का स्वभाव है कि वह आदान-प्रदान से बढ़ती है। × × × जो जाति केवल देना ही जानती है, उसकी संस्कृति का एक-न-एक दिन दिवाला निकल जाता है। इसके विपरीत जिस जलाशय के पानी लाने वाले दरवाजे बराबर खुले रहते हैं, उसकी संस्कृति कभी नहीं सूखती। उसमें सदा ही स्वच्छ जल लहराता रहता है और कमल के फूल खिलते रहते हैं। कूपमण्डूकता और दुनिया से रूठकर अलग बैठने का भाव संस्कृति को ले डूबता है। × × × अतएव सांस्कृतिक दृष्टि से वह देश और जाति अधिक शक्तिशालिनी और महान समझी जानी चाहिए जिसने विश्व के अधिक-से-अधिक देशों, अधिक-से-अधिक जातियों की संस्कृतियों को अपने भीतर जज्ब करके, उन्हें पचा करके, बड़े-से-बड़े समन्वय को उत्पन्न किया है।

भारत देश और भारतीय जाति इस दृष्टि से संसार में सबसे महान है क्योंकि यहाँ की सामाजिक संस्कृति में अधिक-से-अधिक जातियों की संस्कृतियाँ पची हुई हैं।"

('संस्कृति के चार अध्याय' : पृष्ठ ६५३-६५४)

दिनकर का कथन है कि विश्व में कोई ऐसा देश नहीं है जो यह स्वीकार कर सके कि अन्य देशों के विचारों का प्रभाव उस पर नहीं पड़ता। जो देश अपने विचार-वैभव और सांस्कृतिक उपकरणों को दूसरे देशों को देने में संकोच करता है, उसकी संस्कृति एक दिन अवश्यमेव निःशेष हो जाती है। दिनकर के निम्न वक्तव्य पर दृष्टि डालना वक्तव्य-सापेक्ष होगा—

"···जब कि दोनों देश वाणिज्य-व्यापार अथवा शत्रुता या मित्रता के कारण आपस में मिलते हैं तब उनकी संस्कृतियाँ एक-दूसरे को प्रभावित करने लगती हैं, ठीक उसी प्रकार—जैसे दो व्यक्तियों की संगति का प्रभाव दोनों पर पड़ता है। संसार में शायद ही ऐसा कोई देश हो जो यह दावा कर सके कि उस पर अन्य देश की संस्कृति का प्रभाव नहीं पड़ा है। इसी प्रकार कोई जाति भी यह नहीं कह सकती कि उस पर किसी दूसरी जाति का प्रभाव नहीं है।"

('संस्कृति के चार अध्याय' : पृष्ठ ६५३)

स्थूल बहिरंग का ही प्रभाव संस्कृतियों के सम्मिलन पर नहीं पड़ता बल्कि एक देश के दार्शनिक मनस्तत्त्वों का भी दूसरे देश के चिन्तकों पर पर्याप्त प्रभाव पड़ता है। फलतः सांस्कृतिक दृष्टि से वही देश महान समझा जाता है जो विश्व के अन्यान्य देशों के दार्शनिक विचारों, साहित्यिक निष्पत्तियों और महती परम्पराओं को स्वयं में आत्मसात् कर लेता है। भारत देश और भारतीय परम्पराएँ इस दृष्टि से संसार भर में सबसे महान् हैं; क्योंकि यहाँ की संस्कृति में अधिक-से-अधिक जातियों की महानताएँ पची हुई हैं।

दिनकरजी की साहित्यिक गरिमा पर विचार करते हुए यह तथ्य स्वतः ही स्पष्ट हो जाता है कि दिनकर की प्रखर अभिव्यक्ति उनके गहन दार्शनिक और सांस्कृतिक चिन्तन को वहन करने में पूर्ण समर्थ है। उसके समस्त दर्शन एवं चिन्तन का आधार समस्त विश्व में फैला हुआ मानव समाज है। दिनकर ने अपना काव्य राष्ट्रीय चिन्तना से आरम्भ किया तथा भारत के अतीत गौरव को अपने काव्य की पीठिका बनाया किन्तु वर्तमान समय में वह भारत के अतीत गौरव को श्रद्धा देते हैं, उसकी गरिमा से अभिभूत होने पर भी उनका सांस्कृतिक चिन्तन देश और काल के क्षितिज तोड़कर विश्वात्मा का विराट् स्वरूप सामने रखता है। उनके संस्कृति-सम्बन्धी यह विचार चिन्तन के लिए व्यापक भूमि प्रस्तुत करते हैं: "संस्कृति वह गुण है जो

इसमें व्याप्त है····· असल में संस्कृति जिन्दगी का एक तरीका है और यह तरीका सदियों से जमा होकर उस समाज में छाया रहता है जिसमें हम जन्म लेते हैं।"

('संस्कृति के चार अध्याय' : पृष्ठ ६५१, ६५३)

संस्कृति के प्रश्न पर विचार करते हुए वह क्रमशः आगे बढ़ते हैं और संस्कृति के गत्यात्मक स्वरूप का आदर्श प्रस्तुत करते हैं। यही वह आदर्श है जो देश और काल की संकुचित सीमाओं को तोड़कर विश्व मानव के महासमुद्र में विलय हो जाता है। दिनकर ने सांस्कृतिक प्रश्नों का समाधान केवल संकेतों में उपस्थित नहीं किया, प्रत्युत संस्कृति के प्रत्येक पहलू पर विचारों का तर्कसम्मत स्वरूप रूपायित किया है। विचार एवं सिद्धान्तों के पक्ष और विपक्ष में, दिनकर स्तर-स्तर करके गहरे उतरते चले जाते हैं तथा राष्ट्रीयता, संस्कृति, धर्म, मानवता, युद्ध, शान्ति एवं अन्यान्य सामाजिक प्रश्न स्वयं मुखर होकर अपना विश्लेषण-संश्लेषण करने लगते हैं। दिनकर का काव्य भारतीयता और भारत को केन्द्र मानकर (उद्देश्य नहीं) विश्व-मानव की रचना करने में संलग्न है, किन्तु इतने पर भी कवि भारत के गौरव से स्फीत होकर दर्प की अभिव्यक्ति को प्रश्रय नहीं देता। भारत के अणु-परमाणु के प्रति अदम्य प्रेम उसके रोम-रोम में रच गया है, पर साथ ही यह भी स्पष्ट है कि वह राष्ट्रीयता की संकुचित परिधि से मुक्त है। कवि का निम्न वक्तव्य उसके भारतीय गौरव के प्रति नमित होने का भाव व्यंजित करता है--

"·····मेरी कविताओं के भीतर जो अनुभूतियाँ उतरीं, वे विशाल भारतीय जनता की अनुभूतियाँ थीं, वे उस काल की अनुभूतियाँ थी जिसके अंक में बैठकर मैं रचना कर रहा था, वे भारत के पाँच सहस्र वर्ष प्राचीन उस गौरवपूर्ण इतिहास की अनुभूतियाँ थीं, जो सौभाग्यवश हमारे ही काल में आकर फिर से जीना चाह रहा था।"

('चक्रवाल' की भूमिका : पृष्ठ ३४)

उपरोक्त विवेचन को दृष्टि में रखकर यदि दिनकर के काव्य का अध्ययन किया जाय तो सहज ही उस व्यापक मनोमंथन की भूमिका ज्ञात हो जायेगी जिसने दिनकर को 'कुरुक्षेत्र' और 'रश्मिरथी' के सर्जन की प्रेरणा दी है। भारत के पाँच सहस्र वर्ष पुराने गौरव ने कवि की दृष्टि को निरंतर अपनी ओर आकृष्ट किया है और संस्कृति एवं इतिहास के विस्मयकारी वैभव ने उसे हठात् व्यामोहित कर लिया है। 'चक्रवाल' के अन्तर्गत संगृहीत अनेक कविताएँ महाभारत काल की युद्ध-सम्बन्धी विभीषिकाओं पर व्यापक प्रकाश डालती हैं और मनुष्य के चेतन, अचेतन में प्रतिपल प्रवहमान होने वाली चिन्तना का स्वरूप निर्दिष्ट करती हैं।

दिनकर की सांस्कृतिक विचारणा के परिप्रेक्ष्य में घनीभूत अनुभूति से आविल

एक नाट्य-कविता पर ध्यान देना अत्यन्त आवश्यक है। यह कविता विचार और अनुभूतियों में आश्चर्यजनक संतुलन उपस्थित करती है। कवि ने 'कुरुक्षेत्र' के दर्शन को भी इसमें किंचित् स्थान दिया है। यह कविता 'नील कुसुम' संग्रह की 'हिमालय का सन्देश' है। इस कविता में मुख्य रूप से 'कवि', 'युद्ध-देवता' और 'हिमालय' के तर्क-वितर्क अत्यन्त प्रेक्षणीय हैं। कवि युग के सन्मुख उपस्थित युद्ध एवं दुर्दम संघर्ष की विभीषिका से कातर है और अनेक व्यथित स्वर उसे युद्ध की दुर्दान्त शक्ति का भान कराते हैं और उसके कुचक्र से क्षत-विक्षत होने का भाव प्रदर्शन करते हैं। 'युद्ध-देवता' भयंकर आक्रोश प्रकट करता हुआ तथा दिग्दिगन्त तड़पाता उदित होता है और शान्ति और आदर्श की खिल्ली उड़ाकर रुद्र अट्टहास करता है तथा रूढ़िवादी-प्रतिक्रियावादी विचारों को ग्रहण करने की सीख देता है। वह विषैले राष्ट्रवाद का पक्ष लेता है, महावसुधा को ऐक्य के सूत्र में आबद्ध न होने देने का दृढ़ संकल्प करता है—

"मेरा संकल्प, महावसुधा को एक नहीं होने दूँगा,
मैं विश्व देवता का भू पर अभिषेक नहीं होने दूँगा।
मैं राष्ट्रवाद का सखा, कौन तोड़ेगा मेरा सम्मोहन ?
झनझन झनझन झन झनन झनन।"

('चक्रवाल' : पृष्ठ ३७१)

युद्धदेवता की गर्वोक्ति से विह्वल होकर कवि हिमालय की ओर आशापूर्ण नेत्रों से देखता है—

"योगेश्वर ! क्यों मची हुई इतनी अशान्ति भारी है ?
ले जाने को कहाँ जगत् को युग की तैयारी है ?"

('चक्रवाल' : पृष्ठ ३७३)

हिमालय भारतवर्ष की महत्ता की ओर संकेत करते हुए अखिल विश्व को अभय देता है—

"भारत एक स्वप्न, भू को ऊपर ले जाने वाला,
भारत एक विचार, स्वर्ग को भू पर लाने वाला।
भारत है संज्ञा विराग की, उज्ज्वल आत्म उदय की,
भारत है आभा मनुष्य की सबसे बड़ी विजय की।"

('चक्रवाल' : पृष्ठ ३७७)

हिमालय का उक्त उद्बोधन दहती हुई मानवता के लिए शीतल वारिधारा के समान है। जिस सर्वग्रासी आग में युद्धदेवता ने अखिल मानवता को ग्रस लिया है उससे सहज त्राण नहीं दीख पड़ता, किन्तु हिमालय युद्धदेवता की पशु-शक्ति

को चुनौती देता हुआ मानवता को उसकी कठिन कारा से बन्धनमुक्त करता है। कहना न होगा कि हिमालय ने निम्न पंक्तियों में अखिल संस्कृति और निखिल सृष्टि को अमरत्व दान दे दिया है—

'किसी एक को नहीं बदलना होगा साथ सभी को,
करना होगा ग्रहण शील भारत को निखिल मही को।
तब उतरेगी शान्ति, मनुज का मन जब कोमल होगा,
जहाँ आज है गरल, वहाँ शीतल गंगाजल होगा।"

('चक्रवाल' : पृष्ठ ३७८)

कवि के हृदय में मानव के शुभ भविष्य के प्रति गहरी आस्था है। कवि पूर्ण आस्तिक है और बौद्धिकता के संहारक स्वरूप का तीव्र विरोधी है। वह मानता है कि अति-बौद्धिकता ने मनुष्य के हृदय की समस्त रागात्मकता को निःशेष कर डाला है। उसने ईर्ष्या, स्पर्द्धा और पारस्परिक अविश्वास को ही जन्म दिया है। अतः केवल श्रद्धा ही विकट संघर्ष में डूबी मानवता का एक मात्र सम्बल है। कवि के समस्त सांस्कृतिक विश्वास आस्तिकता के प्रति समर्पित हैं और उसकी ध्रुव आस्था है कि हताश मानवता को स्नेह और सहानुभूति की उपलब्धि केवल धर्म और श्रद्धा से ही सम्भव होगी—

"धर्म को, श्रद्धा को मत त्यागो।
शील मुकुट नरता का, सबसे बड़ी भव्यता का है,
नहीं धर्म से बढ़कर कोई मित्र सभ्यता का है।
शान्ति चाहते हो तो पहले सुमति शून्य से माँगो,
नव युग के प्राणियों! ऊर्ध्व मुख जागो, जागो, जागो।
धर्म को, श्रद्धा को मत त्यागो।"

('चक्रवाल' : पृष्ठ ३७८)

—: ० :—

'दिनकर' का विद्रोही स्वर

डा० जयचन्द राय

'दिनकर' की प्रारम्भिक रचनाओं में, बीसवीं शती के चौथे दशक की भाव-भूमि पर विचरण करने वाले स्वरों का समारोह है। हिन्दी कविता के इतिहास में यह दशक 'छायावादोत्तर काल' के पेटे में डाला जाने लगा है, यद्यपि 'कामायनी', 'तुलसीदास' और महादेवी वर्मा की सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण रचनाएँ इसी समय लिखित और प्रकाशित हुई। इन गरिमामयी कृतियों को लेकर आने वाला यह दशक निश्चय ही महत्त्वपूर्ण है और जिन कवियों ने इस समय काव्य-क्षेत्र में अपनी आँखें पहली बार खोलीं, अवश्य ही उनकी किस्मत औरों के लिए ईर्ष्या की वस्तु होनी चाहिए; किन्तु साहित्यिक प्रौढ़ता और प्रतिभा के चरम विकास का युग नवागन्तुकों या नवसिखुओं के लिए एक चुनौती के रूप में भी दीखता है। जहाँ एक ओर नयी प्रतिभाओं को विचार, भाव, कल्पना और शिल्प का विकसित और परिमार्जित रिक्थ ऐसे युग से सहज उपलब्ध हो जाता है वहाँ दूसरी ओर उसे उत्तीर्ण करके उसी दिशा में अधिक 'विकास' और परिमार्जन का दायित्व भी उनके कन्धों पर आ पड़ता है। तीसरे दशक में हिन्दी के नवागन्तुक कवि के ऊपर यह दायित्व स्वभावतः ही आ गया था; और केवल कवि ही क्यों, उपन्यास लेखक, कहानीकार, आलोचक और नाटक-प्रणेता भी रिक्थ के अनुकूल 'प्रदेय' देकर पितृ-ऋण अथवा ऋषि ऋण से मुक्त होने के लिए छटपटा रहे थे। लेकिन यह ऋण-शोध हो कैसे? क्या 'कामायनी' या 'तुलसीदास' की दिशा में आगे बढ़कर? या 'गो दान' की अपेक्षा उच्चतर औपन्यासिक कला की प्रतिष्ठा करके? साहित्य के विकास में, और सम्भवतः संपूर्ण मानवीय संस्कृति के विकास में, होता यही आया है कि नूतन प्रतिभाएँ नूतन दिशाओं में ही नूतन आवेश के साथ अग्रसर होती हैं। जो लीक पीटते हैं उनकी बात दूसरी है। वे न तो पूर्वाचरित काव्य-रूढ़ियों का उन्नयन कर पाते हैं और न नये मार्ग का अनुसन्धान ही। चौथे दशक की नवागता प्रतिभाओं ने तात्कालिक प्रश्नों को युग-संदर्भ में परखने का मौलिक प्रयास किया और साहित्य की विभिन्न दिशाओं में शिल्प की नयी सरणियों को प्रवाहित किया। उन्होंने पूर्ववर्ती कवियों द्वारा स्थापित कीर्ति-मानों को उछलकर पार करने का बाल-प्रयास नहीं किया। दिनकर, बच्चन,

अंचल, नरेन्द्र शर्मा और शिवमंगलसिंह 'सुमन' की कृतियों से इस बात की सचाई सिद्ध हो जाती है।

'दिनकर' की प्रारम्भिक रचनाओं पर विचार करते समय यह बात सामान्यतः याद रखनी चाहिए, किन्तु उनके विद्रोही-स्वर को ठीक-ठीक समझने के लिए उस दशक के ऐतिहासिक परिपार्श्व को विशेष रूप से समझना आवश्यक है। राष्ट्रीय आंदोलन की तीव्रता की दृष्टि से इस दशक के पहले तीन वर्ष उत्कट आशा-निराशा के वर्ष कहे जा सकते हैं। आंदोलन द्वारा 'अहिंसा' की दिशा में जो प्रयोग हो रहे थे उनकी सफलता में कभी-कभी अदम्य विश्वास लक्षित होता था और तत्काल बाद ही उसकी असफलता के अचानक सामने आ पड़ने पर नेतृत्व के प्रति ही एक खीझ और झुँझलाहट उत्पन्न हो जाती थी और फिर सारा समाज गहरी निराशा के अंधकार में डूब जाता था। राष्ट्रीय आंदोलन का आवेश आशा और निराशा के कूलों से टकराता किसी प्रकार चल ही रहा था कि अंतर्राष्ट्रीय रंगमंच पर दृश्य तेजी से बदलने लगे। यूरोप की अधिनायकवादी शक्तियों का क्रमशः प्रभुत्वसंपन्न हो उठना और संपूर्ण संसार के बुद्धिजीवियों का उसकी ओर किसी-न-किसी भाव से आकृष्ट होने के लिए विवश होना चौथे दशक की ऐसी घटनाएँ हैं जिनका अर्थ समझे बिना तत्कालीन काव्य-संपत्ति का मूल्यांकन नहीं किया जा सकता। हिन्दी कविता के संदर्भ में भी इन घटनाओं को विचारणीय ठहराना अनपेक्षित नहीं माना जायेगा। उस युग की मनोभूमि (हिन्दी की सीमा में भी) उक्त घटनाओं से निर्मित थी। तरुणाई का आवेश राष्ट्रीय संदर्भ में स्वतन्त्रता-संग्राम का ताप बनता था और अंतर्राष्ट्रीय संदर्भ में अधिनायकवादी तथा साम्राज्यवादी शक्तियों को पराजित करने का संकल्प। द्वितीय महायुद्ध के छिड़ जाने पर हिन्दी कविता में अंतर्राष्ट्रीय संदर्भ किस प्रकार उभर कर सामने आ गया, यह बात प्रत्यक्ष है।

'दिनकर' की तीनों प्रारम्भिक रचनाओं में एक-स्वरता है, ऐसा तो नहीं कहा जा सकता किन्तु इतना अवश्य है कि तीनों में अन्य स्वरों के साथ 'विद्रोह' का स्वर लगा हुआ है, और यदि हठात् यह न मान लिया जाय कि धूँसा आसमान में चलाया गया है तो यह विचिकित्सा स्वाभाविक है कि 'विद्रोह' के इस भाव का आलंबन कौन है, या यह विद्रोह किसके प्रति है? इसके उत्तर में किसी एक या दूसरी कविता को जहाँ-तहाँ से उद्धृत करके विद्रोह के सभी आलम्बनों का अनुसन्धान करते हुए, मैं पाठकों का समय नष्ट नहीं करना चाहता; बल्कि तीनों संग्रहों में संकलित रचनाओं को सामूहिक रूप से ग्रहण करते हुए उस साहित्यिक 'रिक्थ' और 'दायित्व' में से प्रश्न का समाधान ढूँढना चाहता हूँ, जो चौथे 'दशक' के कवियों का सहज प्राप्य था। पहले अनुच्छेद में हमने जिन गरिमामयी कृतियों का उल्लेख किया था उनकी

विषय-वस्तु और शिल्पविधि का आतंक चौथे दशक पर और स्वभावतः 'दिनकर' पर भी था किन्तु उसके आगे वह नतशिर नहीं हुए। बल्कि यह कहना अधिक सही है कि उसी के समानान्तर अपने स्वच्छन्द मार्ग पर अग्रसर होते रहे। वह स्वच्छन्द मार्ग कौन-सा है? निश्चय ही यह 'स्वच्छन्दतावाद' का मार्ग नहीं है या कम-से-कम उस 'स्वच्छन्दतावाद' का मार्ग नहीं है जिसे 'छायावाद' की विशिष्ट प्रवृत्ति के रूप में देखा-दिखाया जाता है। यह वास्तव में छायावाद-युगीन रीतिमुक्त कविता की प्रवृत्ति है; इसकी एक स्वतन्त्र परम्परा और इतिहास है। भक्तिकाल के 'रसखान' और रीतिकाल के 'घनानन्द' अपने-अपने युग-प्रभावों के प्रति संवेदनशील होते हुए भी कितने स्वच्छन्द हैं! युग के व्यापक प्रवाह में उनका अस्तित्व खो नहीं सका, यह बात दूसरी है कि अपने युग की अन्य प्रतिभाओं की तुलना में उनका व्यक्तित्व कितना ऊँचा उठ सका है? भक्ति और रीतियुग की भांति ही छायावाद-युग (और विशेष रूप से १९२५ से लेकर १९३५ तक के युग) की साहित्यिक 'आचार'-संहिता के विपरीत 'रीतिमुक्तता' का भी स्वच्छन्द स्वर उसी समय गूँज रहा था। अवश्य ही 'रीतिमुक्तता' का अर्थ शिल्प की सीमा तक ही मर्यादित नहीं। वह एक संपूर्ण साहित्यिक दृष्टिकोण है। हम समझते हैं कि दिनकर, बच्चन आदि कवियों ने अपनी किशोरावस्था में जो उद्‌गार व्यक्त किये उन्हें तत्कालीन 'रीतिमुक्त' धारा के रूप में ही समझा जा सकता है।

यहाँ यह ध्यान रखना आवश्यक है कि विद्रोह का अत्यन्त सुकुमार और मृदुल-स्वर रीति से मुक्ति पाने के लिए ऐसे कवियों में छटपटाता रहता है। 'रेणुका' में यह स्वर पूर्ण स्फुट है। 'कविता की पुकार' साहित्यिक दृष्टिकोण की पुकार है—

"आज न उडु के नील कुंज में, स्वप्न खोजने जाऊँगी,
आज चमेली में न चन्द्रकिरणों से चित्र बनाऊँगी।
अधरों में मुसकान, न लाली बन कपोल में छाऊँगी,
कवि! किस्मत पर भी न तुम्हारी आँसू आज बहाऊँगी।"

कविता, आज 'बनफूलों' की गंध प्राप्त करने के लिए आकुल है—

आज यह राज-वाटिका छोड़, चलो कवि! बनफूलों की ओर।"

कविता की यह पुकार, उस 'बुलावे' से भिन्न है जो द्विवेदीकाल में कुछ लोगों को, (विशेष रूप से प्रकृति-प्रेमियों को) सुनाई पड़ा था—

"कविता वह हाथ उठाये हुए चलिए कविवृन्द बुलाती वहाँ!"

इसमें केवल प्रकृति की ओर लौटने का, उसके वास्तविक रूप को निरखने-परखने का और उसके रमणीय रूप का साक्षात्कार करने का आवाहन मात्र है किन्तु

चौथे दशक का प्रकृति-प्रेमी 'राजवाटिका' एवं 'वनफूल' के बीच उलझन महसूस कर रहा है। वह प्रकृति की रमणीयता में डूबना तो चाहता है किन्तु विलास के लिए नहीं ; केवल आनन्दमग्न होने के लिये नहीं; बल्कि जन-जीवन के साथ एकाकार होने के लिए ; उसके सुख-दुःख, हर्ष-विषाद और आनन्द उल्लास के साथ तादात्म्य प्राप्त करने के लिए। वह प्रकृति-प्रेमी के रूप में नहीं ; बल्कि जीवन-द्रष्टा के रूप में, 'बनफूल' को 'साधारण' का प्रतीक मानकर, श्रद्धापूर्वक, ग्रहण करता है। वर्ण्य-विषय का यह विपर्यय मूलतः स्वच्छन्दतावाद से परिचालित होते हुए भी, छायावादी काव्यरूढ़ियों के विपरीत पड़ा है। 'दिनकर' की प्रारम्भिक रचनाओं में यह विपर्यय विद्रोह रूप में ही अंकित है। वह छायावाद की भावभूमि का प्रत्यक्ष तिरस्कार था। दूसरे शब्दों में, इसे हम काव्य-विषय की प्रचलित 'रीति' से छुटकारा पाने का उपक्रम कह सकते हैं।

जहाँ तक काव्य-शिल्प की दिशा में 'रीतिमुक्त' होने का प्रश्न है 'दिनकर' जैसे कवियों की रचनाएँ अत्यन्त सुन्दर उदाहरण मानी जा सकती हैं। 'चक्रवाल' की भूमिका में स्वयं कवि ने अपनी रचनाओं में स्वतः स्फूर्त आवेग और भावविह्वल सर्जनात्मक प्रक्रिया का ज़िक्र बार-बार किया है। वे 'सफाई', 'स्वच्छता', 'स्पष्टता' आदि शब्दों का प्रयोग अपनी रचनाओं की व्यंजना पर विचार करते समय बार-बार कर चुके हैं। उन्होंने कहा है—

"रेणुका और हुंकार, सामधेनी और कुरुक्षेत्र, द्वन्द्वगीत और बापू, इनमें मैंने जो कुछ भी गाया है, आत्मा के ज़ोर से गाया है, कण्ठ फाड़कर गाया है, हृदय चीर कर गाया है।" और "मैं भावों की स्वच्छ अनुभूति के लिए देर-देर तक समाधि में रह जाता और जब तक यह विश्वास नहीं होता कि मैं भावों को ठीक-ठीक समझ गया हूँ तब तक मैं रचना का आरम्भ करता ही नहीं।"

इन वाक्यों को पढ़ते ही घनानंद की कविता के विषय में कही गई ब्रजनाथ की यह उक्ति याद आ जाती है—

"समुझै कविता घन आनँद की हिय आँखिन नेह की पीर तकी"

दोनों के बीच कैसा अद्भुत साम्य है ! हमारा विश्वास है कि इस प्रेरणा और आवेश से परिचालित कविताएँ हमारे काव्य-साहित्य की अक्षय निधि हैं। इन कविताओं को लिखते समय जिन सात्विक भावों का अनुभव कवि ने किया था वे ही पाठकों को भी आत्म-विभोर कर देते हैं। कवि ने स्वीकार किया है कि—

"मेरी जिन कविताओं से पाठक और श्रोता सबसे अधिक आन्दोलित हुए, वे ठीक वे ही कविताएँ हैं जिनकी रचना के समय मैंने सात्विक भावों का सबसे अधिक अनुभव किया था।"

लेकिन शिल्प के ही प्रसंग में एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण बात की ओर संकेत करना आवश्यक है। 'दिनकरजी' की प्रारम्भिक कविताएँ ही नहीं, उनकी समूची काव्य-साधना भावना और विचारणा के कूलों से टकराकर बहती रही है। भावना का आवेश प्रारम्भिक रचनाओं में है ही, और 'विचारणा' का उदाहरण 'कुरुक्षेत्र' से लिया जा सकता है, जिसे काव्य का विभाव पक्ष कहते हैं या जिसे कविकृत विभावन-व्यापार के नाम से जाना जाता है, वह इन रचनाओं में प्रायः नहीं मिलता। आधुनिक आलोचना की शब्दावली का प्रयोग करें तो कह सकते हैं कि बिम्ब-विधायक-तत्वों का उनकी काव्य भाषा में नितान्त अभाव है। इस तथ्य का अनुभव दिनकरजी ने स्वयं किया है और अपने उदार आलोचकों का उपकार स्वीकार करते हुए उन्होंने कहा है—

"बार-बार आज़माने पर मुझे पता चल गया कि कलाकार, कारीगर और पच्चीकार होने की धीरता मुझ में नहीं है। उन दिनों, प्रेरणाएँ मेरे भीतर बड़े जोर से आती थीं और मैं सजाव-सँवार का बहाना बनाकर उनके प्रवाह को रोक नहीं सकता था।"

यहाँ जिस 'कलाकार', 'कारीगर' या 'पच्चीकार' का उल्लेख किया गया है वह केवल शब्द-साधना में तल्लीन रहने वाला कवि भी हो सकता है लेकिन हम जिस 'कला' और 'कलाकारिता' की ओर संकेत करना चाहते हैं दिनकरजी का अभिप्राय संभवतः उससे भी है। एक उदाहरण लेकर हम अपनी बात आसानी के साथ समझा सकते हैं। 'निरालाजी' की 'तुलसीदास' नामक पुस्तक का कोई भी छन्द लीजिए और उसके भीतर निहित विभावन व्यापार अथवा बिम्ब-विधान का अवलोकन कीजिये, आपको भाव-प्रेरित विभावन का स्वरूप प्रत्यक्ष दीख जायेगा। सुविधा के लिए निम्नांकित छन्द यहाँ उद्धृत है—

"अस्तु, रे विवश मारुत प्रेरित,
पर्वत समीप आकर ज्यों स्थित,
घन-नीलालका दामिनीजित, ललना वह।
उन्मुक्त गुच्छ, चक्रांक पुच्छ,
लख नर्तित कविशिखि मन समुच्च,
वह जीवन की समझा न तुच्छ, छलना वह।"

मैं समझता हूँ कि निरालाजी के उस लघु-प्रबन्ध में ये पंक्तियाँ कथा और कला के चरमबिन्दु पर प्रतिष्ठित हैं किन्तु साथ ही कवि की भावाकुलता का शीर्षबिन्दु भी यहीं है। रत्नावली किस मुद्रा में समुपस्थित है और महार्काव का आसक्त मन उसे

किस रूप से ग्रहण कर परिचालित हो उठता है। यह स्वीकार किया जा सकता है कि उक्त पंक्तियों में 'कलाकारिता' का किंचित् लेश अवश्य है लेकिन ऐसा तो 'दिनकर'जी के 'हिमालय' की निम्नांकित पंक्तियों के विषय में भी कहा जा सकता है—

साकार, दिव्य, गौरव विराट
पौरुष के पुंजीभूत ज्वाल।
—इत्यादि

सोचकर पच्चीकारी करना एक बात है और भाव के आवेग में उसका सहसा संघटित हो जाना बिल्कुल दूसरी बात। हमारी समझ से 'तुलसीदास' के उक्त छन्द में संपूर्ण परिस्थिति कवि की भावना के साथ तदाकार होकर एक सर्वांग-संपन्न बिम्ब के रूप में बदल गई है। भावना वर्णों, शब्दों और वाक्यों के माध्यम से नहीं बल्कि बिम्ब के माध्यम से ही व्यक्त हुई है।

इस उदाहरण को लेकर हम यह निष्कर्ष सुविधापूर्वक निकाल सकते हैं कि 'दिनकर'जी की भावनायें उबाल पाकर, जब बाहर आना चाहती हैं तब उनका सीधा सम्बन्ध उस भाषा से हो जाता है जो बिल्कुल बाहरी चीज है। बीच में कहीं उस साँचे का अभाव है जो उन्हें बिम्ब रूप में ढाल कर शिल्पात्मक परिणति दे सके। और यह कह रखना आवश्यक है कि यह शिल्पात्मक परिणति एक अनायास-घटित आनुषंगिक व्यापार है। इसके लिए 'पच्चीकार होने की धीरता' की आवश्यकता नहीं।

ऊपर के विवेचन का यह अर्थ कदापि नहीं कि उक्त शिल्पात्मक परिणति श्रेष्ठ कविता के लिए नितान्त अनिवार्य है। जैसा ऊपर कहा गया है, भाव-प्रधान कविताओं में यह परिणति प्रायः नहीं मिलती। रसखान, घनानंद और ठाकुर में तरलता तथा द्रावकता चाहे जितनी मात्रा में हों किन्तु इस परिणति का अभाव वहाँ भी है। हमारी समझ में 'दिनकर' की भी यही स्थिति है, वे चाह कर भी इस शिल्पात्मक परिणति के मार्ग से अपनी भावनाओं को नहीं ले जा सकते।

यहाँ एक बात को स्मरण कर लेना आवश्यक है। अपने 'मिट्टी की ओर' शीर्षक निबन्ध-संग्रह में कहीं उन्होंने लिखा था कि चौथे दशक के प्रारम्भ में हिन्दी कविता को छायावाद की कुहेलिका से बाहर लाने का कार्य नयी पीढ़ी ने किया था। इस पीढ़ी के प्रमुख कवियों में प्रायः वही लोग थे जिनका उल्लेख हम रीतिमुक्त कवियों की मंडली में कर चुके हैं। हमारी समझ में नयी पीढ़ी के आविर्भावकाल

तक छायावाद शिल्प और व्यंजना की उन उलझनों पर विजय प्राप्त कर चुका था जिन्हें 'कुहेलिका' की संज्ञा दी जा सकती है। भाषा परिमार्जित और संकेत प्रत्यक्ष हो चुके थे। ऐसा लगता है यहाँ जिस चीज को 'दिनकर'जी ने 'कुहेलिका' कहा है वह और कुछ नहीं भावों तथा विचारों का बिम्बीकरण और तत्सम्बन्धी शिल्पात्मक परिणति ही है। हम पहले निवेदन कर चुके हैं कि छायावादी भाव और शिल्प-वैभव के शिखर नयी पीढ़ी के लिए अगम्य हो गए और उसने अपना मार्ग अलग से निकाला। रीतिमुक्त कवि, चाहे वे राष्ट्रीय भावना को व्यक्त कर रहे हों, चाहे गहरी निराशा को, सदैव भावमयी भाषा में ही बोलते रहने के अभ्यासी थे। चित्र-कल्पों की भाषा में बोलना उन्हें भारी लगता था। इससे प्रमाणित होता है कि चौथे दशक में प्राचीन के प्रति नूतन का जो विरोध घटित हुआ उसमें 'दिनकर'जी नूतन की ओर थे। उनकी प्रारम्भिक रचनाओं में विद्रोह का एक रूप तो यही है।

जिन कविताओं को राष्ट्रीय कहा जाता है उनमें विद्रोह का आलंबन ब्रिटिश शासन है और यह स्वाभाविक ही है किन्तु जैसा इस लेख के प्रारम्भ में निवेदन किया जा चुका है, चौथे दशक की राष्ट्रीय भावना का पोषण एक विशिष्ट प्रकार के अन्तर्राष्ट्रीय संदर्भ मे हो रहा था। राष्ट्रीय जन-जागृति को विश्वव्यापी जनान्दोलन के रूप में भी देखा, परखा और अनुभव किया जा रहा था। 'हुंकार' में संगृहीत 'विपथगा' नामक कविता में राष्ट्रीय भाव का उन्मेष विश्वव्यापी पृष्ठभूमिका पर हुआ है—

> "धन के विलास का बोझ दुखी-दुर्बल दरिद्र जब ढोता है,
> दुनिया को भूखों मार भूप जब सुखी महल में सोता है,
> सहती सब कुछ मन मार प्रजा, कस-मस करता मेरा यौवन।"

इस प्रसंग में यह ध्यान रखना आवश्यक है कि राष्ट्रीय भावना का रूप उस युग में अत्यन्त व्यापक था। केवल किसी आंदोलन या सत्याग्रह-विशेष से संबद्ध रचनाओं को ही राष्ट्रीय कविता मानना और दूसरी रचनाओं को अन्य खातों में डाल देना उचित नहीं। 'कविता की पुकार' अपने वक्तव्य विषय और उपादान की दृष्टि से राष्ट्रीय है और इस प्रकार अन्य कविताओं को भी चुना जाय तो 'रेणुका' में मुख्य स्वर राष्ट्रीयता का ही मिलेगा किन्तु 'दिनकर' जी का कहना है—

"रेणुका में राष्ट्रीय भावधारा को व्यक्त करने वाली दो-तीन ही रचनाएं हैं। बाकी उस संग्रह में ऐसी ही रचनाओं का प्राधान्य है जिनमें या तो भारत के अतीत का रोना है या जीवन की नश्वरता पर विलाप।"

राष्ट्रीय भावना की आकुलता को ले कर चौथे दशक में बहुत-सी समस्याओं पर विचार किया गया है। 'रेणुका' में ऐसी कविताएँ बहुत हैं जिनमें राजनीति से अलग देश-समाज और साहित्य की समस्याओं पर भी राष्ट्रीय दृष्टि से विचार किया गया है। वे वास्तविक अर्थों में राष्ट्रीय भावधारा को ही व्यक्त करने वाली रचनाएँ हैं।

जो भी हो, प्रसंग-प्राप्त बात यह है कि राष्ट्रीय भावना जब अंतर्राष्ट्रीय संदर्भ में व्यक्त होने लगी तो 'दिनकर'जी की कविताओं में समाज के उस वर्ग-विशेष के प्रति विद्रोह व्यक्त होने लगा जो संपत्ति के पुंजित रूप पर स्वामित्व रखते हैं।

विद्रोह के इन रूपों के निरूपण के सिलसिले में यदि एक बात की चर्चा न की जाय तो यह प्रसंग अधूरा ही रह जायेगा। 'दिनकर'जी की भावना और व्यंजना का सबसे बड़ा गुण पौरुष है जो छन्द का पूर्ण विस्तार चाहता है। मेरी धारणा है कि छोटे छन्दों की द्रुत गति में उनकी भावव्यंजना सफल नहीं हो पाती। हिन्दी का कवित्त छन्द उनके भावों के सर्वाधिक अनुकूल जान पड़ता है। सवैये में भी यदा कदा यह शक्ति आ जाती है। यही कारण है कि 'कुरुक्षेत्र' में पौरुष का भाव अप्रतिम हो उठा है। अन्य छन्दों की लम्बाई का भी 'दिनकर' ने इस दृष्टि से सफल उपयोग किया है। खड़ी बोली कविता में ओज और पौरुष का स्वर भरने वाले कवि इने-गिने ही हैं और इसमें संदेह नहीं कि 'दिनकर' का स्थान उनमें 'निराला' के ठीक बाद पड़ता है।

—: o :—

युगधर्म की पुकार : रेणुका और हुंकार

हरप्रसाद शास्त्री

रेणुका

'रेणुका' दिनकरजी का सर्वप्रथम कविता-संग्रह है। इसका प्रथम संस्करण सन् १९३५ में प्रकाशित हुआ था, उस समय यह पुस्तक बड़े चाव और उत्साह के साथ जनता में समादृत हुई थी। 'दिनकर' को लोक-प्रिय कवि बनाने में 'रेणुका' का महत्त्व-पूर्ण स्थान है। प्रथम संस्करण की 'रेणुका' में ३१ कविताएं संगृहीत थीं। बाद में १९५४ ई० वाले संस्करण में 'विरहयोगिनी', 'सायं चिन्ता', 'शब्द-वेध'—ये तीन कविताएँ निकाल दी गई और ग्यारह नवीन कविताएँ जोड़ दी गई हैं। इस प्रकार कुल मिलाकर १९५४ वाले संस्करण में ३९ कविताएँ संगृहीत हैं।

तीन निकाली हुई कविताओं में 'शब्द-वेध' शीर्षक कविता को 'हुंकार' में स्थान दिया गया है। इस उलट-फेर से ऐसा प्रतीत होता है कि कवि अपने प्रथम चुनाव से अब सन्तुष्ट नहीं है। क्योंकि, पहले जो चुनाव किया था उसमें किसी प्रवृत्ति-विशेष का ध्यान नहीं रखा गया था, केवल १९३५ तक की जो भी रचनाएँ थीं, उस में रख दी गई थीं। उसमें कुछ कविताएँ ऐसी भी थीं जो कवि के विकास-क्रम के विपरीत पड़ती थीं। उदाहरणार्थ निष्कासित 'विरहयोगिनी' कविता रहस्यवादी विचार-धारा से अनुप्राणित होने के कारण 'रेणुका' कालीन राष्ट्रीय विचारधारा में पूर्णतः फिट नहीं हो पाती, अतः सन् ५४ वाले सस्करण में उसे बहिष्कृत कर देना कवि ने उप-युक्त समझा। इसी प्रकार 'साय चिंता' कविता में भी कवि ने छायावादकालीन प्रवृत्ति के अनुकूल कोलाहल पूर्ण संसार से दूर किसी काल्पनिक दुनियां में 'कोरस' गाने की राय दी थी। यह कविता भी बाद में विद्रोही एव प्रगतिशील कवि को 'रेणुका' जैसे युग-काव्य में संग्रह के उपयुक्त नहीं जँची, और उसे भी निकाल बाहर कर दिया गया।

जो कविताएँ बाद में जोड़ी गई हैं, उनमें पाँच विदेशी भाषाओं की कविताओं के भावानुवाद हैं। 'राजकुमारी और बाँसुरी' (जार्नसन नामक नार्वेजियन कवि की एक कविता), 'प्लेग' (एरिस्टोफेन्स—यूनानी कवि: पाँचवी शताब्दी ई० पू० की एक

कविता)—, 'गोपाल का चुम्बन' (एक अंग्रेजी कविता)—, 'विपक्षिणी'-(मैथ्यू प्रायर की एक कविता)—, 'सुन्दरता और काल'—(डाब्सन कृत एक अंग्रेजी कविता)—से ली गई हैं। शेष छः कविताओं में से तीन तो सामयिक-परिस्थितियों से प्रभावित होकर युगानुकूल विचार धाराओं का प्रतिनिधित्व करती हैं तथा तीन कवि की वैयक्तिक अनुभूतियों की प्रतिच्छाया हैं। 'बागी' नामक कविता यों तो १९२९ ई० में विरचित रचना है, किन्तु उसे 'रेणुका' के प्रथम संस्करण में स्थान नहीं मिला था। यह कविता प्रसिद्ध क्रान्तिकारी शहीद श्री यतीन्द्रनाथ दास की बोरस्टल जेल में मृत्यु के समय लिखी गई थी। यह एक छोटा सा शोक-गीत मात्र है।

'ओ द्विधाग्रस्त शार्दूल बोल' १९४० की रचना है। इसमें कवि हिंसा और अहिंसा, शान्ति और विद्रोह की द्विधापूर्ण मनःस्थिति में पड़े हुए तत्कालीन देश के नवयुवकों को सम्बोधित करता है और उन्हें युग के अनुकूल क्लीवत्व का परित्याग करके क्रान्ति और संघर्ष के समर में उतर पड़ने को उकसाता है। वह कहता है—

'हिल रहा धरा का शीर्ण मूल,
जल रहा दीप्त सारा खगोल।
तू सोच रहा क्या अचल, मौन ?
ओ द्विधाग्रस्त शार्दूल बोल ?

× × ×

जब रहे सकल प्राचीर काँप,
तब तू भीतर क्या सोच रहा
है क्लीव-धर्म का पृष्ठ खोल ?

× × ×

यह पवन परम अनुकूल देख,
रे, देख भुजा का बल अथाह,
तू चले बेड़ियाँ तोड़ कहीं,
रोकेगा आकर कौन राह ?
डगमग धरणी पर दमित तेज
सागर पारे-सा उठे डोल ;
उठ, जाग समय अब शेष नहीं,
भारत माँ के शार्दूल बोल।

इस कविता में युग की क्रान्तिकारी पुकार है और पारतन्त्र्य-बन्धन को तोड़ फेंकने का आकुल विद्रोह तथा अपने भुजबल पर भरोसा है। तत्कालीन आतंकमयी

विद्रोह-भावना का सुन्दर उदाहरण इस कविता में प्रस्तुत है। तीसरी कविता 'पटना जेल की दीवार से' है। १९४५ई० में उत्तर बिहार में फैली हुई महामारी के समय पूज्य राजेन्द्र बाबू की रिहाई के लिए उठाये गये आन्दोलन की विफलता पर रचित यह कविता प्रशस्ति-गान की कोटि में आती है। इसमें जहाँ राजेन्द्र बाबू की लोक-प्रियता, गुण-गरिमा और महामहिम व्यक्तित्व का मनोहारी चित्रण हुआ है, वहाँ अत्याचारी शासक को यह चेतावनी भी दी गई है कि जनमत को कुचलना अंगारों को आमंत्रण देना है। भावी विद्रोह और क्रान्ति का पूर्वाभास भी इस कविता में मिलता है—

'आँखों पर पहरा बिठलाकर हँसें न किरिचों वाले
फटने ही वाले हैं युग के बादल काले काले !
मिलीं न जिनको राह, वेग वे विद्युत् बन जाते हैं,
बहे नहीं जो अश्रु, वही अंगारे बन जाते हैं।
मानवेन्द्र राजेन्द्र हमारा अहंकार है, बल है,
तपःपूत आलोक, देश-माता का खड्ग प्रबल है।'

'स्वर्ण घन' कवि की वैयक्तिक अनुभूति की रचना है। इसमें कवि समर-जर्जर विषण्ण भारतीय जनता के लिए कनक वर्णी मेघों से सुधावर्षण की याचना करता है। यह कविता 'प्रार्थना-गीत' के साथ 'उद्बोधन-गीत' भी है—

'उठो, क्षितिज-तट छोड़ गगन में कनक-वरण घन हे !
बरसो, बरसो, भरें रंग से निखिल प्राण-मन हे !

× ×

गरजे गुरु गम्भीर घनाली,
प्रमुदित उड़े मराल-मराली।
खुलें जगत् के जड़ित-अंध रस के वातायन हे !

× ×

जय हो, रंजित धनुष बढ़ाओ,
भू को नभ के साथ मिलाओ,
भरो, भरो, भू की श्रुति में निज अनुरंजन स्वन हे !'

'गीत-वासिनी' शृंगारिक कविता है। क्रान्ति, विद्रोह और राष्ट्रीयता के उबलते कवि में शृंगार की शीतल रस-धाराएँ, आंखों में काली घटा, उर में प्रणय की प्यास और साँसों में मलय का मादक उच्छ्वास बनकर आई हैं। इस कविता में युवक कवि का मदमाता यौवन खुलकर खेला है। यहाँ आकर कवि अपनी गीत

वासिनी प्रियतमा को कल्पनालोक में प्रतिष्ठित करके उसका शृंगार करना चाहता है—

"कल्पना-जग में बनाऊँगा तुम्हारा वास,
और ही धरती जहाँ, कुछ और ही आकाश।"

इस कविता में कवि उपमानों के द्वारा बड़ा ही मादक वातावरण प्रस्तुत कर देता है—

"देखती अपलक अपरिचित पुरुरवा की ओर,
उर्वशी की आँख की मद से लबालब कोर।
प्रथम रस-परिरम्भ से कम्पित युवति का वेश,
थरथराते-से अधर-पुट, आलुलायित केश।
चूमकर औचक जलद को भाग जाना दूर,
दामिनी का वह निराला रूप मद से चूर।"

'संजीवन धन दो' एक प्रार्थना-गीत है। इसमें कवि अपने अभीष्ट देवता से विश्वप्रेम के पुनीत आदर्श को जन-मन में प्रतिष्ठित करने की प्रार्थना करता है। यहाँ आकर कवि की विद्रोह-भावना और हिंसात्मक रक्तिम क्रान्ति बोधिसत्त्व की दया, माया, ममता और अहिंसा की शीतल छाया ढूँढती है—

"माँग रहा जन मन कुम्हलाया,
बोधिसत्त्व की शीतल छाया,
सिरजा सुधा, तृषित वसुधा को संजीवन घन दो।
मन-मन मिलते जहाँ देवता! वह विशाल मन दो।"

कुल मिलाकर 'रेणुका' में तीन प्रकार की रचनाएँ संगृहीत हैं। एक तो वे जिनमें राष्ट्रीयता, अतीत की गौरव-गाथा और युगीन परिस्थितियों का चित्रण है तथा जो कहीं-कहीं क्रान्ति और विद्रोह के स्वर से ओत-प्रोत हैं। दूसरे प्रकार की कविताएँ वे हैं, जिनमें शृंगार, प्रार्थना और उद्बोधन आदि वैयक्तिक अनुभूतियाँ हैं। तीसरे प्रकार की रचनाएँ विदेशी कविताओं के छायानुवाद हैं।

कविताओं के संकलन में सबसे अखरने वाली बात तो यह है कि वे किसी समयानुक्रम से संगृहीत नहीं की गई हैं। उदाहरणार्थ—'मिथिला' शीर्षक कविता का रचना-काल १९३१ ई० है और 'बोधिसत्त्व' का १९३४। कालक्रम के अनुसार 'बोधिसत्त्व' को बाद में आना चाहिए था और 'मिथिला' को पहले, किन्तु यहाँ इसके विपरीत है। 'बोधिसत्त्व' को पहले और 'मिथिला' को बाद में रखा गया है। यदि कहें कि प्रवृत्ति, तारतम्य, विषय-सम्बद्धता अथवा विचार-विशेष की दृष्टि से ऐसा

किया गया है, तो यह तर्क भी यहाँ काम नहीं करता, क्योंकि सारे ग्रन्थ में इस दृष्टि से भी तारतम्य का ध्यान नहीं रखा गया।

दूसरी बात यह समझ में नहीं आती कि जिस प्रवृत्ति-विशेष या विकास-क्रम को दृष्टि में रखकर 'रेणुका' की विचारधारा में फिट न बैठने के कारण 'विरह-योगिनी', 'सायं चिन्ता' और 'शब्द-वेध'—ये तीन कविताएँ सन् '५४ वाले संस्करण से निष्कासित की गईं, वहाँ जोड़ी गईं नई कविताओं के चयन में इस बात का ध्यान क्यों नहीं रखा गया? एक ही संग्रह में दो विरोधी विचारधाराएँ मिलती हैं। 'ओ द्विधाग्रस्त शार्दूल बोल' कविता में कवि क्रान्ति, विद्रोह और हिंसा का पक्ष लेता है और वहीं दूसरी रचना में प्रेम और अहिंसा का समर्थन करता है। 'बोधिसत्त्व' कविता में दया, ममता और अहिंसा की प्रार्थना कवि करता है। यदि कविताओं का संकलन कालक्रम और विकासक्रम को दृष्टि में रखकर किया जाता तो कवि के प्रारम्भिक विकास-क्रम का अध्ययन करने में सुविधा होती।

कवि की प्रथम कृति होने के कारण 'रेणुका' में विचारों के द्वैधीभाव और द्वन्द्वपूर्ण मनःस्थिति की रचनाएँ हैं। उसमें कहीं पौरुष का उद्दाम और उच्छल आवेग है, तो कहीं सुकुमार कोमल अनुभूतियों की रोमानी पेशलता। उसके कवि ने कहीं उजड़ते खलिहानों, कृश जर्जरकाय कृषकों, शोषण पर पनपने वाले जमींदारों और पूँजीपतियों एवं मज़दूरों के भूखे-नंगे किशोर बालकों का मार्मिक चित्र अंकित करके युग की साहित्यिक-प्रवृत्ति प्रगतिवादी परम्परा में अपना नाम भरती करा लिया है, तो कहीं छायावाद की अमांसल और अपार्थिव अभिव्यक्ति के द्वारा वैयक्तिक अनुभूतियों के लाक्षणिक चित्र भी उपस्थित किए हैं। 'रेणुका' की समस्त कविताओं का वर्गीकरण हम इन्हीं दो प्रवृत्तियों के आधार पर कर सकते हैं। इस संग्रह की राष्ट्रवादी, क्रान्तिपरक एवं भारत के अतीत गौरव से सम्बन्धित कविताएँ प्रगतिवाद की श्रेणी में आयेंगी। निराशा की कुहेलिका से परिपूर्ण तथा प्रकृति पर मानवीय भावनाओं के आरोप द्वारा कल्पनालोक के विहार में शान्ति की कामना प्रकट करने वाली रचनाएँ कवि की छायावादी मनोवृत्ति की द्योतक हैं। 'हिमालय', 'ताण्डव', 'कविता की पुकार', 'बोधिसत्त्व', 'कस्मै देवाय', 'मिथिला', 'पाटलीपुत्र की गंगा', 'बागी'—आदि कविताएँ प्रगतिवादी हैं और 'राजारानी', 'निर्झरिणी', 'विश्व-छवि', 'अमासंध्या', 'फूल', 'गीतवासिनी', 'कवि', 'जीवनसंगीत' आदि कविताएँ छायावादी प्रवृत्ति से प्रभावित हैं।

राजनीतिक दृष्टि से भी कवि के विचारों में तब तक पूर्ण-स्थिरता का भाव नहीं आ पाया था। 'रेणुका' की कुछ कविताओं में कवि गाँधीवाद को

अव्यवहार्य मानकर उसके स्वर्गगमन की कामना करता है—

'रे ! रोक युधिष्ठिर को न यहाँ
जाने दे उसको स्वर्ग धीर।'

और क्रान्ति, हिंसा और युद्ध को ही परम वरेण्य मानता है—

"पर फिरा हमें गाण्डीव-गदा,
लौटा दे अर्जुन-भीम-वीर।
कह दे शंकर से, आज करें,
वे प्रलय नृत्य फिर एक बार।
सारे भारत में गूँज उठे,
हर-हर बम का फिर महोच्चार।"

वह ध्वंस का गायक बनकर पहले हमारे सामने आता है। 'रेणुका' की पहली रचना 'ताण्डव' में वह नटवर शंकर से प्रलयवाहक ताण्डव नृत्य की प्रार्थना करता है—

"नाचो, अग्निखंड भर स्वर में,
फूँक-फूँक ज्वाला अम्बर में,
अनिल-कोष, द्रुम-दल, जल-थल में,
अभय विश्व के उर-अन्तर में,
गिरे विभव का दर्प चूर्ण हो,
लगे आग इस आडम्बर में,
वैभव के उच्चाभिमान में,
अहंकार के उच्च शिखर में।

स्वामिन्, अन्धड़-आग बुला दो,
जले पाप जग का क्षण-भर में।
डिम-डिम डमरु बजा निज कर में
नाचो, नयन तृतीय तरेरे।
ओर-छोर तक सृष्टि भस्म हो
चिता-भूमि बन जाय अरे रे!
रच दो फिर से इसे विधाता, तुम शिव सत्य और सुन्दर!"

बाद की कविताओं में उसका यह प्रलयंकर रूप शान्त हो जाता है और वह लोक-जीवन से कुछ तटस्थ सा होकर वैराग्य की वाणी में बोलने लगता है—

'माया के मोहक बन की क्या कहूँ कहानी परदेशी!
भय है, सुनकर हँस दोगे मेरी नादानी परदेशी!

सृजन-बीच संहार छिपा, कैसे बतलाऊँ परदेशी ?
सरल कंठ से विषम राग कैसे मैं गाऊं परदेशी ?

× × ×

मैत्री के शीतल कानन में छिपा कपट का शूल यहाँ,
कितने कीटों से सेवित है मानवता का मूल यहाँ।
इस उपवन की पगडंडी पर बचकर जाना परदेशी !
यहाँ मेनका की चितवन पर मत ललचाना परदेशी !"

यह कविता छायावादी पलायन वृत्ति का स्पष्ट उदाहरण है। कवि फिर से अहिंसा, क्षमा, ममता, विश्वबन्धुत्व और सत्य की बातें करने लगता है। 'संजीवन धन दो' कविता में कवि कहता है —

'तप कर शील मनुज का साधें,
जग का हृदय-हृदय से बाँधें,
सत्य हेतु निष्ठा अशोक की, गौतम का प्रण दो।
मनमन मिलते जहाँ देवता ! वह विशाल मन दो !
देख सकें सब में अपने को,
महामनुजता के सपने को,
हे प्राचीन ! नवीन मनुज को वह सुविलोचन दो।

'रेणुका' कालीन दिनकर की यह डावाँडोल मनःस्थिति तत्कालीन भारत के सामाजिक और राजनीतिक अस्थैर्य का परिणाम है। उस काल में एक ओर जहाँ आतंकवादी क्रान्तिदल के नवयुवक गाँधीजी की सत्य-अहिंसा की नीति के विरुद्ध असन्तोष प्रगट कर रहे थे और अपने आतंकपूर्ण साहसिक कार्यों से हिंसा का आश्रय लेकर विध्वंसात्मक मार्ग का अवलम्बन कर रहे थे, वहाँ आगे चलकर उन्हें स्वयं गाँधीवादी विचारधारा को अपनाना पड़ा। आतंकवादी दल कांग्रेस में ही विलीन हो गया। इस राजनीतिक अव्यवस्था और अनिश्चितता का ही प्रतिविम्ब दिनकर के काव्य पर पड़ा है।

सब मिलाकर 'रेणुका' युग की परिस्थितियों का यथार्थ चित्र अंकित करने वाला प्रतिनिधि संग्रह है। यह ठीक है कि प्रथम रचना होने के कारण विचार का स्थैर्य और चिन्तन का तारतम्य नहीं है, कविताओं का संकलन भी विकास और कालक्रम को दृष्टि में रखकर नहीं किया गया, फिर भी 'रेणुका' दिनकर के ओजस्वी व्यक्तित्व की पहली चिनगारी है और चिनगारी में पर्याप्त उष्णता, आग और पौरुष की पुंजीभूत ज्वाला है।

हुंकार

'हुंकार' दिनकरजी की ओजस्वी एवं राष्ट्रीय कविताओं का संग्रह है। इसका प्रथम प्रकाशन सन् १९३८ में हुआ। इस संग्रह की कविताओं में कवि की विचार-धारा में एक निश्चितता मिलती है। 'हुंकार' तक आते-आते कवि की 'रेणुका' कालीन द्वैधी-भाव की मनःस्थिति में कुछ शिथिलता आजाती है। उसका राजनीतिक दृष्टिकोण भी स्थिर होने लगता है। 'हुंकार' में आकर कवि युग के वैताली एवं चारण के रूप में अपनी उदग्रवाणी में युग की पुकार को प्राथमिकता देता है। देश की पराधीनता, गरीबी एव उत्पीडन उसके कवि-मानस में एक भयंकर मन्थन पैदा कर देती है। वह तन्द्रा और मोहतमिस्रा के पाश से निकल कर्तव्यनिष्ठ कवि के रूप में ललकार उठता है—

"फेंकता हूँ, लो तोड़-मरोड़
अरी निष्ठुरे ! बीन के तार !
उठा चाँदी का उज्ज्वल शंख,
फूँकता हूँ भैरव हुंकार।"

जननी और जन्मभूमि के प्रति राष्ट्रीय कवि का मन त्याग और बलिदान की भावनाओं से ओत-प्रोत हो जाता है। वह जीते जी मातृभूमि के मस्तक को झुकता हुआ नहीं देख सकता। उसकी वाणी कोमल एवं मादक भावनाओं के प्रेम-गीत छोड़कर ज्वाला एवं क्रान्ति का गरल उगलने लगती है—

"नहीं जीते जी सकता देख
विश्व में झुका तुम्हारा भाल,
वेदना-मधु का भी कर पान
आज उगलूँगा गरल कराल।"

कवि देश की स्वतन्त्रता का उपासक है किन्तु इसलिए नहीं कि वह देश को सुख-समृद्धि प्रदान करेगी वरन् इसलिए कि वह स्वयं एक उद्देश्य एवं लक्ष्य है। वह उसे क्रान्ति का प्रतीक मानता है। स्वातन्त्र्य की भावना यदि अकर्तव्य एवं आलसी जन-मन को जन्म देती है तो वह कदापि वरेण्य नहीं हो सकती। स्वतन्त्रता अपने आप में स्वयं एक आराध्य देवी है—

"स्वातन्त्र्य, पूजता मैं न तुझे
इसलिए कि तू सुख-शान्ति-रूप।
हाँ, उसे पूजता, जो चलता
तेरे आगे नित क्रान्ति-रूप।"

शान्ति मानव-जीवन का काम्य अवश्य है किन्तु ऐसी शान्ति जिसका आधार राजनीतिक शोषण, अनाचार एवं अत्याचार हो, एक दिन क्रान्ति का रूप धारण कर लेती है। साम्राज्यवादी ताकतें केवल इसलिए शान्ति का नारा लगाती हैं कि जिससे उनके परराष्ट्र-शोषण में कोई विघ्न-व्याघात न हो। उनकी शान्ति की इस कृत्रिम दुहाई में स्थायित्व नहीं है। सामाजिक जीवन में भी पूँजीपति शान्ति के नाम पर परस्वत्वापहरण करता है। ऐसी शान्ति को कवि कायरता का दूसरा रूप मानता है। गरीबों और दलित-पीड़ितों का शोषण करना जितना निन्द्य है, उतना ही निन्द्य है उस शोषण को शान्तिपूर्वक सहन करते जाना। कवि कहता है—

"टांक रही हो सुई चर्म पर,
शान्त रहें हम तनिक न बोलें,
यही शान्ति, गर्दन कटती हो,
पर हम अपनी जीभ न खोलें ?

बोलें कुछ मत, रोटियाँ
श्वान छीन खाएं यदि कर से ;
यही शान्ति, जब वे आएँ, हम
निकल जाएँ चुपके निज घर से ?

देश-प्रेम की जो क्षीण धारा हिन्दी-काव्य में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र से प्रवाहित हुई थी, माखनलाल चतुर्वेदी, सुभद्राकुमारी चौहान, नवीन एवं मैथिलीशरण गुप्त में आकर पुष्ट और सबल बनी, वही दिनकर के 'हुंकार' में आकर साक्षात् राष्ट्रीयता की विशाल एवं अगाध प्रवाहिनी के रूप में हिलोरें मारकर बहने लगी। 'हुंकार' की पंक्ति-पंक्ति देश की जनता के हृदय में प्रलय का तूफान खड़ा करना चाहती है, उसमें देश की कोटि-कोटि माँ-बहिनों की अर्धनग्नता, अधिनायकवादी स्वार्थ, पराधीनता, विदेशी शासन की नृशंसता, सामाजिक उत्पीड़न एवं आर्थिक विषमता से कराहते हुए जनजीवन का बड़ा ही ओजपूर्ण वर्णन है। 'हुंकार' की कविताओं के कारण कवि को युवा भारत का सम्मान मिला।

'हुंकार' में कवि दिनकर का पौरुष एवं क्रांतिकारी रूप ही विशेषतः प्रकट हुआ है। कवि प्रणय-चुम्बनों की मादक-कहानी को त्यागकर कर्मक्षेत्र में निस्पृह भाव से उतर पड़ता है। गांधीजी की शांति एवं अहिंसा की नीति उसके क्रान्तिभाव के प्रतिकूल पड़ती है। वह अहिंसा की नीति को 'अजाधर्म' मानता है। अहिंसा और शान्ति भी उसी जाति, राष्ट्र अथवा समाज को शोभा देती है, जो स्वतः पौरुष-सम्पन्न, स्वतन्त्र एवं सबल हो, यही शान्ति और अहिंसा निर्बल के लिए 'अजाधर्म' सिद्ध

होती है। आग, क्रान्ति और विद्रोह ही पुरुष के पौरुष की जाज्वल्यमान शिखाएँ हैं। कवि कहता है—

मैं मनुष्य हूँ दहन धर्म है मेरा,
मृत्ति साथ अग्नि-स्फुलिंग है मुझ में।
तुम कहते हो, 'शिखा बुझा दो', लेकिन
आग बुझी तो पौरुष शेष रहेगा?"

प्रेम, शान्ति और अहिंसा देवत्व के गुण हैं। मानवत्व का धर्म देवत्व के धर्म से भिन्न है। देवत्व के गुण वहीं सार्थक और सफल हैं जहाँ उनके कद्रदान उपस्थित हों। हिंस्र, बर्बर और राक्षसी-वृत्ति के लोगों के समक्ष ये गुण अभिशाप सिद्ध होते हैं—

"तृणाहार कर सिंह भले ही फूले,
परमोज्ज्वल देवत्व प्राप्ति के मद में।
पर हिंस्रों के बीच भोगना होगा,
नख-रद के क्षय का अभिशाप उसे ही।"

'विपथगा' और 'दिगम्बरी'—'हुंकार' में संगृहीत ऐसी रचनाएँ जो हैं विश्व की किसी भी भाषा की बड़ी-से-बड़ी क्रान्तिकारी कविताओं में अपना मूर्धन्य स्थान पा सकती हैं। 'दिगम्बरी' में कवि का ओजःस्फूर्त व्यक्तित्व, प्रलयकारी रुद्र रूप और प्रभंजक क्रोध अपनी पराकाष्ठा पर पहुँच गया है। निम्न पंक्तियों में कवि की दिगम्बरी (क्रान्ति) का रूप देखिए—

"जरा तू बोल, तो सारी धरा हम फूँक देंगे,
पड़ा जो पन्थ में गिरि, कर उसे दो-टूक देंगे।
कहीं कुछ पूछने बूढ़ा विधाता आज आया,
कहेंगे—हाँ, तुम्हारी सृष्टि को हमने मिटाया।
जिला फिर पाप को टूटी धरा यदि जोड़ देंगे,
बनेगा जिस तरह उस सृष्टि को हम छोड़ देंगे।"

'विपथगा' में कवि ने उन सभी कारणों और परिस्थितियों का विश्लेषण किया है जिनसे क्रान्ति का प्रादुर्भाव होता है। इस कविता की बड़ी विशेषता यह है कि यह करुण रस समन्वित वीर रस की कविता है। परिस्थितियों की विषमता जहाँ पाठकों के हृदय में पहले करुणा का तीव्र उद्रेक करती है, वहीं बाद में अविलम्ब क्रोध,

आक्रोश और ओज को जन्म देकर भुजदण्डों को फड़काने में समर्थ होती है। अंग्रेजी के कवि शैली की स्वतन्त्रता (Liberty), इस्लाम की क्रान्ति (Revolt of Islam) एवं पश्चिमी प्रभंजन (ode to west wind) के परिपार्श्व में यदि 'दिनकर' की इन क्रान्तिवादी कविताओं को हम पढ़ें, तो स्पष्ट पता चलेगा कि इन कविताओं में उतना ही ओज, तेज एवं उफनता हुआ आक्रोश है जितना कि शैली की कविताओं में। हाँ, 'दिनकर' की कविताओं में केवल विनाश एवं ध्वंस का ही चित्रण है, उनमें शैली की कविताओं की भाँति निर्माण की भी किसी निश्चित दिशा का निर्देश नहीं है। इस सत्य की उपेक्षा नहीं की जा सकती कि 'हुंकार' की कविताओं में जहाँ विनाश का उग्र स्वर सर्वत्र हुंकृत होता है वहाँ निर्माण का प्रायः नितान्त अभाव है। सम्भवतः इसका कारण तत्कालीन भारतीय राजनीति की अनिश्चित दिशा थी। उस समय के भारतीय क्रान्तिकारी युवक किसी निश्चित योजना के अभाव में वर्तमान की शोचनीय अवस्था के विध्वंस में व्यस्त थे, नवसृजन की कोई रूपरेखा उनके सामने न थी।

'हुंकार' की लगभग सभी कविताएँ नवयुवकों के कंठों का गायन बनीं। 'आश्वासन' कविता में कवि निराश युवकों के हृदयों से रोदन के भावों को दूर भगाकर साहस और कर्मनिष्ठा के भाव पैदा करता है। 'अनल किरीट', 'तकदीर का बटवारा', 'सिपाही', 'असमय आह्वान' आदि कविताएँ कवि दिनकर की प्रबुद्ध आत्मचेतना, युग-पुकार और देश, जाति एवं मानवात्मा के प्रति सजग कर्मनिष्ठा को प्रकट करती हैं। 'हुंकार' दिनकर के कविकर्म की वह सीढ़ी है, जिस पर चढ़कर उसने साम्राज्यवाद और पूँजीवाद से अभिशप्त एवं संतप्त मानवता की कल्याण-कामना के सौध-शिखर की ओर कदम बढ़ाया है।

—: ० :—

'सामधेनी' : यौवन के उद्दाम वेग की वाणी

डा० विश्वनाथ मिश्र

दिनकर यौवन के उद्दाम वेग के कवि हैं। मनुष्य अपनी शिराओं में यौवन की सशक्त चेतना का अनुभव अनेक रूपों में करता है। उसका एक वह भी स्वरूप है, जब अपनी प्रेयसी के रूप-वैभव में खोये हुए हम, समीप से आती हुई पीड़ित मानवता की चीख पुकारों की भी उपेक्षा करके अपने अनुचर को आदेश देते हैं कि बाहर खड़ी हुई भीड़ से कह दो, उसका जो कुछ बिगड़ा है उसे कल बनाएंगे, आज तो हम अपने शयनागार में हैं। अपनी धमनियों में यौवन का प्रवाह अनुभव करते हुए भी कभी-कभी हम, मानसिक कुण्ठाओं के कारण, अपने को इतना अशक्त अनुभव करते हैं कि समक्ष खड़ी हुई विघ्न-बाधाओं से अतिक्रान्त होकर, किसी अदृश्य-शक्ति से प्रार्थना करते हैं कि वह हमें इस धरती के कोलाहल से दूर किसी ऐसे लोक में ले चले जहाँ सागर आकाश को निश्छल प्रेम की कोई कथा सुना रहा हो। नवयौवन की नयी चेतना एवं नवीन स्फूर्ति का एक वह भी रूप है, जब मनुष्य अपनी प्रेयसी के स्नेह-भरे आह्वान का स्नेह-भरा उत्तर देकर भी, अभी आता हूँ कहकर, अपने चारों ओर की कुछ वास्तविकताओं के प्रति सजग होकर, उन्हें मिटाने के लिए चल देता है। दिनकर ने अब तक अधिकांश में यौवन के इसी कर्तव्यनिष्ठ आवेग का अनुभव किया है; और उनके इस काव्य-संग्रह 'सामधेनी' में उनकी इसी चेतना के बोल द्रुत गति और तार-सप्तक के स्वर में सुनने को मिलते हैं।

दिनकर के इस काव्य-संग्रह में उनकी सन् १९४१ से '४६ तक की रचनाएँ हैं। हमारे देश के ही लिए नहीं, समस्त विश्व के लिए ये वर्ष बड़े संघर्षपूर्ण एवं भयंकर आशंकाओं से ग्रस्त रहे हैं। दृश्य-पट बड़ी द्रुत गति के साथ परिवर्तित होता रहा है। सन् १९३९ की पहली सितम्बर को ही हिटलर ने पोलैंड पर आक्रमण करके द्वितीय विश्वयुद्ध का सूत्रपात कर दिया था। उसकी सेनाएँ योरप के लगभग सभी देशों—फ्रांस, बेल्जियम, चेकोस्लोवाकिया, यूगोस्लाविया, रूमानिया आदि—पर अधिकार करने के अनन्तर, झंझा के प्रबल वेग के साथ सोवियत रूस में प्रविष्ट हो रही थीं। पूर्व में उसी शीघ्रता के साथ जापान विभिन्न

देशों पर अधिकार करता जा रहा था। हमारे देश में भी दृश्यावली बड़ी शीघ्रता के साथ बदल रही थी। व्यक्तिगत सत्याग्रह—जन-आन्दोलन की तैयारी—सन् '४२ की आठ अगस्त की रात्रि को राष्ट्रीय नेताओं की गिरफ्तारी—गाँधीजी का अनशन —नेताजी की आज़ाद हिन्द फौज का बर्मा की ओर से बार-बार देश की सीमाओं से टकराना—आदि-आदि। तभी सात मई सन् १९४५ को हिटलर का पतन और योरप में युद्ध-विराम, हिरोशिमा और नागासाकी पर अणु बमों का विस्फोट और जापान की पराजय, अनेक देशों में स्वाधीनता आन्दोलन—सशस्त्र-विद्रोह। भारतवर्ष में भी नौसैनिकों का विद्रोह—जबलपुर में सैनिक संस्थान की हड़ताल। इंग्लैंड में मजदूर दल का शासन—हमारे देश का स्वाधीन होना—विभाजन—साम्प्रदायिक दंगे—नृशंस हत्याएँ—दोनों क्षेत्रों से महाभिनिष्क्रम —गांधीजी की नोआखाली यात्रा·····। स्थिति-प्रज्ञ कवि दिनकर ने देश-विदेश की इन समस्त घटनाओं से आन्दोलित होकर काव्य-रचनाओं का सृजन किया है। युग का स्वर शायद दिनकरजी के अन्य किसी संग्रह में इतना मुखर नहीं है।

दिनकर अपने इस काव्य-संग्रह में अन्तर्राष्ट्रीय चेतना से सम्पन्न कवि के रूप में प्रकट हुए हैं; फिर भी राष्ट्रीय परिस्थितियों के प्रति हम उन्हें अधिक सजग देखते हैं। इन संघर्षपूर्ण वर्षों में, उनके मन में सबसे प्रबल आकांक्षा, विदेशी शासन से अपने देशवासियों को मुक्त करने की रही है। सन् १९४४ में जब लगभग सभी राष्ट्रीय नेता जेल के सीकचों के पीछे थे, स्वाधीनता संग्राम रूपी यज्ञ को शीतल होते हुए देखकर उन्हें लगा कि इस यज्ञाग्नि को पुनः प्रज्वलित करने के लिए किसी पुरोधा कवि की अपेक्षा है—

"सुलगती नहीं यज्ञ की आग
दिशा धूमिल यजमान अधीर।
पुरोधा कवि कोई है यहाँ
देश को दे ज्वाला के तीर॥"

और इस भूमिका को उन्होंने स्वयं ग्रहण कर लिया है। हमारे प्राचीन साहित्य में 'सामधेनी' ऋग्वेद की उन ऋचाओं को कहा गया है जो यज्ञाग्नि प्रज्वलित करते समय पढ़ी जाती थीं। दिनकरजी ने, स्वाधीनता के यज्ञ में सम्मिलित होने के लिए नवयुवकों का आह्वान करते हुए जो गीत लिखे हैं, उनका भी नामकरण 'सामधेनी' ठीक ही किया है।

दिनकरजी की राष्ट्रीय चेतना में जनवाद का स्वर भी सुनने को मिलता है। जन-जीवन के प्रति सजग होने के कारण ही उनकी रचनाओं में व्यक्तिगत जीवन के सुख-दुःख की चर्चा नहीं, सामान्य जनता के हर्ष-विषाद को वाणी देने का उद्योग

मिलता है। दिनकर की यह जनवादी प्रवृत्ति बौद्धिक आग्रह से नहीं, वरन् जन-साधारण के दुःख एवं कष्टों को देखकर, संवेदना या सहानुभूति की भावना से मन में उमड़ी है। उन्होंने स्पष्ट कहा है कि उनका मानवतावाद अन्तःप्रेरणा से प्रसूत है—

मृत्तिका तिलक लेकर प्रभु का आदेश मान ।
मैंने अम्बर को छोड़ धराका किया गान ।।
मानव की पूजा की मैंने सुर के समक्ष ।
नर की महिमा का लिखा पृष्ठ नूतन वलक्ष ।।

दिनकरजी का मन मानवतावादी भावना से भली प्रकार आप्लावित है; इसीलिए आज के बुद्धिवादी युग में, जब अनेक देशी-विदेशी जनवादी विचारधाराओं को लेकर शुष्क काव्य-रचनाओं का स्रजन हो रहा है, वे हमारे अन्तस् को भाव-विभोर करने वाली सरस कविताओं का निर्माण कर रहे हैं। अपने कवि-कर्म की व्याख्या उन्होंने स्वयं की है, उनका मन स्वर का पथ पाकर स्वयं प्रवाहित हो चला है; और उन्होंने जीवन में गीतों की सगुण राह ग्रहण कर ली है। इसीलिए तो उनके उद्बोधन-गीत देश के नर-नारियों को आलस्य एव अकर्मण्यता की मोह-निद्रा से जगाने में समर्थ हुए हैं।

दिनकरजी के इस संग्रह में उनका युग-द्रष्टा का रूप अधिक निखरा है। अपने चारों ओर की विषम परिस्थितियों को उन्होंने भली प्रकार समझा है। उनके आस्थावान मन की कविता जब देवार्चन की ओर तत्पर होती है तो वे उससे अपनी फूलों की डाली में एक ऐसा दर्पण ले जाने का आग्रह करते हैं, जो उनके आराध्य के आगे जगत् की आज की वास्तविकता का पूर्ण दिग्दर्शन करा दे, जहाँ परम्पराएँ बुझ रही हैं। विद्या अपने ही भीतर सिमटकर अनुर्वरा हो गयी है। ब्रह्माणी स्वयं गीतों का शव ढोती है, उसके हाथों में वीणा की लाश है और वह युग के आतप से बचकर कहीं एकान्त में छिपकर सोती है। दिनकरजी ने अपने इन उद्गारों में, प्रतीकवादी शैली में, आज के प्राचीनतावादियों, आत्मनिष्ठ विद्वानों एवं अन्तर्लीन कलाकारों पर बड़ा तीखा व्यग किया है। दिनकर की दृष्टि वर्तमान जीवनधारा के इस ह्रासोन्मुख रूप पर ही नहीं गई है; उन्होंने इन विषम परिस्थितियों को विनष्ट करने के लिए उद्वेलित जागरूक मानवता को भी देखा है—

दहक रही मिट्टी स्वदेश की
खौल रहा गंगा का पानी
प्राचीरों में गरज रही है
जंजीरों में कसी जवानी।

सन् १९४२ में लिखी गयी ये पंक्तियाँ विदेशी दमन-चक्र के नीचे पिसती भारतीय जनता का मर्मस्पर्शी चित्र तो प्रस्तुत करती ही हैं, मानवात्मा के विद्रोही स्वरूप का भी उद्घाटन करती हैं।

दिनकरजी की इन रचनाओं में इस प्रकार युगद्रष्टा के साथ-साथ उनका युग-स्रष्टा का रूप भी दर्शित होता है। भयंकर दमन के उन क्षणों में निर्माण का स्वर विद्रोह के उद्घोष के रूप में ही सुनने को मिल सकता था, और दिनकर ने इसी रूप में उसे प्रस्तुत भी किया था। इसी भावना से ओत-प्रोत होकर उन्होंने सरहद के पार से आती हुई आवाजों की ओर भी देश के नवयुवकों का ध्यान आकर्षित किया था। उन्हीं को दृष्टि में रखकर उनका उद्बोधन-गीत है—

खड़ा हो, कि पच्छिम के पिछड़े हुए लोग
उठने लगे ले मशाल!
खड़ा हो, कि पूरब की छाती से भी
फूटने को है ज्वाला कराल!
खड़ा हो, कि फिर फूँक विष की लगा
धूर्जटी ने बजाया विषान!
खड़ा हो, जवानी का झंडा उड़ा
ओ मेरे देश के नौजवान!

यूनान के युद्धोत्तर विद्रोह के समय लिखित ये पंक्तियाँ, दिनकरजी की अन्तर्राष्ट्रीय चेतना को स्पष्ट करती हैं।

दिनकरजी ने विद्रोह की भावना से ओत-प्रोत होकर विशेष रूप से नवयुवकों से इस दिशा में अग्रसर होने का आह्वान किया है। देश के नौजवानों से उनका कहना है कि उन्हें केवल अपने चारों ओर घनीभूत होते हुए अन्धकार को ही नहीं देखना चाहिए वरन् अपने अन्तस् में निहित प्रकाश को भी पहचानना चाहिए। नवयुवकों से उनका आग्रह है—

भुजाओं पर मट्टी का भार फूलों-सा उठाए जा,
कंपाये जा गगन को, इन्द्र का आसन हिलाये जा।
जहाँ में एक ही है रोशनी, वह नाम की तेरे,
ज़मी को एक तेरी आग का आधार है साथी।

यौवन की विद्रोह की भावना के प्रति प्रबल आस्था को लेकर दिनकर ने भाव-विभोर होकर उसके विराट् रूप की भी कल्पना की है—

समस्त सूर्य-लोक एक हाथ में लिए हुए,
दबा के एक पाँव चन्द्र-भाल पर दिये हुए,

खगोल में धुआँ बिखेरती प्रतप्त श्वास से,
भविष्य को पुकारती हुई प्रचण्ड हास से,
उछाल देव-लोक को मही से तोलती हुई,
मनुष्य के प्रताप का रहस्य खोलती हुई,
विराट् रूप विश्व को दिखा रहीं जवानियाँ।

यौवन की असीम क्षमता और अपार शक्ति का इतना मोहक अभिनन्दन अन्यत्र दुर्लभ है।

दिनकर में यौवन के प्रति प्रबल आस्था के साथ भविष्य के प्रति आशावादी दृष्टिकोण भी है। तभी तो वह घनीभूत होते हुए अन्धकार के क्षणों में भी मनुष्य के मंगलमय भविष्य का स्वप्न अपने अन्तस् में जगाये रख सके हैं। देश के विभाजन के अनन्तर दोनों ओर जो पाशविकता का नग्न नृत्य आरम्भ हो गया था, उससे उनका भावुक हृदय विक्षुब्ध होकर रो पड़ा था—

नारी नर जलते साथ, हाय!
जलते हैं मांस रुधिर अपने।
जलती है यौवन की उमंग,
जलते हैं सदियों के सपने,

इन्हीं विषम परिस्थितियों में गाँधीजी की नोआखाली यात्रा आरम्भ हुई और कवि को अपने आशावाद के लिए संबल मिला—

दुनिया भी देखे अन्धकार की
कैसी फौज उमड़ती है!
औ' एक अनोखी किरण
व्यूह में जाकर कैसे लड़ती है!

जीवन के प्रति इसी आशावादी दृष्टिकोण से अनुप्राणित होने के कारण, अपने 'अन्तिम मनुष्य' की भाँति दिनकरजी भी, प्रलय की घटाओं को घिरते हुए देखकर भी भय-भीत नहीं है : "एक अमर विश्वास ज्योति-सा उनमें अभी भरा है।"

दिनकरजी जब अपने इस संग्रह की रचनाओं का निर्माण कर रहे थे, तब तक 'तार-सप्तक' प्रकाशित हो चुका था; और अज्ञेय जी प्रयोगवाद का शंख फूँक चुके थे। युग की परिस्थितियों के प्रति सजग दिनकर ने साहित्य के नवीन स्पन्दन का भी अनुभव किया; और उन्होंने कई प्रयोगवादी रचनाएँ प्रस्तुत कीं। 'रात यह कहने लगा मुझसे गगन का चाँद।' 'जा रही देवता से मिलने' और 'अंतिम मनुष्य' ऐसी ही कृतियाँ हैं। किन्तु भावुक कवि अपने युग के नए सत्य को, नवीन भावों एवं विचारों को अन्य प्रयोगवादी कवियों की भाँति बौद्धिक शुष्कता से एवं 'गद्य की लय' में नहीं,

वरन् मन के रंगों से अनुरंजित करके प्रस्तुत कर सका है। इन कविताओं में भी दिनकर का विद्रोह-भाव सजग है। चाँद के मुख से मनुष्य की दुर्बलता का परिहास सुनकर वह आक्रोश के साथ कह उठे हैं—

"स्वर्ग के सम्राट् से जाकर खबर करदे,
'रोज ही आकाश चढ़ते जा रहे हैं वे,
रोकिए जैसे बने इन स्वप्न वालों को,
स्वर्ग की ही ओर बढ़ते आ रहे हैं वे।"

दिनकर ने प्रयोगवाद को ग्रहण किया है, किन्तु इस धारा के अधिकांश कवियों की भाँति वह शीशमहल में बैठकर अपने अहं का विराट् प्रदर्शन नहीं देखते ; कभी-कभी जाने-अनजाने झरोखे से पीड़ित मानवता पर दृष्टि डालकर, उसके प्रति कोरी बौद्धिक सहानुभूति नहीं प्रकट करते। दिनकर जनता के कवि हैं, जनता के बीच रहकर उन्होंने उसका दुःख-कष्ट स्वयं झेला है और फिर विद्रोह की प्रेरणा प्रदान की है। जनवादी मनोवृत्ति से अनुप्रणित होने के कारण ही चाँद को मनुष्य की स्वप्नवादी प्रवृत्ति का मखौल करते हुए देखकर उनके अन्तस् की रागिनी गरज उठी है—

मैं न वह जो स्वप्न को केवल सही करते,
आग में उसको गला लोहा बनाती हूँ,
और उस पर नींव रखती हूँ नए घर की
इस तरह दीवार फौलादी उठाती हूँ।

दिनकर की कर्मवादी जीवन-दृष्टि इन पंक्तियों में चरितार्थ है।

दिनकर की स्वप्नवादी मनोवृत्ति ने उन्हें कर्मठता प्रदान करने के साथ-साथ दार्शनिक भी बना दिया है। दर्शन जीवन के सत्य का व्यवस्थित रूप से कथन है। दिनकर ने अपनी रचनाओं में अनेक स्थलों पर मानव जीवन के बाह्य-यथार्थ एवं आन्तरिक सत्य का उद्घाटन किया है। ऐसे ही स्थलों पर उनका दार्शनिक रूप प्रकट हुआ है। उनका दर्शन है कि आज मनुष्य के बाह्य जीवन में जो अव्यवस्था एवं अन्तर्मन में जो विक्षोभ है, उसका कारण है कि मनुष्य आज अपने हृदय की उपेक्षा करके बुद्धि का आराधक हो गया है। उसने अपने चारों ओर सभ्यता की चमक-दमक तो बहुत खड़ी कर ली है ; किन्तु उसके हृदय का सरोवर सूखा है। मार्क्स ने एक स्थान पर कहा है कि दार्शनिकों ने अब तक जीवन की वास्तविकता का दिग्दर्शन मात्र कराया है, किन्तु अब समस्या उस वास्तविकता को परिवर्तित करने की है। दिनकर का दार्शनिक इस नये दायित्व के प्रति भी सजग है। इसी जागरूकता को लेकर उनका मन्तव्य है—

दावानल-सा जला रहा
नर को अपना ही बुद्धि-अनल ;

भरो हृदय का शून्य सरोवर,
दो शीतल करुणा का जल।

उनका कवि इस नयी भूमिका का समुचित निर्वाह कर रहा है और उसका एक पाठ है—

थकी बुद्धि को पीछे तजकर
मैं श्रद्धा का दीप जलाता
बहुत दूर चलकर धरती के
हित पीयूष कलश ले आता
× × ×
चलता मैं फेंकते मलीमस पापों पर चिनगारी।
सुन उद्बोधन-नाद नींद से जग उठते नर-नारी॥

दिनकर में इस प्रकार सामान्य दार्शनिकों जैसी जीवन के प्रति तटस्थता नहीं, वरन् कर्मयोगी की कर्मठता है।

दिनकर का यह काव्य-संग्रह 'सामधेनी' इस प्रकार यौवन के उद्दाम वेग की वाणी ही नहीं युग की वाणी भी है। यह उस दर्पण के सदृश है जिसमें कुरूपता एवं अस्तव्यस्तता के वातावरण में बैठा हुआ कोई व्यक्ति अपने चारों ओर की परिस्थितियों को सुधारने-संवारने का उद्योग कर रहा है। वह छोटे-छोटे बड़े सुन्दर खिलौनों का निर्माण कर रहा है। उसकी असाधारण प्रतिभा एवं कलाकौशल को देखकर मन कहता है कि यह खिलौने ही क्यों बना रहा है, किसी विशाल मूर्ति की रचना क्यों नहीं करता। भीतर से कोई बोलता है, नये युग का यह नया कवि चन्द, प्रगति के पथ पर बढ़ती हुई मानवता के लिए उद्बोधन-गीत मात्र ही क्यों लिख रहा है, किसी बड़े काव्य का निर्माण क्यों नहीं करता? 'सामधेनी' में काव्य प्रतिभा का विपुल वैभव होते हुए भी समय का स्वर ही प्रधान है; किन्तु हमें प्रसन्नता है, अभी-अभी कवि की एक कृति प्रकाश में आई है, 'उर्वशी', उसके रूप-वैभव एवं अन्तस् की गहनता का अनुशीलन भविष्य में भी मानव-मन को आनन्द-मग्न करेगा।

—: ० :—

सरस भावों की रसधार : 'रसवन्ती'

डा० शिवशंकर शर्मा

भारत के पूर्वी क्षितिज पर उदित कविवर रामधारीसिंह 'दिनकर' के व्यक्तित्व और कवित्व में हमें एक इतिहास की झाँकी मिलती है। उस इतिहास में अश्रुओं की आर्द्रता, क्रान्ति की निष्कम्प अग्निशिखा और उत्कर्ष की बलवती और फलवती चेतना दिखाई देती है। भीषण भूकम्पों की गोद में पली मुंगेर की धरती ने, वाणी का वरदान और लेखनी की अद्भुत शक्ति देकर, एक सच्चे संवेदनशील कलाकार को अपने हृदय से जन्म दिया है। मुझे दिनकरजी का प्रादुर्भाव ऐसा ही लगता है।

दिनकरजी कवि होने के साथ-साथ प्रौढ़ गद्य के प्रणेता भी हैं। यदि उनका गद्य कवियों की कसौटी है, तो उनकी कविता को एक गहरी नदी कहा जा सकता है जिसकी अपनी स्निग्ध गति है, और अपने निश्चित मोड़ हैं।

"रसवंती" का दिनकरजी की प्रारम्भिक रचनाओं में विशिष्ट स्थान है। इसके मूल स्वर में न तो किसी विद्रोह की विरासत है, न किसी द्वन्द्वात्मक गीत की लय है, और न उसमें हुंकार की ओजस्विता है जिसे राष्ट्रीयता की सहोदरा कह सकें। इसकी भूमिका भले ही उस परम्परा का प्रसाद हो, जिसके अन्तर्गत आधुनिक हिन्दी कवियों को अपनी कहानी अपनी जबानी कहने का चाव होने लगा है, फिर भी उसके गिने-चुने पृष्ठों में काफी वजन है। भूमिका लिखकर कोई कवि अपने पाठकों की समझदारी का, जिसका अभी तक कोई पैमाना नहीं बन सका, दायित्व कुछ कम ही कर देता है। कभी-कभी अपने इस दांव से वह साफ बच भी जाता है। दिनकरजी बात कहते-कहते न कभी उलझते हैं और न उलझाते ही हैं। उनकी मान्यताएँ पुष्पित लताओं की तरह अर्थ-समृद्ध हैं, मौलिक हैं। वे उसी कोटि के कवि हैं, मनीषी हैं, जिन्हें आर्षसमर्थन प्राप्त है। दिनकरजी के विचार उनके शास्त्रीय अध्ययन और मनन के सुपरिणाम हैं। उनका कवि यद्यपि पक्की जमीन पर मजबूती से खड़ा है, तथापि उसका गहन चिन्तन मौका पाकर अध्यात्म के उच्चतम शिखर की ओर उड़ान भरने लगता है।

'रसवन्ती' के प्रारम्भ में सारिका को सम्बोधित करके कवि ने जो काव्यमय संकेत दिया है, उसका भी कृति के मूल्यांकन में उपयोग किया जा सकता है। जब वासन्ती शृंगार से तृण, तरु, लता और वनराजि सुषमित हो उ`, तब किसी उजड़ी कटीली डार को देखकर किसके मन में दर्द न होगा। कवि के अन्तस् को कोई बात कचोटने लगती है, परन्तु यदि उसे अपने अन्तर्वर्ती रस-स्रोतों पर विश्वास न होता तो उसके भीतर की जलन और प्यास उसे जला ही डालती। फिर भी उसे अभाव की बिवाई भरने के लिए रस चाहिए, मन बहलाने को मीठी याद चाहिए और चाहिए संजीवनी जो सूखी डार पर नई कोपलें उगादे, तभी तो उसका जीवन-व्यापी दाह शान्त हो सकेगा। इस प्रकार की अभिव्यक्ति दिनकरजी की नई अनुभूति का प्रतिफलन है। यह बात उन्होंने स्वयं भी स्वीकार की है। वह 'रसवन्ती' में कुछ अधिक अलमस्त और कल्पनाशील प्रतीत होते हैं—"इन गीतों में, मैं अपने हाथ से छूट सा गया हूँ और प्रायः अकर्मण्य आलसी की भांति उस प्रगल्भ अप्सरी के पीछे-पीछे भटकता फिरा हूँ जिसे कल्पना कहते हैं।" मन की बात कहकर जब मन का बोझ उतर जाता है, तो कवि जैसे फुर्सत पा लेता है।

'रसवन्ती' में संगृहीत इकत्तीस कविताएँ कवि की अनूठी और नवीन उद्भावना की प्रतीक हैं। एक प्रकार से नयापन ही उनका अनूठापन है। कवि के गीत वस्तुतः वैसे ही सरल, चपल, मृदुल, दुग्ध-धवल आदि विशेषणों से भरे होते हैं जैसे कि शिशु। वे कवि के, बस, हृदय ही होते हैं—

"निज मधु-चक्र निचोड़ लगन से पाला इन्हें हृदय ने,
बड़े नाज से, बड़ी साध से, ममता, मोह, प्रणय से॥"

(गीत—शिशु)

दिनकरजी खूब समझते हैं कि कुचक्र और प्रलोभनों का केन्द्र यह जगत किसी भावुक को अपने प्रकृत गीत गाने ही कब देता है—

"छू कर भाल वरद कर से, मुख चूम विदा दो इनको,
आशिष दो ये सरल गीत-शिशु विचरें अजर-अजय से।
दिशि-दिशि विविध प्रलोभन जग में, मुझे चाह बस इतनी,
कभी निनादित द्वार तुम्हारा हो इनकी जय-जय से।"

'रसवन्ती' शीर्षक कविता कवि की सुकुमार भावनाओं की विस्तृत अभिव्यक्ति है। यह कवि-मर्म को छू कर मर्मस्पर्शिनी और 'दिव से भी मधुर' विश्व-भर की थाती बन गई है। कर्म के कोलाहल से भरपूर संसार ने मानवता को आज सचमुच रौंद डाला है, और अघटित घटनाओं का क्रम निरन्तर चल रहा है—

"पत्तियाँ फूलों की सुकुमार
गई हीरे-से दिल को चीर,
कभी कलिकाओं के मुख देख
अचानक ढुलक पड़ा दृग-नीर।
तृणों में कभी खोजता फिरा
विकल मानवता का कल्याण,
बैठ खंडहर में करता रहा
कभी निशि-भर अतीत का ध्यान।"

दिनकरजी अभिधा शक्ति के अद्भुत माध्यम से उस विकृत विश्व को शाप देते हैं, और देते हैं उपालम्भ उस ईश्वरीय सत्ता को जिसने दीन-दलितों के करुण-क्रन्दन का निवारण नहीं किया। कवि-हृदय जगत् की कठोरता से, सभ्यता की होली से और मानव की दुर्बलता एवं विवशता से अत्यन्त क्षुब्ध है। तभी उसे अपने सुखद अतीत की टीस भी अनुभव होने लगती है—

"दुखों की सुख में स्मृतियाँ मधुर,
सुखों की दुख में स्मृतियाँ शूल,
विरह में किन्तु, मिलन की याद
नहीं मानव-मन सकता भूल।
याद है वह पहला मधुमास,
कोरकों में जब भरा पराग,
शिराओं में जब तपने लगी
अर्ध परिचित-सी कोई आग।"

साथ ही प्रेम की अजेयता पर भी कवि ने विश्वास व्यक्त किया है—

"आपदाएँ सौ बन्धन डाल
प्रेम का कर सकतीं अपमान?
यहाँ शापित यक्षों के रोज
उड़ा करते अम्बर में गान।"

प्रस्तुत कविता में दिनकरजी कुछ रहस्यात्मक अथवा दार्शनिक-से भी दीख पड़ते हैं जबकि वह माया-व्यवधान, निर्बन्ध-विराट्, काल-नौका, प्रभु का देश आदि शब्दावली का प्रयोग करने लगते हैं। प्रेममयी भावुकता, सौन्दर्य का आकर्षण और उसकी सूक्ष्म अनुभूति के साथ-साथ प्रकृति का मधुमय शृंगार और उसकी प्रेरणा 'रसवन्ती' की अधिकांश कविताओं में उपलब्ध है। कवि का यह काल्पनिक उल्लास जिन कविताओं में अधिक मुखर हो उठा है, वे हैं—'गीत-अगीत', 'प्रीति', 'गीत',

'अन्तर्वासिनी', 'भ्रमरी' और 'प्रतीक्षा'। इनमें प्राकृतिक सुषमा के प्रति मोह स्पष्ट है, और प्रकृति के रँगीले व्यापारों और उपमानों में कवि का भटकता हृदय आश्रय खोजता हुआ प्रतीत होता है। ऐसा लगता है कि प्रकृति भी दुखे दिल को सहारा देना चाहती है और मानव के सदृश ही संवेदनशील हो जाती है—

"गाकर गीत विरह के तटिनी वेगवती बहती जाती है,
दिल हलका कर लेने को उपलों से कुछ कहती जाती है।
तट पर एक गुलाब सोचता—'देते स्वर यदि मुझे विधाता,
अपने पतझड़ के सपनों का मैं भी जग को गीत सुनाता।"

(गीत-अगीत)

प्रीति नील, गम्भीर गगन सखि !
चूम रहा जो विनत धरणि को
निज सुख में नित मूक-मगन सखि।

(प्रीति)

उर की यमुना भर उमड़ चली,
तू जल भरने को आ न सकी,
मैंने जो घाट रचा सरले !
उस पर मंजीर बजा न सकी।

(गीत)

चूस-चूस मकरन्द हृदय का
संगिनि ! तू मधु-चक्र सजा,
और किसे इतिहास कहेंगे ?
ये लोचन गीले-गीले ?

(भ्रमरी)

तुम जानती सब बात हो, दिन हो कि आधी रात हो,
मैं जागता रहता कि कब मंजीर की आहट मिले,
मेरे कमल-वन में उदय किस काल पुण्य प्रभात हो,
किस लग्न में हो जाय कब जाने कृपा भगवान की।
अयि संगिनी सुनसान की !

(प्रतीक्षा)

इन पंक्तियों में कवि की मिलनोत्कण्ठा और दर्शन की प्यास प्रतीक्षा की आकुलता को व्यक्त करने में सफल हैं। प्रेमी कवि अन्तर्व्यथा के गोपन को ही श्रेष्ठ समझता है, क्योंकि अभावुक संसार किसी की पीड़ा को सहलाना नहीं जानता—

"मुख में हँसी, मन म्लान है,
उजड़े घरों में गान है,
जग ने सिखा रक्खा, गरल
पीकर सुधा-वर्षण करो,
मन में पचा ले आह जो
सबसे वही बलवान है।"

(प्रतीक्षा)

प्रेमी के हृदय में प्रेयसी का रूप-शृंगार देखकर बहुत बलबले उठते हैं, पर उसकी नज़र को देखते ही उसके हौसले पस्त हो जाते हैं। उर्दू कवियों की इस अनभूति का दिनकरजी ने कितनी सरसता से चित्रण किया है—

"शशि-मुख पर दृष्टि लगाए लहरें उठ घूम रही हैं,
भयवश न तुम्हें छू पातीं पंकज पद चूम रही हैं,
गा रहीं चरण के पास विकल छवि-बिंब लिए अन्तर में री !
तुम कौन प्राण के सर में ?"

(अन्तर्वासिनी)

"पावस-गीत" में परम्परा-प्रसिद्ध मेघदूत के मन्द स्वर रिमझिम की सरगम पर थिरकते सुनाई पड़ते हैं। इसी मादक मुहूर्त में कवि के दिल के छाले फूट पड़ते हैं, फिर भी उसकी व्यथाएँ ज्यों-की-त्यों बनी रहती हैं। पावस की झड़ी मानों पानी के बहाने विरह की ज्वाला उद्दीप्त कर देती है, और जल जाते हैं प्रेमियों के आशियाने। इस कविता में पावस के साँवलेपन के साथ छायावाद घुला-मिला दीख पड़ता है—

"भींग रहीं अलकें संध्या की, रिमझिम बरस रहे जलधर,
फूट रहे बुलबुले या कि मेरे दिल के छाले सजनी ?
बुझती नहीं जलन अन्तर की, बरसें दृग, बरसें जलधर,
मैंने भी क्या हाय, हृदय में अंगारे पाले सजनी।"

इतना सब कुछ होते हुए भी कवि अपने भावों की वृष्टि में बह नहीं जाता, बल्कि यह स्मरण करते ही कि यह 'क्षिति का मंगल-क्षण' है, वह अपने क्रन्दन को संयमित करके मल्हार की बात छेड़ देता है। इस प्रकार अति भावुकता पर विवेक का अंकुश लगाने की विलक्षणता दिनकरजी में प्रायः मिलती है। उनके हृदय में एक विशाल सिंधु हिलोरें लेता है, और उनके भोले प्राण बहुत मचलते और तड़पते हैं, किन्तु अपनी-अपनी परिधि के भीतर ही। कवि ने प्रेम की गम्भीरता और उसके सर्वत्याग-परक आदर्श को पहचानकर ही तो कबीर जैसी बात कही है—

"सौदा कितना कठिन सुहागिनि ! जो तुझसे गँठबंध करे,
अंचल पकड़ रहे वह तेरा, संग-संग बन-बन डोले।
हाँ, सच है, छाया सुरूर तो मोह और ममता कैसी ?
मरना हो तो पिये प्रेम-रस, जिये अगर बाउर होले।"

(सावन में)

जहाँ मानव-प्रकृति और बाह्य प्रकृति का सामंजस्य बिठाने की चेष्टा की गई है, वे काव्य-स्थल भी पाठक के मानस-पट पर अंकित हो कर ही रहते हैं। 'संध्या' के कई वर्णनात्मक चित्र इस दृष्टि से बड़े सफल हैं। प्रथम चित्र में यद्यपि वीभत्स रस मिलता है, फिर भी एक मद्यप का स्वाभाविक रूपाभिनय आँखों में उतर जाता है—

'जीर्णांवय अम्बर-कपालिक शीर्ण, वेपथुमान,
पी रहा आहत दिवस का रक्त मद्य-समान।
शिथिल, मद-विह्वल, प्रकंपित-वपु, हृदय हतज्ञान,
गिर गया मधुपात्र कर से, गिर गया दिनमान।'

(सन्ध्या)

इसके बाद संध्या की गहन शान्ति कवि के विशाल हृदय के ओर-छोर पर छा जाती है। भूमि के गति-रोर के शान्त होते ही कवि एक भाव-समाधि में लीन हो जाता है, और उसके ध्यान-लोक में 'मेघदूत' की विरहिणी यक्ष-प्रिया अनन्त मनोव्यथा से विगलित दिखाई देती है—

"एक अलका व्योम के उस ओर,
यक्षिणी कोई विषाद-विभोर,
खोजती, फिरती न मिलते कांत,
बीतते जाते अमित कल्पान्त,
वेदना बजती कठिन मन-माँझ,
पल गिना करती कि हो कब साँझ,
अश्रु से भीगी, व्यथा से दीन,
ऊँघती प्रिय-स्वप्न में तल्लीन।"

यह आकुलता तो अनादि काल से प्रेमियों का प्राण बनती आ रही है, परन्तु हमारे कवि को यक्ष-यक्षिणी की वेदना बार-बार क्यों चुभने लगती है ? यह प्रश्न बड़े कुतूहल का है। कदाचित् इस प्रश्न का उत्तर इन पंक्तियों में गुम्फित है—

"शान्ति, गहरी शान्ति चारों ओर
एक मेरे चित्त में कल रोर-

× ×

याद कर जानें न किसका प्यार,
गिर गये दो अश्रु-कण सुकुमार।"

दिनकरजी ने 'रसवन्ती' में विविध शीर्षकों के अन्तर्गत नारी के विभिन्न रूपों को काव्यबद्ध करने का प्रयास किया है। बालिकापन से लेकर नारी विकास की जिन अवान्तर स्थितियों से गुजरती हुई अपनी पूर्णता को पहुँचती है, उन सभी का सूक्ष्म वर्णन कवि ने बड़ी सांस्कृतिक आस्था और सावधानी के साथ किया है। उसने नारी को बहुत निकट से देखकर समझा है और उसे समझाया भी है। बालिका से वधू बनने पर नारी का नैसर्गिक निखार कितना मनोरम होता है—

"लदी हुई कलियों से मादक टहनी एक नरम-सी,
यौवन की विनती-सी भोली, गुमसुम खड़ी शरम-सी।
पीला चीर, कोर में जिसकी चकमक गोटा-जाली,
चली पिया के गाँव उमर के सोलह फूलों वाली।"

इन पंक्तियों में वस्तु निरीक्षण की यथार्थता के साथ-साथ कवि की भावानुकूल सुघर शब्द-योजना भी उल्लेख्य है। इसी प्रसंग में कवि कहता है—

भीग रहा मीठी उमंग से दिल का कोना-कोना,
भीतर-भीतर हँसी देख लो, बाहर-बाहर रोना।

× × ×

पड़ जाता चस्का जब मोहक प्रेम-सुधा पीने का,
सारा स्वाद बदल जाता है दुनिया में जीने का।

और फिर—

पल-पल मंगल लग्न, जिन्दगी के दिन-दिन त्यौहार,
उर का प्रेम फूट कर हो आँचल में उजली धार।

दिनकरजी ने नारी को कला, कल्पना, माया, शक्ति, रूप और प्रणय का प्रतीक बतलाते हुए उसके मातृत्व की महत्ता का प्रतिपादन भी किया है। उसकी पुनीत परम्परा में सीता और राधा प्रतिष्ठित हैं। दिनकरजी ने नारी को कामुकता के हीन धरातल से ऊँचा उठाकर दिव्यत्व की कोटि तक पहुचा दिया है, यथा—

अगम 'आनन्द'-जलधि में डूब
तृपित 'सत्-चित्' ने पाई पूर्ति,
सृष्टि के नाभि-पद्म पर नारि!
तुम्हारी मिली मधुर रस-मूर्त्ति।

नारी की गरिमा स्वीकार करते हुए कवि को पुरुष की विवेक शीलता भी अभीष्ट है। उसे यह देखकर बड़ा कष्ट होता है कि—

खोजते मोह का उत्स पुरुष ने
सारी आयु वृथा खोई,
इससे न अधिक कुछ जान सका
तुम-सा न कहीं सुन्दर कोई।

(पुरुष-प्रिया)

इसका तात्पर्य यह नहीं है कि कवि प्रणय की प्राकृतिक भूख की अवहेलना करता है, और प्रेम की सहज उमंग को दबाने का दुराग्रह करता है। यह अनुभूति तो स्वाभाविक ही है कि—

रानी, आधी रात गई है,
घर है बन्द, दीप जलता है,
ऐसे समय रूठना प्यारी का
प्रिय के मन को खलता है।
जीवन के दिन चार, अवधि उससे भी अल्प जवानी की,
उस पर भी कितनी छोटी निशि होती प्रणय-कहानी की ?

(मानवती)

दिनकरजी को नारी का प्रकृत शुभ्र स्वरूप ही आकर्षित कर सका है। साज-शृंगार की कृत्रिमता उसे विरूप ही करती है। भारतीय-नारी की महत्ता उसके लज्जा, शील और धर्म-समन्वित होने में ही है। पुरुष वास्तव में ऐसी ही पुनीत कुलबधू के समक्ष झुक सकता है। दिनकरजी ने नारी का चरम उत्कर्ष उसके जननी रूप में ही देखा है। "नारी" शीर्षक कविता में इन्हीं भावों का मार्मिक समर्थन मिलता है—

"भू की रेखा सजा, राग से रँग कपोल-अधरों को,
मुकुर देख खिलखिला रही हो किस आसन्न विजय से ?
निरावरण, उद्दाम किरण-सी खिलती और मचलती,
आज दीखती नहीं समाती हुई आप अपने में।"

× × × ×

तुम्हें ध्यान रहता कि पीठ सहलाती कितनी आँखें,
बँधे चले आते कितने मन छलकी हुई लटों से।

मनःस्पर्श करती बहुतों का बलखाती चलती हो,
मन ही-मन गिनती हो, लोहू काँप गया कितनों का ?

× × × ×

वज्र-लेख यह नहीं सुन्दरी, जिस पर गर्व करो तुम,
आती और चली जाती हो जल पर की रेखा-सी।

× × × ×

पुरुष वज्र-लेखन का भूखा, सो वह लिखने वाली,
सात पत्थरों के नीचे है, दबी अभी तक तुम में।

× × × ×

लज्जा, शील, सजीव धर्म की एक मूर्ति सकुचाती,
बैठी है गाड़ी के कोने में सिमटी गठरी-सी।

× × × ×

वह समाज की विवश बन्दिनी सब कुछ छोड़ चुकी है,
बचा रखा है केवल उसने एक शील नारी का,
यही परम सर्वस्व, जिसे वह आतुर सदा छिपाती,
पटावरण के भीतर तन में, तन के भीतर मन में।

× × × ×

काँप रही शंकिता मृगी-सी वह सिकुड़ी-सिमटी भी,
जी करता है, अपना पौरुष, इज्जत उसे उढ़ा दूँ।"

कवि को इस लाजवन्ती नारी की उस प्रच्छन्न असीम शक्ति पर विश्वास है जो कि संसार को हिला सकती है। विलासी पुरुष-वर्ग के गर्हित आचरण पर भी वह कशाघात करता है—

या कि जगा दूं उसके भीतर की उस लाल शिखा को,
आँखों में जिसके बलने से दिशा काँप जाएंगी।
घोर ग्लानि से झुक जाएँगे नयन घूरने वाले,
झुक जाएँगी कलुष ज्ञान से दबी, ह्रीण ग्रीवाएँ।

प्रस्तुत कविता में आज के विलास-विभोर असंयमी समाज की सन्तति-निरोध का दुष्प्रवृत्ति पर भी कवि ने तीखा व्यंग्य किया है। काव्य के माध्यम से युगहित का संकल्प करने वाले दिनकरजी यह क्यों न कहते ?

बिना पुत्र नारी का सम्यक् रूप नहीं खुल पाता,
जीवन में रमणी प्रवेश करती है माता बनकर।

काश ! समझतीं जन्म-निरोधातुर कृत्रिम बंध्याएँ,
पुत्र-कामना इच्छा है अपने को ही पाने की।

इस कविता में बड़ी जान है। यह नारी के निर्माण और उत्थानसंकेतों की लघु गीता है।

दिनकरजी ने "रसवंती" की भूमिका में "दाह की कोयल" नामक कविता का विशेष निर्देश किया है। इसने कवि की भूली हुई प्राण की सुधि-ग्रंथि को खोल दिया हैं। इस कविता में कवि की प्रेममयी आत्मीयता की भावना पंक्ति-पंक्ति से झलक उठी है—

पड़ चुका है आग में संसार,
आज तुम असमय पधारी, क्या करूं सत्कार ?
मेरी बावली मेहमान !
शेष जो अब भी उसे निज को समर्पित जान।

"आश्वासन" के अन्तर्गत कवि की अन्तर्वर्ती निराशा आशा के फूल को स्पर्श करती हुई प्रतीत होती है। वस्तुतः जीवन की परिवर्तनशीलता के कारण दुःख के सुख में बदल जाने की कमनीय कल्पना जीने के लिए बहुत बड़ा सहारा देती है—

दुखों की चोट खाकर
हृदय जो कूप-सा जितना
अधिक गम्भीर होगा,
उसी में वृष्टि पाकर
कभी उतना अधिक संचित
सुखों का नीर होगा।

"विजन में" पहुँच कर, जहाँ संध्या की गहन शान्ति विराजती है, कवि की मनःस्थिति गंभीर चिन्तन में डूबकर कैसी हो जाती है, इस बात को दिनकरजी ने कितनी स्वाभाविकता से इंगित किया है—

मर्त्य-अमर्त्य एक-से लगते,
मैं उन्मन कुछ सोच रहा हूँ,
मिट्टी मेरी खड़ी धरा पर,
किन्तु, स्वयं इस काल कहाँ हूँ ?

जीवन एक लम्बा रास्ता है और उसका बटोही है मनुष्य, जिसे थक-थक कर चलना पड़ता है। गीतों में वह जादू है कि इनसे मार्ग भी तय हो जाता है और थकन भी

महसूस नहीं होती। राह अपनी, गति अपनी और गीत भी अपने ही होते हैं। कवि को यह बात खलती है कि जग का भी उन गीतों में साझा क्यों नहीं है—

निज सागर को थाह रहा हूँ,
खोज गीत में राह रहा हूँ,
पर, यह तो सब कुछ अपने हित, औरों को समझा न रहा मैं।

× ×

चरण-चरण साधन का श्रम है,
गीत पथिक की शान्ति परम है,
ये मेरे संबल जीवन के, जग का मन बहला न रहा मैं।

(संबल)

'अगुरू-धूम', 'कवि' और 'कालिदास' शीर्षक कविताओं में दिनकरजी ने विशिष्ट अनुभूति, चिन्तन और काव्य-चेतना का सुष्ठु परिचय दिया है। निर्लिप्त शुद्ध भाव की वाणी से एक पतित पुरनारी का भी परिष्कार हो जाता है। मानव-मात्र के प्रति प्रेम का पल्लवन करने वाला साधक सिद्धि को जीतकर अपने चरणों में धसीट लेता है। यही साधना और सिद्धि का गूढ़ भेद है, जिसका प्रमाणीकरण 'अगुरू धूम' कविता में बड़ी उत्कृष्ट रीति से हुआ है—

मैं रह न गई मानवी आज, देवी कह तुमने की न भूल,
अन्तर का कंचन चमक उठा, जल गई मैल, झर गई धूल,
नव दीप्ति लिए नारीत्व जगा यह पहन तुम्हारी विजय-माल,
कुछ नई विभा ले फूल उठी जीवन-विटपी की डाल-डाल।
देखे जग मुझ में आज स्त्रीत्व का महामहिम पूर्णावतार,
मैं खड़ी चतुर्दिक् मुझे घेर छा रहा अगुरू का अंधकार।

प्रेम के पावन स्पर्श से जब नारी का मद-कर्दम धुल जाता है, तो उसमें माँ का ममत्व, तरुणी का व्रत और बहन का मधुर प्यार दमकने लगता है। परन्तु यह तो किसी प्रबुद्ध ही की करामात हो सकती है, जिसकी गवाही इतिहास देता है।

'कवि' में कवि की सही परिभाषा है, उसकी चिन्ता और करुणा का मूल-संस्कार उद्घाटित किया गया है। कवि अपना ही नहीं ज़माने भर का दर्द समेट कर चलता है। इसीलिए तो आदि-कवि बाल्मीकि ने निषाद को कोसा था—

थी व्यथा किसे प्रिय ? कौन मोल करता आँखों के पानी का ?
नयनों को था अज्ञात अर्थ तब तक नयनों की वाणी का।
उर के क्षत का शीतल प्रलेप कुसुमों का था मकरन्द नहीं,
विहगों के आँसू देख फूटते थे मनुजों के छन्द नहीं।

इन पंक्तियों में 'रसवन्ती' का कवि भी क्या स्वयं अपनी बात नहीं कहता—

आह टकराई सुर-तरु में,
पुष्प आ गिरा विश्व-मरु में।
× ×
आँखों से पूछो, स्यात्, आँसुओं
में गीतों का भेद मिले,
मुझको इतना भर ज्ञात, व्यथा
जब हरी हुई सब वेद मिले।

कवि कुलगुरु "कालिदास" की प्रशस्ति में दिनकर जी की श्रद्धा और स्वाभिमान के स्वर गूंज उठे हैं। उनका विश्वास है कि कालिदास-सदृश रस-सिद्ध कवि कभी नहीं मरते—

समय सर्वभुक लील चुका सब रूप अशोभन-शोभन,
लहरों में जीवित है कवि, केवल गीतों का गुंजन।
× × ×
सब के गए, शेष हैं लेकिन, कोमल प्राण तुम्हारे,
तिमिर-पुंज में गूंज रहे ज्योतिर्मय गान तुम्हारे।

"मेघदूत" और "शाकुन्तल" के चिरस्मरणीय चित्रों पर प्रकाश डालते हुए दिनकर जी गद्गद होकर कह उठते हैं—

अमित युगों के अश्रु, अयुत जन्मों की विरह कथाएँ,
अमित जनों की हर्ष-शोक-उल्लासमयी गाथाएँ,
भूतल के दुख और अलभ सुख जो कुछ थे अम्बर में,
सब मिल एकाकार हो गए कवे ! तुम्हारे स्वर में।

इतना ही नहीं, कालिदास का काव्य तो त्रिकाल और त्रिभुवन की सम्पत्ति है, देश और काल की बाधा उसे नहीं लग सकती—

गीत लिखे होंगे कविगुरु ! तुमने तो अपने मन के,
झंकृत क्यों होते हैं स्वर इनमें त्रिकाल-त्रिभुवन के ?

"कत्तिन का गीत" रसवन्ती में कुछ अकेला-सा पड़ गया है। यह कवि की राष्ट्रीय जागरूकता का गीत है। इसमें स्वदेश के स्वावलंबी होने की आकुलता का मन्द स्वर अथवा गाँधी-युग की गुहार सुनाई पड़ती है। यह तो गीत है, आजादी का बुलन्द नारा नहीं, फिर भी यह देशव्यापी कल्याण का सदेश है—

मधुर चरखे का घर्घर गान,
देश का धाग-धाग कल्याण।

"रसवन्ती" की शेष कविताओं में कहीं दर्शन और कहीं रहस्यात्मक प्रतीक विद्यमान हैं। यद्यपि यह संग्रह प्रायः शृंगार और प्रेम की मधुरिमा से पूर्ण है, तथापि कवि की अध्यात्म-परक निष्ठा अपना रंग लाना नहीं भूली। आज के दिनकर जी तो अपनी आध्यात्मिक आस्था में बहुधा मग्न दिखाई देते हैं। 'रास की मुरली', 'मरण', 'समय', 'प्रभाती', 'अगेय की ओर', 'रहस्य' और 'शेषगान' कविताओं में आत्म-रस की अनुभूति बिखरी हुई है—

महालय का यह मंगल-काल, आज भी लज्जा का व्यवधान ?
तुम्हें तनु पर यदि नहीं प्रतीति, भेज दो अपने आकुल प्रान।
कहीं हो गया द्विधा में शेष आज मोहन का मादक रास,
सफल होगा फिर कब सुकुमारि ! तुम्हारे यौवन का मधुमास ?
रही बज आमंत्रण के राग श्याम की मुरली नित्य नवीन,
विकल-सी दौड़-दौड़ प्रतिकाल सरित हो रही सिंधु में लीन।

× × ×

सनातन महानन्द में आज बाँसुरी-ककरण एकाकार,
बहा जा रहा अचेतन विश्व, रास की मुरली रही पुकार।

कदाचित् कबीर की-सी मस्ती में या सरमद के सुरूर में दिनकर जी ने प्रेम की श्रय-साधना के संदर्भ में 'मरण' का महत्त्वांकन किया है—

पुण्य-पर्व में आज सुहागिनि ! निज सर्वस्व लुटा दे,
माँग रहे मुँह खोल पिया कुछ प्रथम-प्रथम जीवन में।
आज कहाँ की लाज बावली ? खोल, चीर-पट तन से,
रहे न टुक व्यवधान, नग्न घुलमिल जा कनक-किरण में।

× × ×

पूछ रहा था जिसकी सुधि वन्दी ! अब तक उडुगण से,
मुक्त घूमकर खोज उसे अब फूल-फैल त्रिभुवन में।
ठौर-ठौर हैं मरण-सरोवर बने पिया के मग में,
धोकर श्रान्ति, स्वस्थ हो पंथी ! लग जा पुनः लगन में।

'समय' का चक्र सभी को काटता-छांटता हुआ चिरकाल से गतिशील है। इसलिए दिनकर जी उसी जीवन की दुहाई देते हैं जो तत्त्व-दर्शी होकर मृत्यु की विभीषिका को जीत लेता है, अजर-अमर हो जाता है—

आयेगी वह घड़ी, मलिन पट मिट्टी का तज,
रश्मि-स्नात सब प्राण तारकों से निज को सज,

आ बैठेंगे घेर देवता का सिंहासन ;
लील, समय ! मल, कलुष कि हम पायें नवजीवन ।
वह जीवन जिसमें न जरा, रुज, क्षय का भय है,
जो निसर्गतः कालजयी है, मृत्युञ्जय है ।

दार्शनिक दृष्टि से हम सब अपने परम पिता के देश से दूर, प्रवासी के रूप में इस दुनियाँ में, बिराने देश में भूल से आ बसे हैं। आध्यात्मिक जागृति न होने तक ही हम यहाँ भूले हुए हैं—

चूम कर प्रति रोम से सिर पर चढ़ा वरदान प्रभु का,
रश्मि-अजलि में पिता का स्नेह-आशीर्वाद आया ।
सिंधु-तट का आर्य भावुक आज जग मेरे हृदय में,
खोजता उद्गम विभा का दीप्तमुख विस्मित उदय में,
उग रहा जिस क्षितिज-रेखा से अरुण, उसके परे क्या ?
एक भूला देश धूमिल-सा मुझे क्यों याद आया ?
रे प्रवासी, जाग, तेरे देश का संवाद आया ।
(प्रभाती)

'अगेय की ओर' अग्रसर होने पर गायक, गान और गेय का पार्थक्य नहीं रहता और जन्म-मरण की यातनाओं का पर्यवसान अगम-लोक में पहुँच कर हो जाता है। भारतीय मनीषा की आकुल शोध का निष्कर्ष यही है कि पिण्ड और ब्रह्माण्ड में एक तात्त्विक साम्य वर्तमान है—

उछल-उछल बह रहा अगम की
ओर अभय इन प्राणों का जल,
जन्म-मरण की युगल घाटियाँ
रोक रहीं जिसका पथ निष्फल ।

× ×

अन्तर-बहिर एक छवि देखी,
आकृति कौन ? कौन है दर्पण ?
गायक, गान, गेय से आगे,
मैं अगेय स्वन का श्रोता मन ।

× ×

चाह यही छू लूं स्वप्नों की नग्न कांति बढ़कर निज कर से,
इच्छा है, आवरण स्वस्त हो गिरे दूर अन्तः श्रुति पर से ।

पहुँच अगेय-गेय-सगम पर सुनूं मधुर वह राग निरामय,
फूट रहा जो सत्य सनातन कविमनीषी के स्वर-स्वर से।

यहाँ दिनकर जी का औपनिषद विश्वास स्पष्टत: प्रतिध्वनित है। 'रहस्य' शीर्षक कविता में प्रश्न-शैली से कवि अपनी बात का भेद सकेतित करता है। तृष्णा जीव से पल-भर को भी विलग नहीं होती, और वह सदा एक-सी ही तीव्र बनी रहती है। प्रतीक-सौन्दर्य भी इस कविता की एक विशेषता है—

अस्तोदधि की अरुण लहर में,
पूरब-ओर कनक-प्रान्तर में,
रँग-सी रही पंख उड़-उड़ कर तृष्णा सायं-प्रात हमारी।
सुख-दुख में डुबकी-सी देकर,
निकली वह देखो, कुछ लेकर,
श्वेत नील दो पद्म करों में, सजनी सद्य:-स्नात हमारी।

'शेषगान' रसवंती की अन्तिम कविता है। इससे प्रकट होता है कि दिनकर जी इतना कह कर भी जो चाहते थे उसे पूर्ण रूप से अभिव्यक्त नहीं कर सके। उनकी अनुभूति और अभिव्यंजना में इतनी ही दूरी है, जितनी कि गीत में और दर्शन में। किसी सूक्ष्म तत्त्व को शब्दों में अवितथ रूप से न उतार पाने की उनकी सीमा ही उनकी इस तड़प का कारण है—

बँधे सिमट कुछ भाव प्रणय के,
कुछ भय, कुछ विश्वास हृदय के,
पर, इनसे जो परे तत्त्व वर्णों में उसे बिठा न सका मैं।

प्रस्तुत कविता में भी दिनकरजी की दार्शनिक प्रकृति का मधुर आग्रह स्पष्ट है—

पट पर पट मैं खींच हटाता,
फिर भी कुछ अदृश्य रह जाता,
यह मायामय भेद कौन ? मन को अब तक समझा न सका मैं।

अगीत को स्वर में बाँध देना ही कवि-कर्म की चरम सफलता होगी, और वही होगा कवि का अनगाया शेष-गान।

'रसवन्ती' में भाषा-सौष्ठव और अभिव्यंजना का चमत्कार आदि से अन्त तक पाठक को मुग्ध किए रहता है। दिनकरजी रूढ़िरूढ़ मान्यताओं को भावनात्मक विवेक और वैज्ञानिक दृष्टि से परख कर ग्रहण करने के पक्ष में हैं। वह उत्कृष्ट साहित्य-सर्जना के निमित्त प्रतिभा के साथ-साथ गम्भीर और विस्तृत अध्ययन एव सतत अभ्यास पर भी बल देते हैं। वह युग की पुकार को अपने स्वरों में समाहित

कर लेते हैं और प्रभावसिद्ध शैली से अपना सन्देश जन-मन में सन्निविष्ट कर देते हैं। 'रसवन्ती' रसीली कविताओं का एक मधु-चक्र है। इसके छन्द भव्य भावों के लिए कठिन परिधियाँ नहीं हैं, और न उन पर तुकों का आतंक ही छाया हुआ है। 'रसवन्ती' में शृंगार है, करुणा है और आत्मिक उन्नयन का सुझाव भी है, जो कि शान्त रस के अन्तर्गत है। दिनकरजी ने प्रस्तुत संग्रह में अलंकारों के प्रति अनावश्यक मोह नहीं दिखलाया। रूपक, उपमा और अनुप्रास अलंकार ही प्रायः प्रयुक्त हुए हैं। इन कविताओं में प्रसादगुण ही प्रमुख है।

'रसवन्ती' की रचना से कवि को सुख मिला है, उसने तट पर ही खड़े-खड़े तमाशा न देख, लहरों को छेड़कर मन बहलाने की कोशिश भी की है। दिनकरजी को नवीनता के प्रति स्वाभाविक आकर्षण है, इसीलिए इन कविताओं में वह लकीर के फकीर दिखाई नहीं देते। वह साहित्यकार को "अपने और अपनी कला के प्रति ईमानदार" रहने की सलाह देते हैं, क्योंकि बिना इसके सार्थक साहित्य का निर्माण नहीं हो सकता। वह साहित्यस्रष्टा को प्रचार की पंकिल प्रवृत्ति से सावधान करते हैं। दिनकरजी ज्ञान और कर्म के सामंजस्य पर बल देते हैं, और कला तथा साहित्य के क्षेत्र में सत्य, शिव एवं सुन्दर की समवेत प्रतिष्ठा को अनिवार्य बतलाते हैं। कोरे स्वप्न ही साहित्य को अनुप्राणित नहीं कर सकते, उसे तो स्वस्थ जीवन चाहिए और पर्याप्त चिन्तन। दिनकरजी इसी लीक पर चल रहे हैं। 'रसवन्ती' की रचनाओं में रचना-समय और कवि की मनःस्थितियों का व्यवधान साफ झलकता है। फिर भी उनके काव्य-स्तर में कोई विशेष विषमता परिलक्षित नहीं होती। विचार और भावना का संगम तो प्रायः सर्वत्र मिलता है। मौलिकता की व्याख्या करते हुए उन्होंने जो दृष्टिकोण रखा है, उससे असहमत होने की गुंजाइश ही नहीं है—"किस कवि के कौन से विचार किस दिन मेरी मनोभूमि में गिर गये, इसकी खबर नहीं रही। बरसों बाद मौसम आने पर जब उनके अंकुर निकले तब मुझे यह जानकर प्रसन्नता हुई कि उनकी हरीतिमा में मेरे ही प्राणों का रस लहरा रहा था"। (भूमिका)। दिनकरजी के व्यावहारिक जीवन की आत्मीयता उनके काव्य में प्रतिध्वनित होती है। वह मानों अपने पाठकों के साथ-ही रस-मग्न होकर झूमने लगते हैं। 'रसवन्ती' इसलिए रसीली लगती है और उसमें सरस भावों की रसधारा अव्याहत रूप से प्रवाहित होती है।

—: ० :—

मंगल-कामना का काव्य 'कुरुक्षेत्र'

डा० प्रभाकर माचवे

"कुरुक्षेत्र" के निवेदन में कविवर कहते हैं : "कलिंग विजय" नामक कविता लिखते-लिखते मुझे ऐसा लगा, मानों युद्ध की समस्या मनुष्य की सारी समस्याओं की जड़ हो। आत्मा का संग्राम आत्मा से और देह का संग्राम देह से जीता जाता है।·····युद्ध एक निंदित और क्रूर कर्म है, किन्तु इसका दायित्व किस पर होना चाहिए ? उस पर जो अनीतियों का जाल बिछाकर प्रतिकार को आमंत्रण देता है ? या उस पर, जो इस जाल को छिन्न-भिन्न कर देने के लिए आतुर है·····मैं जरा भी दावा नहीं करता कि "कुरुक्षेत्र" के भीष्म और युधिष्ठिर ठीक-ठीक महाभारत के ही युधिष्ठिर और भीष्म हैं। यद्यपि मैंने सर्वत्र ही इस बात का ध्यान रखा है कि भीष्म अथवा युधिष्ठिर के मुख से कोई ऐसी बात नहीं निकल जाय जो द्वापर के लिए सर्वथा अस्वाभाविक हो। हाँ, इतनी स्वतन्त्रता जरूर ली गई है कि जहाँ भीष्म किसी ऐसी बात का वर्णन कर रहे हों जो हमारे युग के अनुकूल पड़ती है, उसका वर्णन नये और विशद रूप से कर दिया जाय।·····दर असल, इस पुस्तक में मैं, प्रायः सोचता ही रहा हूँ (भीष्म के सामने पहुँचकर कविता जैसे भूल-सी गई हो। फिर भी, कुरुक्षेत्र न तो दर्शन है और न किसी ज्ञानी के प्रौढ़ मस्तिष्क का चमत्कार। यह तो अन्ततः एक साधारण मनुष्य का शंकाकुल हृदय ही है, जो मस्तिष्क के स्तर पर चढ़ कर बोल रहा है।)

मैंने "दिनकर" के निवेदन के अंश को विस्तार से इसलिए दिया कि कवि के दृष्टिकोण को समझने में इस प्रकार सुविधा होगी। शायद दिनकर का प्रबन्ध काव्य की ओर यह पहला ही कदम है। वैसी लम्बी वस्तुनिष्ठ कविताएँ वे पहले लिख चुके हैं। परन्तु ख्याति है उनकी राष्ट्रीय और "मेघरन्ध्र में बजी रागिणी" जैसी प्रगतिशील कविताओं के कारण। यद्यपि "रसवन्ती" के बाद कवि कुछ कलावाद में खोते से जान पड़े, उदयपुर कवि-सम्मेलन के भाषण में उन्होंने कलाकारों की स्वतन्त्र-चिन्ता को पुनः ललकारा।

एक आलोचक के लिए दोनों प्रश्न विवाद्य हो सकते हैं : एक, क्या युद्ध काव्य का उपयुक्त विषय है ? दो, क्या इतिहास पर समकालीन घटनाओं का प्रत्यारोप किया जाय ? हाल में इंगलैंड के एक समकालीन कवि लुई मैकनीस की एक बढ़िया किताब "येट्स की कविता" मैंने पढ़ी है। उसकी शुरूवात में ही वे कहते हैं : "मैंने यह पुस्तक लिखनी शुरु ही की थी कि जर्मनी ने पोलैंड पर धावा बोल दिया। उस दिन मैं गैलवे नामक स्थान पर था। मैंने रेडियो पर यह खबर सुनी। गैलवे मेरे लिए एक अयथार्थ वस्तु बन गया, येट्स की कविता भी अयथार्थ लगने लगी। यह नहीं कि गैलवे और येट्स दोनों अतीत की बातें हों ; मगर यह कि शनैः-शनैः मुझे आधुनिक लन्दन, आधुनिकतम कला, वामपक्षीय राजनीति सब कुछ शून्य जान पड़ने लगा। मुझे जान पड़ा कि अगर युद्ध येट्स या और ऐसे "पलायनवादी" कहलाने वाले कवियों को व्यर्थ सिद्ध करता है ; तो "यथार्थवादी" कहलाने वाले कवि भी उसकी चपेट से कहां बचेंगे ? युद्ध तो दोनों की कविताओं के लिए एक-सा हानिकारक है ; चाहे वह "अप्सरा द्वीप" की कविता हो, चाहे मजदूर और कारखाने की। ज्यों-ज्यो युद्ध के आघात से मैं कुछ सम्भला, मैंने निष्कर्ष पाया कि दोनों प्रकार की कविता या तो साथ-साथ जीती हैं या साथ-साथ मारती हैं। युद्ध से यह नहीं सिद्ध होता कि अमुक प्रकार की कविता अधिक अच्छी है या बुरी ; वह तो सभी प्रकार की कविताओं को असिद्ध कर डालता है और कविता असिद्ध नहीं होनी चाहिए। यदि युद्ध यथार्थता की कसौटी है तो समस्त कविता अयथार्थ है—और यह अयथार्थता गुण है। यदि युद्ध यथार्थता का शत्रु है ; यद्यपि वह स्वयं घोर तथ्य है ; तो यथार्थता कुछ ऐसी चीज है जो तथ्यों से नहीं आँकी जा सकती।" अतः दिनकर ने महाभारत को विषय बनाया इसमें कोई दोष नहीं ; परन्तु उस पर समसामयिक समस्याओं का आरोप किया, इसमें मेरी अल्पमति में भीष्मादि पात्रों के साथ "कुरुक्षेत्र" में अन्याय हो गया।

परन्तु यह प्रवृत्ति आधुनिक साहित्य में अत्यधिक है। इतिहास को इतिहास की भाँति देखना हम सीखें। हमारे उपन्यासकार, राहुल के "जय यौधेय" और यशपाल की "दिव्या" में इतिहास का उपयोग, अपने मतवादों की उन घटनाओं पर आरोप ही नहीं, बल्कि प्रचार करने के लिए करते हैं। काव्य में भी यह प्रकार शुरु हो गया है—फिल्मों में "जयहिन्द" कहते हुए राणाप्रताप और अकाल पीड़ितों की सेवा करने वाला उमर खैयाम देखने को तो मिल ही जाता है। अगर कला इसी रफ्तार से चली तो आज' ४२ की भूमिगत क्रान्तिकारिणी-सी महिला को छिपाने वाले कालिदास (विक्रमादित्य फिल्म) हम देख रहे हैं ; कल मीरा किसी अस्पताल की नर्स बतलाई जायगी और परसों कबीर साम्राज्यवादियों की अंतर-सांस्कृतिक हिन्दु-मुस्लिम-ऐक्य परिषद् के सभापति बने लाउडस्पीकर पर बोलते हुए। "दिनकर" ने

इतिहास का इतना आधुनिकीकरण नहीं किया है, परन्तु वे अपने समय में सांस ले रहे हैं, गो बीच-बीच में भारतकाल में भी मुड़कर देख लेते हैं। १९४३ का बंगाल का अकाल अवचेतन में है। सप्तम सर्ग में भीष्म पितामह कहते हैं :

"पड़ा कभी दुष्काल, मरे नर, जीवित का मन डोला।
उसके किसी निभृत कोने से, लोभ मनुज का बोला।" (पृष्ठ ११२)

और राजा-प्रजा, श्रमीजन आदि के सम्बन्ध के वाक्य तो भीष्म यों बोलते जाते हैं मानो क्रोपाटकिन या बाकुकिन (अराजकवादके प्रणेता) बोल रहे हों।

दलील दी जायगी कि कवि जिस युग में लिख रहा है, उसकी छाप उसकी वाणी पर पड़ेगी ही। बेशक, मगर फिर उसके लिए ऐतिहासिक पार्श्व-भूमि क्यों? क्या वह केवल कलात्मक सहारा है? चिन्तन के लिए प्रतीक हम वर्तमान से ही ले सकते थे। महाभारत कालीन समाज-व्यवस्था का भी तो कुछ ख्याल रखना पड़ेगा। तब के प्रश्न निश्चित आज के प्रश्न नहीं हो सकते। यह सब प्रश्न मैंने इसलिए उठाए कि कवि ने इस काव्य को चिन्तन-प्रधान कहा है। और वैसा यह है भी। अब तक दिनकर की "हुंकार" और रूप की थी, अब भावुक कवि सिर्फ "गीत-अगीत कौन सुन्दर है?" के फेर में नहीं—कुछ बुद्धिवादी भी बन रहा है। परन्तु यह कवि का स्वभावगत विशेष नहीं। अतः यह काव्य उतना निखरा नहीं। कवि ने कुछ करना चाहा है; जिसमें बुद्धि-पुरस्सरता की पुट अधिक है। उतनी ही मात्रा में काव्यत्व विरल हो गया है।

फिर भी इस काव्य की कुछ उल्लेखनीय विशेषताएँ हैं—छन्दों के विविध प्रयोग—वार्णिक, कवित्त जैसे अक्षर-वृत्तों के साथ ही मुक्तछन्द भी हैं, वर्णनों का बाहुल्य न होते हुए वैचारिक वाद-विवादों का प्राधान्य है; नये-नये रूपकों का सहारा लिया गया है—विशेष रूप से विशेषण-विपर्यय के कई नये रूप बहुत ही आह्लाद-दायक हैं। एक आदर्शवाद सारे काव्य में परिव्याप्त है। "यू० एन० ओ० की भाँति आशा के प्रदीप को जलाये चलो धर्मराज, एक दिन होगी मुक्त भूमि रण-नीति से' के स्वर में "कुरुक्षेत्र" का अंत किया गया है। कहीं-कहीं बहुत ही मार्मिक उक्तियाँ हैं।

यथा

सच है, मनुज बड़ा पापी है,
नर का बध करता है।
पर भूलो मत, मानव के हित
मानव ही मरता है॥

और

"ऊपर सब कुछ शून्य-शून्य है,
कुछ भी नहीं गगन में।
धर्मराज ! जो कुछ है,
वह है मिट्टी में॥

यह वही मिट्टी है जिसके लिए निराला ने नये पत्र में लिखा है, "चर्खा चला" में :

कली ज्योति में खिली
मिट्टी से बढ़ती हुई।

'वर्जिन स्वैल', 'गुड़ अर्थ' अब के परिणाम है।

कहीं-कहीं जटिल संस्कृत शब्द जैसे 'हर्षल्लघु' या 'साहाय्य-हेतु', 'मरुदीत', 'कालायस', 'संयुग', 'दंष्ट्रा' आदि अच्छे नहीं लगते, विशेषकर 'दिनकर' जैसे कवि की कलम से जो 'मिट्टी की ओर' जाना चाहते हैं।

कवि का विचार-सूत्र कुछ इस प्रकार है कि युद्ध की जड़ वैयक्तिक भोगवाद है, लोभ है—अन्यथा समूह रूप में जनता युद्ध-प्रिय नहीं है। परन्तु पृष्ठ १०४ पर जिस वैयक्तिक भुक्ति की वह कठोर आलोचना करते हैं। वही पृष्ठ १२० में फिर उसी 'अपने में रम जाओ' वाले व्यक्तिवाद में कवि डूब जाता है। कारण यह है कि कवि की चिन्ता कुछ अपने आप में कटी-सी जान पड़ती है। उसी के शब्दों में :

जहां भुजा का एक पंथ हो अन्य पंथ चिंतन का,
सम्यक् रूप नहीं खुलता उस द्वंद्वग्रस्त जीवन का।

फिर भी यह निर्विवाद रूप से कहना होगा कि आधुनिक हिन्दी कविता में वैसे ही युद्ध को लेकर स्वतंत्र प्रबन्ध नहीं के बराबर हैं। 'मेघनाद-बध' और 'पलाशीर युद्ध' तो अनुवाद हैं। और जो भी हैं वे सस्ते, नारावादी, या 'जौहर' जैसे आल्हा के ढग पर। उनसे यह काव्य कहीं उच्च स्तर पर है। यह हमारी विचार-शक्ति को उत्तेजित करता है और युद्ध और शान्ति, हिंसा और अहिंसा, व्यक्ति और समूह, राज्य-व्यवस्था और लोकतन्त्र के कई प्रश्नों को सामने लाता है। इस दृष्टि से हिन्दी में इस काव्य का अपना एक विशेष स्थान है। हिन्दी में राष्ट्रीय कवियों में से राष्ट्रीय महत्त्व के विषय को लेकर रचना करने वालों में 'दिनकर' की गणना साहित्य के इतिहासकार करेंगे। उनकी यह मंगल-कामना कितनी सही है—

साम्य की वह रश्मि स्निग्ध, उदार,
कब खिलेगी, कब खिलेगी, विश्व में भगवान ?

कब सुकोमल ज्योति से अभिषिक्त
हो, सरस होंगे जली-सूखी रसा के प्राण ? (पृ० ९६)

ग्रंथ का प्रमुख प्रश्न युद्ध और शान्ति का है। इष्ट क्या है ? ग्रंथ की भूमिका में ही कवि इस प्रश्न को स्पष्ट रूप से उपस्थित कर देता है :

पापी कौन ? मनुज से उसका
न्याय चुराने वाला ?
या कि न्याय खोजते विघ्न का
शीश उड़ाने वाला ?

और यह मानव की जन्मजात अहिंसा-प्रियता देखिये :

हर युद्ध के पहले द्विधा लड़ती उबलते क्रोध से,
हर युद्ध के पहले मनुज है सोचता,
क्या शस्त्र ही उपचार एक अमोघ है,
अन्याय का, अपकर्ष का, विष का, गरलमय द्रोह का।
लड़ना उसे पड़ता मगर।
औ' जीतने के बाद भी,
रणभूमि में वह देखता है सत्य को रोता हुआ ;
वह सत्य जो है रो रहा इतिहास के अध्याय में
विजयी पुरुष के नाम पर कीचड़ नयन की डालता।
उस सत्य के आघात से
हैं झनझना उठतीं शिराएं प्राण की असहाय-सी,
सहसा विपंची पर लगे कोई अपरिचित हाथ ज्यों।
वह तिलमिला उठता, मगर,
है जानता इस चोट का उत्तर न उसके पास है।
सहसा हृदय को तोड़ कर
कढ़ती प्रतिध्वनि प्राणगत अनिवार सत्याघात की—
'नर का बहाया रक्त, हे भगवान ! मैंने क्या किया ?'
लेकिन, मनुज के प्राण, शायद, पत्थरों के हैं बने,
इस दंश का दुःख भूल कर
होता समर-आरूढ़ फिर,
फिर मारता, मरता,
विजय पाकर बहाता अश्रु है !

सचमुच यह बड़ी विषम परिस्थिति है। मनुष्य पहले इतना सभ्य नहीं था, वह युद्ध अथवा शान्ति को उस रूप में नहीं देख सकता था जिस रूप में हम आज उन्हें देखते हैं। परन्तु प्रत्येक युग में मनुष्य ने इस समस्या पर सोचा है और इसका उत्तर देना चाहा है। क्या तपस्या और आत्म-बल से मनुष्य-दानव का सुधार या शमन संभव है ?

"दिनकर" ने भीष्मपितामह के मुँह से उत्तर दिया है।

युद्ध के आरम्भ में अर्जुन को मोह हो गया था, युद्ध के अन्त में "कुरुक्षेत्र" के महाश्मशान के बीच में खड़े हुए युधिष्ठिर भी मोहग्रस्त हैं। श्मशान में बहने वाला पवन भी उससे व्यंग करता जान पड़ता है :—

'देख लो, बाहर महा सुनसान है,
सालता जिनका हृदय मैं, लोग वे सब जा चुके।'

जान पड़ता है, दुर्योधन उन्हें चिढ़ा रहा है :—

स्वप्न सा देखा, सुयोधन कह रहा—
'ओ युधिष्ठिर, सिन्धु के हम पार हैं ;
तुम चिढ़ाने के लिए जो कुछ कहो,
किन्तु कोई बात हम सुनते नहीं,
हम वहाँ पर हैं, महाभारत जहाँ
दीखता है स्वप्न अंत: शून्य-सा।
जो घटित-सा तो कभी लगता, मगर,
अर्थ जिसका अब न कोई याद है।'

पश्चात्ताप से पीड़ित युधिष्ठिर शर-शय्या पर पड़े भीष्म के पास पहुँचते हैं और कहते हैं—"हाय पितामह, महाभारत विफल हुआ।" कवि इस युग की समस्या को बड़े कलापूर्ण ढंग से उनके मुँह में रख देता है। वह कहते हैं :—

जानता कहीं जो परिणाम महाभारत का,
तन-बल छोड़ मैं मनोबल से लड़ता।
तप से, सहिष्णुता से, त्याग से, सुयोधन को
जीत, नई नींव इतिहास की मैं धरता।

युधिष्ठिर के सामने दो मार्ग थे—एक गीताकार का मार्ग, दूसरा जीवन की विरति। उन्होंने पहले मार्ग को अपनाया, परन्तु निष्काम कर्म बुद्धि के नीचे उतर नहीं पाया था। अत: हृदय की भावना ने चीत्कार की। इस हिंसा से प्राप्त सुख और शान्ति को वह कैसे स्वीकार कर सकेंगे ? कुरुक्षेत्र में जो हुआ, वह पुण्य था या पाप ? ये प्रश्न उन्हें अशान्त कर रहे हैं :

त्याग, तप, करुणा, क्षमा से भीग कर,
व्यक्ति का मन तो बली होता, मगर,
हिंस्र पशु जब घेर लेते हैं उसे,
काम आता है बलिष्ठ शरीर ही।
और तू कहता मनोबल है जिसे,
शस्त्र हो सकता नहीं वह देह का;
क्षेत्र उसका वह मनोमय भूमि है,
नर जहाँ लड़ता ज्वलंत विकार से।
कौन केवल आत्मबल से जूझ कर,
जीत सकता देह का संग्राम है?
पाशविकता खड्ग जब लेती उठा,
आत्म-बल का एक वश चलता नहीं!
जो निरामय शक्ति है तप-त्याग में,
व्यक्ति का ही मन उसे है मानता;
योगियों की शक्ति से संसार में,
हारता लेकिन नहीं समुदाय है।

इस प्रकार युधिष्ठिर का समाधान करते हुए भीष्म एक महान सत्य को उद्घोषित करते हैं कि देह का युद्ध देह से और मन का युद्ध मन से जीता जा सकता है। अन्य कोई मार्ग है ही नहीं। इस प्रकार कवि हिंसा और अहिंसा के बीच में एक नया मार्ग ढूँढ लेता है, या यों कहिए एक समन्वय उपस्थित करता है।

कुरुक्षेत्र में मानवतावाद का एक विराट् चित्र प्रस्तुत है—

रसवती भू के मनुज का श्रेय,
यह नहीं विज्ञान कटु, आग्नेय।
श्रेय उसका, प्राण में बहती प्रणय की वायु,
मानवों के हेतु अर्पित मानवों की आयु।
श्रेय उसका, आंसुओं की धार,
श्रेय उसका, भग्न वीणा की अधीर पुकार।
दिव्य भावों के जगत में जागरण का गान,
मानवों का श्रेय, आत्मा का किरण अभियान।
यजन, अर्पण, आत्म-सुख का त्याग,
श्रेय मानव का, तपस्या की दहकती आग।
बुद्धि-मंथन से विनिर्गत श्रेय वह नवनीत
जो करे नर के हृदय को स्निग्ध, सौम्य, पुनीत।

× × ×

श्रेय होगा मनुज का समता-विधायक ज्ञान
स्नेह-सिंचित न्याय पर नवविश्व का निर्माण।
एक नर में अन्य का निःशंक, दृढ़ विश्वास,
धर्म दीप्त मनुष्य का उज्ज्वल नया इतिहास—
समर, शोषण, ह्रास की विरुदावली से हीन,
पृष्ठ जिसका एक भी होगा न दग्ध, मलीन।
मनुज का इतिहास जो होगा सुधामय कोष
छलकता होगा सभी नर का जहाँ संतोष।
युद्ध की ज्वर-भीति से हो मुक्त,
जब कि होगी सत्य ही वसुधा-सुधा से सिक्त।
श्रेय होगा सुष्ठु विकसित मनुज का वह काल,
जब नहीं होगी धरा नर के रुधिर से लाल।
श्रेय होगा धर्म का आलोक वह निर्बन्ध,
मनुज जोड़ेगा मनुज से जब उचित सम्बन्ध।

और अन्त में वह भगवान से प्रार्थी होता है—

साम्य की वह रश्मि स्निग्ध उदार,
कब खिलेगी, कब खिलेगी विश्व में भगवान ?
कब सुकोमल ज्योति से अभिषिक्त
हो, सरस होंगे जली-सूखी रसा के प्राण।

यह मंगल-कामना ही कवि की इस सर्वोत्तम रचना को युग की महान रचना का श्रेय देती है। प्रचलित अर्थों में यह कविता प्रबन्ध है भी नहीं। उसमें कथा की व्यंजना भर हो सकी है। उसकी प्रबन्धात्मकता विचारों को लेकर है। अतः श्री रामधारी सिंह 'दिनकर' की इस रचना को प्रबन्ध-काव्य की तुला पर तोलना समीचीन नहीं होगा। इसके साहित्य की विवेचना करते हुए हमें केवल यह देखना होगा कि इसके काव्यतत्त्व ने चिन्तन-पक्ष को कहाँ तक सहारा दिया है। इसमें सन्देह नहीं कि इस दृष्टि से भी कुरुक्षेत्र सफल काव्य है। ऐसे अनेक स्थल मिल जायेंगे जहाँ कवि की कल्पना और मूर्तिमत्ता ने उसके चिन्तन को बल दिया है। इस काव्य में कवि का चिन्तन सूक्ष्म तर्क-वितर्क तक ही सीमित नहीं रहता, वह हृदयधर्मी बन कर ही सामने आता है और इस प्रकार वह नवयुग की काव्यधारा में एक नई सशक्त परम्परा की स्थापना करता है।

———

विचारक कवि की उदग्रवाणी 'कुरुक्षेत्र'

श्री कुमार विमल, एम० ए०

कुरुक्षेत्र एक विचार-काव्य है, जिसमें ओजस्वी वाग्मिता है और जिसकी 'प्रबन्धात्मकता विचारों के प्रकर्षबन्ध' में है। यह युद्ध और शान्ति, हिंसा और अहिंसा तथा कर्म और सन्यास से सम्बन्धित विचारों का पाटवपूर्ण विश्लेषणात्मक संश्लेष उपस्थित करता है, यद्यपि वह संश्लेष अपनी समग्रता में इकाई और अन्विति को नहीं प्राप्त कर सका है। अतः उसमें स्वतोव्याघात तथा प्रतिवाद की विशेष गुंजाइश है, जबकि अन्विति के मूल्य पर, जाने अथवा अनजाने उसमें दृष्टि-विस्तार की व्यापकता का श्राध्द्य आधान हो गया है। सारांश यह कि 'कुरुक्षेत्र' में विचारों का नेतिमूलक निबन्धन है, उनका भावात्मक समन्वय नहीं, विश्लेषण की स्थिति स्थापकता में निष्कर्षों की निश्चयात्मकता का विघटन हो गया है। यही कारण है कि कवि के विचार बोधात्मक न होकर भावात्मक बन गये हैं।

युद्धारम्भ में जो अर्जुन का क्लैव्य है, वही युद्धान्त में युधिष्ठिर का निर्वेद है। अर्जुन के क्लैव्य-निरसन में गीता की सृष्टि हुई और युधिष्ठिर के निर्वेद-उन्मूलन में शांति-पर्व को भैष्मी अवदान प्राप्त हुआ। कहने के लिये प्रथम को मोह और दूसरे को निर्वेद कह लिया जाय, किन्तु, तत्त्वतः दोनों मनोदशाएँ एक ही हैं। अर्जुन का मोह क्लैव्य-आविष्ट और स्वधर्माचरण-परित्यागजन्य था और युधिष्ठिर का मोह पश्चात्तापपूर्ण एवं निर्वेद-पर्यवसायी। दोनों दशाओं का अन्तराय केवल काल की भूमिका—आरम्भ और अन्त—पर अवस्थित है। इसलिए हम गीता के अर्जुन और कुरुक्षेत्र (जिसमें अधिकतर स्वतंत्र ऊहा से काम लिया गया है) के युधिष्ठिर की उक्तियों में किंचित् साम्य पाते हैं। युधिष्ठिर ने जिसे प्रकारान्तर-पद्धति से हेतुहेतुमद्भूत में कहा है—

तप से, सहिष्णुता से, त्याग से सुयोधन को
जीत, नई नींव इतिहास की मैं धरता ;
और कहीं बज्र गलता न मेरी आह से जो,
मेरे तप से नहीं सुयोधन सुधरता ;

तो भी हाय, यह रक्तपात नहीं करता मैं,
भाइयों के संग कहीं भीख मांग मरता।

उसे ही गीता में अर्जुन ने कहा है—

गुरूनहत्वा हि महानुभावान्
श्रेयो भोक्तुं भैक्ष्यमपीह लोके।
हत्वार्थकामांस्तु गुरूनिहैव
भुंजीय भोगान्रूधिर प्रदिग्धान्। (२, ५)

और, जिस प्रकार युधिष्ठिर ने बार-बार इसे दुहराया है—

'लोहू-सनी जोत मुझे दीखती अशुद्ध है'

या

'राज-सुख लोहूभरी कीच का कमल है'

उसी प्रकार अर्जुन ने भी राजसत्ता और राजसुख के प्रति अपनी आत्यंतिक उपेक्षा प्रकट की है—

न कांक्षे विजयं कृष्ण ! न च राज्यं सुखानि च।
किं नो राज्येन गोविंद ! किं भोगैर्जीवितेन वा। (२, ४)

या

एतान्न हन्तुमिच्छामि घ्नतोपि मधुसूदन !
अपि त्रैलोक्यराज्यस्य हेतोः किं नु महीकृते। (२, ३५)

इतना ही नहीं अर्जुन ने जिस स्नायविक तनाव और कम्प को प्रथम पुरुष में स्वीकार किया है—

सीदन्ति मम गात्राणि मुखं च परिशुष्यति।
वेपथुश्च शरीरे मे रोमहर्षश्च जायते। (१, २६)

उसे ही हम युधिष्ठिर की मानसिक दशा को वर्णित करने वाली कुरुक्षेत्र की इन पंक्तियों में पाते हैं—

किन्तु, इस उल्लासजड़ समुदाय में
एक ऐसा भी पुरुष है, जो विकल
बोलता कुछ भी नहीं, पर, रो रहा
मग्न चिन्ताशील अपने आप में। (प्र० स०, पृष्ठ ५)

किन्तु, इस साम्य के बावजूद भी युधिष्ठिर की भूमिका अर्जुन की अपेक्षा आधुनिक मानव-समाज के लिए अधिक उपयुक्त है, क्योंकि युधिष्ठिर की तरह साम्प्रतिक मानव अपनी आंखों से लौह-संगर की संहार-लीला देखकर युद्ध के धर्म्याधर्म्य और औचित्य-अनौचित्य पर विचार करने चला है।

यद्यपि दिनकर ने स्पष्ट शब्दों में कहा है, "कुरुक्षेत्र की रचना भगवान व्यास के अनुकरण पर नहीं हुई है और न महाभारत को दुहराना ही मेरा उद्देश्य था। ..... इसलिए में जरा भी दावा नहीं करता कि कुरुक्षेत्र के भीष्म और युधिष्ठिर ठीक-ठीक महाभारत के ही युधिष्ठिर और भीष्म हैं।" तथापि महाभारत के संदर्भ पर दृष्टि-निक्षेप करना कुछ मानी में लाभप्रद होगा, क्योंकि लगे हाथ कवि ने यह भी कहा है—"मैंने सर्वत्र ही इस बात का ध्यान रक्खा है कि भीष्म अथवा युधिष्ठिर के मुख से कोई ऐसी बात नहीं निकल जाय, जो द्वापर के लिए सर्वथा अस्वाभाविक हो।" अस्तु।

महाभारत (शांतिपर्व) में युधिष्ठिर के युद्धान्त-पश्चात्ताप का कारण व्यापक और गम्भीर नहीं है। शांतिपर्व के युधिष्ठिर का निर्वेद 'कलिंग-विजय' के अशोक अथवा कुरुक्षेत्र के युधिष्ठिर की तरह न तो अरुन्तुद है और न दर्शनस्तरीय ही। कुरुक्षेत्र का निर्वेद विवेक-संचालित और विमर्श-प्रसू है। वास्तव में कुरुक्षेत्र समाज के व्यापक पृष्ठाधार को दृष्टिगत रखते हुए युद्ध की हेतुक प्रवृत्तियों और कारणों की विश्लेषणात्मक व्याख्या एवं युद्ध की करणीयता-अकरणीयता का एक स्वतन्त्र वैचारिक आकलन है, युधिष्ठिर का निर्वेद केवल कलंगी का काम करता है। शांतिपर्व में युधिष्ठिर के पश्चात्ताप का प्रबल कारण कर्ण की मृत्यु है। कर्ण उनका सहोदर भाई था, जिस राज़ को कुन्ती ने पहले धर्मराज से छिपा रखा था। इस राज़ की कलई खुलने के उपरान्त युधिष्ठिर की विचंचलता के दो कारण हैं—कर्ण का शोक और कुन्ती का छल। अमर्ष के असह्य उद्वेग से आन्दोलित होकर वे कुन्ती को लक्ष्य करते हुए समग्र नारी जाति को अभिशाप देते हैं कि वह अब किसी भी बात को गुप्त न रख सकेगी। धर्मराज ने सबसे पहले अपना युद्धान्त-शोक ऋषि-प्रवर नारद के समक्ष प्रकट किया है। नारद ने उन्हें कर्ण की सारी कथा—कवच-कुंडल, मुनिहोमधेनु की हत्या, परशुराम-शाप—सुनाई है। तदुपरान्त धर्मराज ने अपना भाव अर्जुन के समक्ष प्रकट किया है। अर्जुन के सम्भाषण में उनके निर्वेद को वैराग्य का स्तर मिल गया है। वे वैराग्य के वारिधि में संतोष की सीपी ढूंढ़ना चाहते हैं—त्यागमय वैराग्य उनका काम्य हो जाता है। इसके बाद एक-एक कर नकुल, सहदेव, द्रौपदी, भीम आदि का सम्भाषण विचार-पूर्ण है। धर्मराज ने भीम द्वारा उपस्थापित कर्मयोग का पुरजोर खंडन किया है। उन्होंने स्पष्ट शब्दों में कहा है—'संसार में भोग ही बन्धन है और वही कर्म कहलाता है। उसके त्याग से परम पद मिलता है।' पुनः गीता के शिक्षार्थी अर्जुन धर्मराज की इस मानसिक स्थिति को मोह कहते हैं, जो स्वधर्माचरण के परित्याग से उत्पन्न होता है, और वे कर्मयोग की भाषा में अपनी बुद्धि का मुक्त व्यय कर धर्मराज के मोह-निरसन के लिए जमीन-आसमान के कुलाबे एक कर देते

हैं। किन्तु, धर्मराज का वैराग्य इतना घनीभूत था कि उसकी पर्तों पर इनका उपदेश आस्फालन नहीं कर सका। और, प्रतिक्रिया कुछ ऐसी प्रतिरूप रही कि धर्मराज ने कृष्ण द्वारा दीक्षित अर्जुन को यहाँ तक कह दिया, "तुमने केवल युद्ध-शास्त्र सीखा है, ज्ञानियों की संगति नहीं की। बुद्धिमान लोग यह निर्णय कर गये हैं कि तपस्या, त्याग और ब्रह्मज्ञान इन तीनों में तपस्या की अपेक्षा त्याग और त्याग की अपेक्षा ब्रह्मज्ञान श्रेष्ठ है। तुम किसी पदार्थ को धन से श्रेष्ठ नहीं समझते, किन्तु, तुम्हारे इस सिद्धान्त को हम अच्छा नहीं मान सकते।" अपनी आस्था में धर्मराज की अटल दृढ़ता के बावजूद भी उनके शुभचिन्तक अपने प्रयास पर पूर्ण विराम न दे सके। महातपस्वी देवस्थान उनके समक्ष अर्जुन द्वारा प्रस्तावित सम्मति के महत्त्व पर एक खासी टिप्पणी के साथ अपने समर्थन की मुहर लगाते हैं। और, तब कृष्ण के सदुपदेशों से अर्जित अपनी प्रज्ञा दृष्टि का चूड़ान्त निदर्शन प्रस्तुत करते हुए एक बार पुनः 'युद्धयोगी' अर्जुन धर्मराज से कहते हैं, अब आप शोक को छोड़कर इन्द्र की तरह धनदान के साथ यज्ञ कीजिये। जिन लोगों ने क्षत्रिय धर्म के अनुसार युद्ध में प्राण-त्याग किया है, वे सब स्वर्ग गये हैं, अतएव उन वीरों के लिये शोक करना ठीक नहीं। जो कुछ हुआ है, वह अवश्यम्भावी था। भावी को टालने में कोई समर्थ नहीं।' शायद, अर्जुन का यह 'भावी' में विश्वास ही कुरुक्षेत्र के कुछ स्थलों में भीष्म के सिर पर चढ़कर बोला है, जहां वे 'नियति को ही नियन्ता' मान बैठे हैं—

मन से कराहता मनुष्य, पर, ध्वंस-बीच
तन से निबुक्त उसे करती नियति है। (स० स०, पृष्ठ १०२)

इसके उपरान्तर महर्षि वेदव्यास अर्जुन के कथन का समर्थन करते हुए धर्मराज को राजधर्म तथा प्रजापालन का उपदेश देते हैं। इनकी वार्त्ता में क्षत्रिय धर्म की व्याख्या के साथ यह मत व्यक्त हुआ है कि युद्ध तो निमित्त मात्र है, परस्पर लड़कर मर जाना ईश्वरीय नियम है। ईश्वर का भी कोई दोष नहीं, वह तो अनिवार्यतः कर्मानुसार होता है। इस प्रकार व्यासदेव युद्ध का सीधा दायित्व न तो ईश्वर पर देते हैं और न मनुष्य पर तथा युधिष्ठिर की खिन्नता को व्यर्थ कहते हैं। कुरुक्षेत्र के द्वितीय सर्ग में भीष्म का भी कुछ-कुछ यही विचार है—

और जो अनिवार्य है उसके लिए
खिन्न या परितप्त होना व्यर्थ है,
तू नहीं लड़ता, न लड़ता, आग यह
फूटती निश्चय किसी भी व्याज से। (पृष्ठ १७)

शांतिपर्व में युधिष्ठिर को भीष्म पितामह से राजधर्म पर प्रवचन सुनने का परामर्श व्यासदेव ने ऋषिसत्तम नारद के समक्ष दिया है। इसे सुनकर धर्मराज,

मानो, मेंढक-विषाण (डायलेमा) के बीच पड़ गये हैं और आन्तरिक असमंजस को प्रकट करते हुए उन्होंने कहा है "धर्मयुद्ध करते समय हमने ही महावीर पितामह को छल से मरवाया है। बतलाइये, अब हम कौन-सा मुँह लेकर उनके पास जाकर धर्म की जिज्ञासा प्रकट करें ?" किन्तु, भगवान् कृष्ण द्वारा व्यास के प्रस्तुत प्रस्ताव के समर्थित होने के उपरांत धर्मराज ने इसे स्वीकृत कर लिया है। लेकिन पितामह से उपदेश लेने के पूर्व वे हस्तिनापुर गये हैं। नगर के नर-नारियों ने उनका पुरःसर सम्मान किया है। राज्याभिषेक के उपरान्त धर्मराज आत्मीयों का क्रियाकर्म समाप्त कर श्रीकृष्ण के साथ पितामह के पास धर्मज्ञान के लिए गये हैं। उनका प्रश्न था—"पितामह ! महात्माओं का कहना है कि राजाओं के लिए सब धर्मों की अपेक्षा प्रजा-पालन (राजधर्म) ही श्रेष्ठ है। इस धर्म के भार को सम्भालना बहुत कठिन है। आप कृपाकर इस धर्म का विस्तारपूर्वक वर्णन कीजिये। धर्म, अर्थ और काम के साथ राजधर्म का घनिष्ठ सम्बन्ध है और मोक्ष-धर्म भी इससे दुर्लभ नहीं है। जैसे घोड़ा लगाम के और हाथी अंकुश के वश में रहता है, वैसे ही सम्पूर्ण संसार का नियन्त्रण राजधर्म करता है। यदि राजा राजधर्म का पालन नहीं कर सकता तो सारा देश विशृंखल हो जाता है और इससे लोगों को कष्ट होता है। .....इसलिए हे पितामह ! आप मुझे राजधर्म का उपदेश दीजिए। तदुपरान्त पितामह ने राजधर्म की व्याख्या के क्रम में पौरुष, सत्य, देव-ब्राह्मण-पूजा, उद्योग, भृत्यानुशासन, प्रजारंजन, सौख्यवृद्धि, राजा की उत्पत्ति, चतुर्वर्णों की व्यवस्था आदि पर अपने प्रौढ़ विचार व्यक्त किए हैं।

किन्तु, कुरुक्षेत्र में प्रश्न-पूर्व कथा का कोई उल्लेख नहीं है, जिससे प्रबन्धोचित पूर्वापर प्रसंग की रक्षा नहीं हो सकी है और इस घाटे की पूर्ति में कवि द्वारा बहाये गये इतिहास के आँसू से गीली भूमिका (वह कौन रोता है वहाँ इतिहास के अध्याय पर.....),सफल नहीं हो पायी है। इसका दुष्परिणाम यह हुआ है कि कथानक की रीढ़ के अभाव में सम्पूर्ण प्रबन्ध-शिल्प लचपच हो गया है। केवल दो पात्रों पर महाकाव्य की कथा का भार है। कथानक-परिहार का दूसरा दुष्परिणाम यह हुआ है कि पात्राभाव-जनित द्वैत सम्भाषण के कारण जहाँ नाटकीय संस्पर्श और स्वाभाविकता का ह्रास हो गया है, वहीं विचारों के अविरल आवेग से भाराक्रान्त घटनाशून्य काव्य एक ऐसी वादविवाद-प्रतियोगिता के समान लगता है, जिसमें सभा-शिष्टाचार से अनभिज्ञ कोई वाग्मी सभापति वक्ताओं की बात समाप्त होने के पूर्व ही (षष्ठ सर्ग में) अपना अभिभाषण दे देता है। इन दोनों पात्रों की चरित्र-सृष्टि भी बेतरह कार्य-शून्य है, जो उनके वास्तविक अस्तित्व पर सन्देह पैदा कर देती है। आचार्य नलिनविलोचन शर्मा की यह उक्ति समीचीन प्रतीत होती हैं कि 'कुरुक्षेत्र के

भीष्म और युधिष्ठिर दिनकर के आभ्यंतर स्वालाप के दोनों पक्षों के प्रतीक हैं····· (और) ध्वनिविस्तारक यंत्र के स्थानापन्न हैं' पूर्वापरिहार का एक अवश्यंभावी परिणाम यह हुआ है कि भीष्म की वार्त्ता के पूर्व महाभारत में अर्जुन, भीम, देवस्थान और व्यासदेव ने युद्ध, राजधर्म आदि के विषय में जितनी बातें कही हैं, उनमें से सारी ग्रहणीय बातें कवि को भीष्म से ही कहलानी पड़ी हैं।

(कुरुक्षेत्र के कवि ने युधिष्ठिर के निर्वेद को गहरा और व्यापक बनाकर युद्ध-सम्बन्धी उसके सम्पूर्ण परिप्रेक्ष्य (पर्सपेक्टिव) में अपने युग के अनुकूल परिवर्तन उपस्थित किया है) महाभारत में जहाँ धर्मराज के शोक का कारण पहले कर्ण की और बाद में अभिमन्यु, धृष्टद्युम्न, महाराज द्रुपद और राजा धृष्टकेतु की मृत्यु तक सीमित रहा, वहाँ कुरुक्षेत्र के युधिष्ठिर का शोक युद्ध में खेत आये समस्त बन्धु-बान्धवों में समाहित है। उन्होंने बड़ी विह्वलता के साथ पितामह से कहा है—

बालहीना माता की पुकार कभी आती और
आता कभी आर्तनाद पितृहीन बाल का;
आँख पड़ती है जहाँ, हाय वहीं देखता हूँ
सेंदुर पुछा हुआ सुहागिनी के भाल का। (द्वि० स० पृ० ११)

इतना ही नहीं, महाभारत में पितामह के समक्ष धर्मराज की जिज्ञासा मात्रराजधर्म से संबन्धित है, किन्तु, कुरुक्षेत्र में उनकी समस्या कुछ इस प्रकार है—

१. ध्वंसजन्य सुख? याकि, साश्रु दुख शान्ति-जन्य?
ज्ञात नहीं, कौन बात नीति के विरुद्ध है;
जानता नहीं मैं कुरुक्षेत्र में खिला है पुण्य
या महान पाप यहाँ फूटा बन युद्ध है?
(द्वि० स० पृ० ११)

२. नरनाश का दायी था कौन? सुयोधन
या कि युधिष्ठिर का दल? बोलिए। (पं० स० पृ० ८३)

कुरुक्षेत्र की विचार-भूमि पर संचरण करने के पूर्व कलिंग-विजय की युद्ध-भावना पर एक उड़ती नजर डालना आवश्यक है, क्योंकि कलिंग-विजय, कुरुक्षेत्र और रश्मिरथी में दिनकर का युद्ध-दर्शन क्रम-क्रम से व्यापक और उच्चतर धरातल पर पहुँचता गया है। यह कवि ने स्वयं स्वीकार किया है, "·····पहले मुझे अशोक के निर्वेद ने आकर्षित किया और कलिंग-विजय नामक कविता लिखते-लिखते मुझे ऐसा लगा, मानो, युद्ध की समस्या मनुष्य की सारी समस्याओं की जड़ हो। इसी क्रम में द्वापर की ओर देखते हुए मैंने युधिष्ठिर को देखा जो 'विजय इस छोटे से शब्द

को कुरुक्षेत्र में बिछी हुई लाशों से तोल रहे थे।" इसलिए सिद्ध है कि गंगा के लिए जो महत्त्व गंगोत्री का है, वही कुरुक्षेत्र के लिए कलिंग-विजय का। अस्तु ! युधिष्ठिर की तरह अशोक के निर्वेद का कारण 'बन्धु-वध' ही है—

सोचता इस बन्धु-वध का क्या हुआ परिणाम ?
विश्व को क्या दे गया इतना बड़ा संग्राम ? (कलिंग-विजय)

इन पंक्तियों में रह-रहकर झलक देने वाली युद्ध की महोल्का से संभीत प्रत्येक व्यक्ति कुछ अपनी बात पाता है। आगे प्रश्नकर्त्ता स्वयं उत्तर देता है—

युद्ध का परिणाम !
युद्ध का परिणाम ह्रास-त्रास !
युद्ध का परिणाम सत्यानाश !
रुण्ड-मुण्ड-लुंठन, निर्हिसन, मीच !
युद्ध का परिणाम लोहित कीच ! (कलिंग-विजय)

निर्वेद के उत्तोलित होने पर अशोक की दशा भी धर्मराज जैसी है—

और इस सुनसान में निःसंग
खोजते सच्छान्ति का परिष्वंग,
मूर्तिमय परिताप से विभ्राट
हैं खड़े केवल मगध-सम्राट। (कलिंग-विजय)

इन मानसिक परिदृश्यों के सादृश्य के अलावा कलिंग-विजय के विचार-सूत्रों का पर्याप्त सप्रसारण कुरुक्षेत्र में हुआ है। अध्यात्मवादियों के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति के हृदय में एक 'शुभांश' छिपा है, जिसमें सदसद्विवेक है। गांधीवाद के हृदय-परिवर्तन-सिद्धान्त का यही मूलाधार है। मनुष्य के इस 'शुभांश' में दिनकरजी को दृढ़ विश्वास है। निर्वेद के आत्म-पीड़न से पीड़ित अशोक के हृदय में कवि ने इसी शुभांश को आत्मस्थ देवता के रूप में उपस्थित किया है—

चीर वक्षोदेश भीतर पैठ,
देवता कोई हृदय में बैठ,
दे रहा है सत्य का संवाद,
सुन रहे सम्राट कोई नाद।

इस अन्तःस्थ देवता का कण्ठस्वर देकर कवि ने युद्ध-भावना का इस प्रकार निरोध उपस्थित किया है, जिसमें अद्वैत के दार्शनिक धरातल पर (निम्नांकित उद्धरण की

अन्तिम पंक्तियों से स्पष्ट है) मानव के पारस्परिक द्वैत-विग्रह का खंडन किया गया है—

मन्द मानव ! वासना के मृत्य !
देख ले भर आँख निज दुष्कृत्य !
यह धरा तेरी न थी उपनीत,
शत्रु की त्यों ही नहीं थी क्रीत।

सृष्टि सारी एक प्रभु का राज,
सत्व है सब का प्रजा के व्याज।
मानकर प्रति जीव का अधिकार,
ढो रही धरनी सभी का भार।

एक ही स्तन का पयस कर पान
जी रहे बलहीन औ' बलवान।
देखने को बिम्ब रूप अनेक
किन्तु, दृश्याधार दर्पण एक। (कलिंग-विजय)

इन पंक्तियों में एक आपत्ति-जनक बात यह है कि यह पृथ्वी दो अरिदलों में किसी की नहीं, बल्कि, इसका सत्ताधिकार एक तीसरे के पास है—प्रभु के पास (सृष्टि सारी एक प्रभु का राज)। इस प्रकार कवि ने भ्रातृत्व-भाव और पारस्परिक प्रेम को जगाकर युद्ध-भावना के निरोध की जगह एक लोकेतर मालिक खड़ाकर मनुष्य की जन्मसिद्ध स्वतंत्रता के मूल्य पर शांति का समर्थन किया है। सच तो यह है कि आधुनिक प्रत्यभिज्ञान के मुताबिक, जिसका श्रेय भौतिक विज्ञान एवं मानव-महत्त्व के समाजशास्त्रीय मूल्यों को है, मनुष्य स्वयं सृष्टि का सर्वश्रेष्ठ सत्य है और सृष्टि के सारे साधन उसकी हित-साधना के लिए हस्तामलक हैं। अतः प्रश्न यह उठता है कि शांतिमय परतन्त्रता और अशांतिमय स्वाधीनता में कौन श्रेष्ठ है? निश्चय ही स्वतन्त्रता का मूल्य शांति से अधिक है। इसलिए विचारणीय यह है कि आज का भौतिकवादी दृष्टिकोण या अत्याधुनिक वस्तुनिष्ठ मस्तिष्क कवि द्वारा उपस्थापित युद्ध-निरोध की इस उपपत्ति से कहां तक सहमत हो सकेगा।

यह अन्तःस्थ देवता वित्तैषणा, सत्ताकांक्षा, शस्त्रबल और स्वमद को युद्ध का कारण बतलाता है—

हाय रे धनलुब्ध जीव कठोर !
हाय रे दारुण ! मुकुटधर भूप लोलुप चोर।

किन्तु, उठता प्रश्न जब समुदाय का
भूलना पड़ता हमें तप-त्याग को। (द्वि० स० पृ० १८)

इस विमर्श-विन्दु पर कवि व्यक्ति-धर्म और समाज-धर्म के बीच स्पष्ट विभाजक रेखा खींच देता है। संभव है, इसे पात्रोक्ति कहकर कवि का निजी विचार नहीं माना जावे। किन्तु व्यक्तिवाद के प्रति इस कठोर विश्वास की स्वीकारोक्ति उसके निजी मन्तव्यों में भी मिलती है। व्यष्टिवाद से उसे इतना मोह है कि वह समाज को एक कल्पित वस्तु मानता है—

है आँख तुम्हारी निराकारता के ऊपर
तुम देख रहे कल्पित समाज की छाया को;
हमको तो केवल व्यष्टि दिखाई पड़ती है
मुट्ठी कैसे पकड़े समष्टि की माया को!

(धूप और धुंआ—'व्यष्टि')

इतना ही नहीं, वह समाज के व्यापक पैमाने पर आधारित आदर्शात्मक या व्यावहारिक प्रयोगों का खंडन भी कर बैठता है—

मढ़ कभी सकोगे चाम निखिल भूमंडल पर?
बेकार रात-दिन इतना स्वेद बहाते हो।
कांटे पथ में हैं अगर, व्यक्ति के पावों में
तुम अलग-अलग जूते क्यों नहीं पिन्हाते हो? (व्यष्टि)

कुरुक्षेत्र का क्षेपक (षष्ठ सर्ग) ही उसकी वैचारिक पीठिका है। प्रबन्धात्मकता की दृष्टि से कुरुक्षेत्र का षष्ठ सर्ग वही है, जो साकेत का नवम सर्ग है। किन्तु, उससे भी इसकी भिन्नता है। साकेत के नवम सर्ग में अन्ततः उसके एक पात्र—उर्मिला—के हृदय की गीतात्मक अभिव्यक्ति है, किन्तु, कुरुक्षेत्र के इस सर्ग में किसी पात्र की नहीं, स्वय कवि की आत्माभिव्यक्ति है। यद्यपि काव्य में कवि की अपरागत आत्माभिव्यक्ति अवश्य रहती है, तथापि इस प्रकार आत्माभिव्यक्ति की 'तूफान मेल' विह्वलता न तो सामान्य कला की दृष्टि से और न प्रबन्ध-सौष्ठव के लिए ही सराहनीय है। प्रस्तुत सर्ग में उपदेशक कवि का कथन-कौशल स्वयं आग्नेय हो उठा है, जिसके फलस्वरूप कान्तासम्मित की कमनीयता का इसमें अत्यन्ताभाव है।

कवि ने विज्ञान के खंडन में कुछ वैसे ही सामान्य तर्क उपस्थित किये हैं, जैसे तर्क प्रसाद जी इड़ा (व्यवसायात्मिका बुद्धि) के खंडन में लाये हैं। इस सर्ग के साक्ष्य पर दिनकर अवश्य ही इस दृष्टि से प्रशसनीय हैं कि वे हिन्दी के अधिकांश कवियों के असदृश विज्ञान की नवीन शोधों, अनुसन्धित्साओं और आविष्कारों से परिचित हैं।

सच पूछिये तो विचार-दर्शन की दृष्टि से इस सर्ग में कवि ने विज्ञान तथा बुद्धि के खंडन एवं विश्वास और श्रद्धा के मंडन में कोई नई बात नहीं कही है। इस संबंध में दिनकर कामायनीकार की सीमाओं को अतिक्रान्त नहीं कर सके हैं। भारतीय संस्कृति के पृष्ठपोषकों अथवा अध्यात्मवादी विचारकों की आज के युग के प्रति ये सामान्य धारणायें और शंकाएं हैं। यदि इन विचार-सूत्रों को इस सर्ग में काव्यात्मक धरातल पर यह स्पृहणीय सशक्त अभिव्यक्ति नहीं मिलती, तो इन्हें चर्वित-चर्वण से अधिक कोई महत्त्व नहीं मिल पाता। प्रसाद की तुलना में दिनकर ने अवश्य एक नई बात कही है, वह है समता के आलोक में सामाजिक संबंधों का नूतन न्यास—

जब तक मनुज-मनुज का यह
सुख-भाग नहीं सम होगा,
शमित न होगा कोलाहल
संघर्ष नहीं कम होगा। (स० स०, पृ० ११३)

कुरुक्षेत्र इतःपूर्व हिन्दी साहित्य में समता के फलक पर मानवीय मूल्यों एवं उसके सामाजिक सम्बन्धों का सोद्देश्य निरूपण करनेवाला प्रथम और अंतिम प्रबधकाव्य है, और दिनकर अपने सशक्त पौरुष के सम्पूर्ण आग्रह के साथ अधुनातन समाजशास्त्रीय परिधि-बंध को वर्त्तमान मानव की भावी मंगलाशा से संश्लिष्ट कर कर्मयोग के दर्पण में प्रतिबिम्बित करने वाला अकेला हिन्दी-कवि है।

व्यापक और निर्भय दृष्टिकोण कुरुक्षेत्र के कवि की अपनी विशेषता है। कुरुक्षेत्र के महासमर के मूलभूत कारणों पर अब तक किसी विचारक ने इतनी व्यापकता और निर्भयता के साथ नहीं सोचा था। दृष्टिकोण की व्यापकता इसमें है कि उसने युद्ध-विस्फोट के सभी संभव कारणों का विश्लेषण किया है, जो चतुर्थ सर्ग के आधार पर इस प्रकार है—१. उत्कर्षापकर्ष के कारण नृपों का पारस्परिक वैमनस्य, २. शूरता अथवा क्रूरता से समुद्भूत प्रतिशोध, ३. राधेय द्वारा पार्थ-वध के निर्वाह का प्रश्न, ४. द्रोण से वैर-शोधन के लिये द्रुपद की आकांक्षा, ५. कुरुकुल की पताका को धूल में मिलाकर पितृ-ऋण-शोध के लिए शकुनि का घोर छल, एवं ६. युधिष्ठिर को सम्राट बनाकर देश में ऐक्य-सृजन के लिए केशव द्वारा किये गये सद्प्रयत्नों से उपजी भ्रान्ति एवं राजाओं का द्वेष। और, दृष्टिकोण की निर्भयता इसमें है कि कवि ने स्पष्ट शब्दों में कुरुक्षेत्र के संहार का दायित्व पितामह भीष्म और कृष्ण की ओर संकेतित किया है। पितामह ने आत्म-विगर्हणा के प्रसंग में स्वयं इस सदमे को स्वीकार किया है—

धर्मराज, अपने कोमल
भावों की कर अवहेला;

लगता है, मैं ने भी जगको
रण की ओर ढकेला । (चतुर्थ सर्ग, पृ० ६२)

और, अपनी कर्त्तव्य-विच्युति को दार्शनिक धरातल पर उपस्थित करते हुए उन्होंने अपना आत्म-विश्लेषण इन शब्दों में किया है —

धर्म, स्नेह दोनों प्यारे थे,
बड़ा कठिन निर्णय था।
अतः एक को देह, दूसरे
को दे दिया हृदय था। (चतुर्थ सर्ग, ५७)

इस सम्बन्ध में डा० सम्पूर्णानन्द ने कवि को उचित ही लिखा था, "चतुर्थ सर्ग में आप जिस भीष्म को सामने लाये हैं, उसे अब तक किसने देखा था ? ऐसा लगता है कि उसका अस्तित्व अवश्य रहा होगा और वह व्यास के भीष्म को कुरेदता भी होगा। किन्तु, उसे जीवन आपने ही दिया।"

इसी प्रकार दिनकर का युधिष्ठिर भी अपने ढंग का निर्भय विचारक है, जिसने स्पष्ट शब्दों में अपना क्षोभ प्रकट किया है कि (कौरवों को नारायणी सेना और पाँडवों को सारथ्य देने वाले) कृष्ण ने युद्ध की बुझती आग में घी डाल दिया—

और जब अर्जुन को मोह हुआ रण-बीच,
बुझती शिखा में दिया घृत भगवान ने,
सबकी सुबुद्धि पितामह, हाय मारी गई,
सबको विनष्ट किया एक अभिमान ने।

(द्वितीय सर्ग, १०)

इतना ही नहीं, कृष्ण के साथ धर्मराज अपना मत-विरोध भी दिखलाते हैं—

कृष्ण कहते हैं, युद्ध अनघ है, किन्तु, मेरे
प्राण जलते हैं पल-पल परिताप से ;
लगता मुझे है, क्यों मनुष्य बच पाता नहीं
दह्यमान इस पुराचीन अभिशाप से।

युधिष्ठिर की इस उक्ति में—बुझती शिखा में दिया घृत भगवान ने—बड़ी ही तथ्य-पूर्ण आलोचना मालूम पड़ती है। वास्तव में, रण-विमुख अर्जुन को युद्ध-सन्नद्ध करने के लिए गीता में कृष्ण ने उसके समक्ष धर्मयुद्ध की अनघता, क्षत्रिय धर्म की सार्थकता तथा आत्मा की अनश्वरता का विचित्र प्रलोभन उपस्थित किया है। अधिकन्तु, युद्ध में खेत आने पर बैकुण्ठ और जीवित रहने पर विजय रूपी लड्डू अर्जुन के दोनों हाथों में रखकर उन्होंने युद्ध के प्रति अपनी अजीब विह्वलता दिखलायी है। गीता का निम्नांकित उद्धरण इसे स्पष्ट करता है—

स्वधर्ममपि चावेक्ष्य न विकम्पितुमर्हसि ।
धर्म्याद्धि युद्धाच्छ्रेयोऽन्यत्क्षत्रियस्य न विद्यते ।। (द्वि० अ० ३१)

तथा

अथ चेत्त्वमिमं धर्म्यं संग्रामं न करिष्यसि ।
ततः स्वधर्मं कीर्तिं च हित्वा पापमवाप्स्यसि ।। (द्वि० अ० ३३)

(अर्थात्—अपने धर्म को देखकर घबड़ाना ठीक नहीं है, क्योंकि क्षत्रिय के लिए धर्म-युद्ध से दूसरा कल्याणकारी धर्म नहीं है। यदि तुम धर्म-युद्ध नहीं करोगे तो अपने धर्म और यश को त्याग कर पाप के भागी बनोगे।) और कृष्ण तो तब कमाल ढाते हैं, जब वे कहते हैं—

हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम् ।
तस्मादुत्तिष्ठ कौन्तेय युद्धाय कृतनिश्चयः ।। (द्वि० अ० ३७)
सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ
ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि ।। (द्वि० अ० ३८)

(अर्थात्—हे अर्जुन ! यदि तुम मारे गये तो वैकुण्ठ पाओगे और यदि जीत गये तो पृथ्वी का सुख भोगोगे, अतः लड़ने का निश्चय कर उठो। सुख-दुःख, लाभ-हानि तथा हार-जीत को तुल्य मानकर युद्ध के लिये प्रयत्न करने से तुम पाप के भागी नहीं बनोगे।) अस्तु, कृष्ण पर युधिष्ठिर के दोषारोपण की सत्यता स्पष्ट है।

वस्तुतः, बहुत संभव था कि यदि कृष्ण पांडवों का साथ नहीं देते और 'वेपथुमान' अर्जुन को युद्ध के लिए उत्तेजित नहीं करते, तो धर्मराज केवल भीम की गदा के बल पर रण के लिए बद्ध-परिकर नहीं होते। उसी प्रकार यदि पितामह कौरवों का पुरजोर विरोध करते और कृष्ण अपनी नारायणी सेना उनके सहयोग में नहीं भेजते, तो दुर्योधन केवल कवच-कुंडलधारी सूतपुत्र कर्ण की सहायता से कुरुक्षेत्र के बालू को लाल नहीं कर पाता। इतना ही नहीं, यदि भीष्म और कृष्ण का एकाधिक बार सम्मिलित प्रयत्न चलता तो भूमि का सूच्यग्र भाग न छोड़नेवाला दुराग्रही दुर्योधन उनके असहयोग और नैतिक दबाव से उद्भूत प्रतिकूल परिस्थितियों से पराभूत होकर अवश्य ही किसी मध्यम मार्ग पर उतरता।

संक्षेप में कहा जा सकता है कि कुरुक्षेत्र अपने समय और समाज के प्रति अत्यन्त जागरूक एवं स्वतन्त्र विचारक कवि की उदग्रवाणी है। अपनी उपलब्धियों और अभावों के साथ इस ग्रन्थ में हम मध्याह्न के दिनकर की तेजोदृप्त रश्मियों का प्रसन्न आलोक पाते हैं, जिसकी आशु अवधारणा से युग-युग तक मानवता की मंगलाशा देदीप्यमान रहेगी।

—: ० :—

रश्मिरथी

श्री जीवन प्रकाश जोशी

कविवर दिनकर जी की सबल लेखनी से प्रसूत रश्मिरथी की कथावस्तु का मूल आधार महाभारत है। कर्ण उसका मुख्य-पात्र है और अर्जुन उसका एक मात्र प्रतिद्वंदी ! प्रतिद्वंदी होकर भी उसमें अपने पौरुष की सत्ता कम, कृष्ण के कहे के परिपालन का भाव अधिक है। ऐसा तो गीता में भी है। हाँ, कृष्ण की नीति महाभारत में भी एक कुशल राजनीतिज्ञ की है जिसका इतिवृत्ति वर्णन रश्मिरथी में बड़ी खूबी के साथ हुआ है। रश्मिरथी के समस्त कथानक में कुन्ती एक जघन्य एवं कुण्ठित पात्र के रूप में प्रतिपादित की गई है जो न अपनी दीनता, विवशता और ममत्व से साधारण पाठक की कोई सहानुभूति पाती है और न साकेत की केकई की भाँति अपने पश्चात्ताप की स्वीकृति से अपने पाप को प्रक्षालित कर पाती है। सचमुच, रश्मिरथी के कवि ने क्रान्तिकारी गुणसम्पन्न कर्ण के धर्म-जाति-निरपेक्ष समाजवादी दृष्टिकोण या तर्क की गहरी स्थापना के लिए कुंती के प्रति कलम को आवश्यकता से अधिक कठोर कर लिया है। मेरे विचार से इस प्रकार की कठोरता को ध्यान में रखते हुए यदि रश्मिरथी का पाठक कुंती को देखे तो उसपर उसकी अवश्य करुणा जागनी चाहिए। रश्मिरथी के भीम, द्रोण, परशु राम आदि - ये सब कर्ण के चरित्र और काव्य के कथानक को विकसित करने वाले महाभारत कालीन पात्र हैं। उनके व्यक्तित्व, कृतित्व तथा भाव-विचारों में कोई नया क्षितिज मूलतः परिलक्षित नहीं होता।

रश्मिरथी के सारे काव्यत्व और चरित्र का मूलकेन्द्र कर्ण है। कर्ण के व्यक्तित्व और चरित्र-रूप की प्रतिष्ठा करने के लिए कवि ने कोई कसर नहीं छोड़ी और इसमें कोई शक नहीं कि यहाँ कर्ण को पाकर भारतीय वर्तमान समाजवाद और धर्म-निरपेक्ष जाति-विमुक्त वातावरण की सहज सिद्धि की कल्पना और प्रेरणा का सजीव प्रतीक हम अपने आगे खड़ा पाते हैं। इस क्रम में न जाने क्यों कवि ने कुंती को सर्वथा दमिता, उपेक्षिता और स्वयं में कुंठिता के रूप में ही प्रस्तुत कर उसके चरित्र का क्रान्तिकारी पक्ष उद्घाटित नहीं किया, वरना यह उद्घाटन आज की न जाने कितनी कुन्तियों और उनके कर्णों के लिए शुभ और शक्तिदायक होता। वैसे इस ज्वलित

तथ्य की व्यंजना करण करता ही है—

मुझ वीर पुत्र को मिली भीरु क्यों माता ?
जो जनकर पत्थर हुई जाति के भय से
सम्बन्ध तोड़ भागी दुधमुँहे तनय से
× × × ×
पी सुधा जहर को देख नहीं घबराती
था किया प्रेम तो बढ़कर मोल चुकाती। (पंचम सर्ग)

अपनी सफाई में यदि कुंती भी कोई प्रगतिशील प्रौढ़ अभिव्यंजना अपनी लोक-प्रताड़ित आभा से करती, यदि वर्त्तमान प्रगतिशील नारी के लिए उसके चरित्र में कहीं भी क्रान्ति की चिनगारी फूटती दिखलाई जाती, तो बड़ी प्रभाव-संगत बात बनती। लेकिन यहाँ कवि की कोई विवशता भी होगी, जिससे वह इस अवसर पर अपनी अभिव्यंजना न कर सका और कुंती क्रान्ति की जरा भी आवाज न उठा सकी।

रश्मिरथी का कथानक यद्यपि महाभारत की कर्ण-सम्बद्ध गतिविधियों के आधार पर ही चला है तथापि उसमें एक समर्थ युग-कवि का मुक्त मस्तिष्क, मानवतावादी हृदय और ओजस्वी अभिव्यंजन रूपायित हुआ है। रश्मिरथी पढ़ते हुए किसी भी पाठक की सहज प्रतिक्रिया यह हो सकती है कि वह एक तप:पूत, प्रोज्ज्वल, प्रतिभा-सम्पन्न और पावन चरित्र का सजीव, सोद्देश्य और कुशल सृजन पढ़ रहा है। सोद्देश्य इसलिए, क्योंकि उसमें कला महाभारत से लेकर आज तक की जाति-पांति, ऊँच-नीच की रूढ़ियों को तोड़कर, कर्ण का वरण कर लोक में सर्वश्रेष्ठ, वंदित, पूजित, पवित्र व्यक्तित्व के चरित्र की दिव्योत्तर प्रतिष्ठा करती है। आज जबकि मानवतावाद की महत्ता की सबसे बड़ी माप किसी भी मनुष्य के निजी बल, न्याय, पौरुष, मैत्री-भाव और निज के बलिदान या आत्मदान तथा परिष्कृत धर्म तथा कर्म-गति से सम्भव मानी जा रही है, तब रश्मिरथी की सर्जना का उद्देश्य कर्ण के कारण सूर्य सा दमदमाता हुआ प्रतीत होता है। यहाँ विशुद्ध कलावाद को मानव के विशुद्ध आत्मवाद या मानवतावाद का ही सूक्ष्म पर्याय कहना कोई अनुचित बात न होगी। कला के नाम पर जो भी मानसिक चित्र उतरते हैं उनका तब तक मूल्य या महत्त्व क्या होगा, जब तक कि वे मानस के अन्दर कोई हलचल न पैदा करदें या किसी गम्भीर रहस्य का आवरण चीरकर हमें कोई सहज सत्य का रमणीय रूप न दिखला दें। यह एक बड़ी बात है, लेकिन रश्मिरथी में जब हम पैठते हैं तो उसमें हम गुण-सम्पन्न मानव-महत्ता की दिव्य-छवि का साक्षात्कार करते हैं और उसी में हमें छल-छद्म के परिणाम-स्वरूप परदे में छिपी-बैठी महाभारत जैसे समर की भयंकर हलचल

भी अनुभव होती है। कला की सार्थकता के लिए ये दोनों चीजें किसी टीका टिप्पणी की अपेक्षा नहीं रखतीं।

रश्मिरथी की कथावस्तु केवल कथाक्रम बनाये रखने के अलावा कोई सिद्धि नहीं रखती। रखती भी क्या ? क्योंकि पुरानी घटनाओं का छन्दोबद्ध विवरण तो काव्य नहीं कहलाता। पर रश्मिरथी तो एक सबल प्रबन्ध काव्य है। क्यों ? क्योंकि उसमें कथा-प्रसंग के कुछ छन्द-अनुबंधों को छोड़कर बाकी सारा मसाला कवि के गम्भीर चिंतन, मंथन और प्राणानुभूति के रस का मिश्रण है। ऐसा क्रम कवि के कुरुक्षेत्र रचनाकाल से ही आरम्भ हो गया था। ठीक है, रश्मिरथी के अधिक काव्यांश रसवृष्टि से प्लावित न होकर उपदेश-दृष्टि से चमत्कृत हैं, किन्तु वहाँ भी वाणी या अभिव्यक्ति एक प्रौढ़ कवि की ही है। इसलिये हमें उन स्थलों पर भी जहाँ सिद्धान्त या उपदेश प्रधान हैं, वहीं कहीं आसपास रस के छींटे भी मिल जाते हैं। सोद्देश्य लिखे काव्य में इससे अधिक केवल रस ही रस की प्रत्याशा करना कम से कम अनुचित माँग कही जायगी। उसमें हम उद्देश्य की नीरसता या रूढ़िता पर आपत्ति तो उठा सकते हैं पर रश्मिरथी में सर्वथा ऐसा नहीं है।

काव्य में 'रस' की चर्चा मुख्य है। आलोच्य काव्य वीर-रस प्रधान है। कर्ण (रश्मिरथी का प्राण) वीर ही वीर है—दानवीर, युद्धवीर, वचनवीर, धर्मवीर और कर्मवीर। उसका हर निक्षेप, हर भाव-विचार और हर कथन-कर्म वीर रस का जनक है। शायद ही किसी एक पात्र के चरित्र में, लाघवता से, वीरता के इतने परिपूर्ण और सार्थक गुण दूसरे खड़ी बोली के प्रबन्ध-काव्य में इतनी प्रवीण शैली में व्यक्त हुए मिलें। किन्तु वीरकाव्य-परम्परा में शृंगार रस का वर्णन अनिवार्य किंवा अपरिहार्य सा रहा है। रश्मिरथी में इसका नितांत अभाव है यद्यपि उसमें शृंगार रस के वर्णन का कुन्ती-सूर्य के प्रेम-प्रसंग के वर्णन मे कवि को पर्याप्त अवकाश था। यदि ऐसा हुआ होता तो विशुद्ध रस-पिपासु पाठकों को कुछ उदासीनता सी सम्भवतः न रहती। पर सृजन के क्षणों में कोई कवि न समीक्षक होता है और न समीक्षा या समीक्षकों की दृष्टि का ध्यान रखता है। और फिर वीर रस भी कुछों की मान्यता के अनुसार रसराज है, जो रश्मिरथी में पूर्णतः आसीन है।

उद्देश्य और रस के उपरान्त तीसरी विचारणीय बात है रश्मिरथी के कला या अभिव्यंजन-पक्ष की। इस तथ्य के प्रति शायद ही दो मत हों कि कविवर दिनकर जी ऊर्जस्वी मार्ग (Powerful style) के हिन्दी के अकेले समर्थ कवि हैं। लेखक की इस विषय में ऐसी मान्यता है कि हिन्दी खड़ी बोली के काव्य में सहज या प्रसन्न पदावली के प्रतिनिधि कविवर बच्चन हैं, उदात्त के महाकवि प्रसाद जी और

निराला जी, सुकोमलता के कविवर पंत और श्रीमती महादेवी जी तथा ओजस्विता के कविवर दिनकर जी है। दिनकर जी के रश्मिरथी के अभिव्यंजन में भाषा-छंदों का प्रवाह उद्दाम है। हां, इस प्रवाह में यत्र तत्र प्रूफ की अशुद्धियां या किसी भी कारण वश छांदिक झटका सा लगता प्रतीत होता है। कहीं-कहीं पर शब्दों का प्रयोग भी विवशतायुक्त सा हो चला है—जैसे, 'नाहीं', 'लहर' ('लहरा' होना चाहिये था)। वैसे स्थल-स्थल पर मुहावरों और चलते शब्दों का प्रयोग अभिव्यंजन में अत्यधिक प्रभाव पैदा करता है—जैसे,

"गुदड़ी में रखती चुन-चुन कर बड़ कीमती लाल।"

आलोच्य काव्य में प्रवाही छंदों का प्रयोग है। प्रवाही छन्दों से आशय है समर्थ गतिवान छंदों से, जिससे पाठक की काव्य को त्वरित गति से पढ़ने की लालसा दुगनी बनी रहती है। कुछ इसी कारण लेखक ने रश्मिरथी को अब तक कई बार पढ़ा है किन्तु अभी तक भी लगता है कई बार पढ़ना बाकी है।

युद्ध वर्णन में अतिशयोक्ति और अन्यत्र उपमा, रूपक, उदाहरण और उत्प्रेक्षा की झलक रश्मिरथी के कलात्मक सौन्दर्य को सरसता प्रदान करती है। जैसी भूमिका में स्वयं कवि ने कैफीयत दी है उसे चुप-चाप स्वीकार करना पड़ता है कि—

"कथा-काव्य की रचना आदि से अन्त तक केवल दाहिने हाथ के भरोसे नहीं की जा सकती। जब मन ऊबने लगता है और प्रतिभा आगे बढ़ने से इंकार कर देती है तब हमारा उपेक्षित हाथ हमारी सहायता के लिये आगे बढ़ता है। मगर, बेचारा बाँया हाथ तो बाँया ही ठहरा। वह चमत्कार तो क्या दिखलाये, कवि की कठिनाइयों का कुछ परदा ही खोल देता है।"—

कवि की इस कैफियत की वास्तविकता रश्मिरथी के अभिव्यंजन में स्पष्ट है लेकिन दाँये हाथ का पलड़ा भी बहुत भारी रहा है। रश्मिरथी पर इस विषय में मुक्त होकर पूरा ग्रंथ लिखा जा सकता है लेकिन लेख के सीमित दायरे के कारण वह यहाँ सम्भव नहीं है। रश्मिरथी में सात सर्ग हैं।

यहाँ कुछ उदाहरण सहित रश्मिरथी के सन्देश और काव्य सौष्ठव पर भी कुछ कहना अनिवार्य सा लगता है। रश्मिरथी का अधिकांश कथ्य कविवर दिनकर जी के विशुद्ध सामाजिक और मानवीय भाव-विचार तथा चिंतन-दर्शन से सम्बद्ध है। एकमात्र कर्ण ही कवि के इस सब कथ्य के अभिव्यंजन का प्रतीक है। असल में उसे रूपक मानकर स्वतः कवि ने अपने क्रांतिदर्शी अहम् को शब्द-बद्ध किया है। सामाजिक

और मानवीय दृष्टि से रश्मिरथी की सबसे पहली और प्रधान समस्या है जाति-पांति विषयक अवांछित प्रतिष्ठा की अवहेलना और व्यक्ति के उज्ज्वल गुण, शौर्य और महाव्रत की मुक्त प्रशंसा। मानव-जाति का सबसे बड़ा कलंक, जिसने उसे सदा अविवेक, अन्धविश्वास, अहंकार, विद्वेष और कटुता के खड्ड में धकेला है, वह है जाति-भेद। कर्ण अपने सम्पूर्ण पुरुषार्थ से एक साथ उसके प्रति विद्रोह ठान लेता है। इधर पाण्डव उच्च कुल वर्गीय दल में है। अर्जुन उनका मनोनीत (Nominated) प्रतिनिधि है। बस, कर्ण और अर्जुन का द्वंद्व उच्च और साधारण का भीषण द्वंद्व है। एक उच्च अपनी अहंमन्यता में है दूसरा साधारण अपनी मानवीयता और गुण-सम्पन्नता में है। रश्मिरथी के सदेश साधारण वर्ग-व्यक्ति के पक्ष में गुंजायमान है। कृष्ण अवांछित राजनीति-कर्म के प्रतीक हैं। प्रथम सर्ग में ही कर्ण अपने प्रचंड पौरुष का विश्वास लेकर जाति-पांति के मिथ्याभिमान को करारी लताड़ देता है—

"मूल जानना बड़ा कठिन है नदियों का, वीरों का,
धनुष छोड़कर और गोत्र क्या होता रणधीरों का
पाते हैं सम्मान तपोबल से भूतल पर वीर
जाति-जाति का शोर मचाते केवल कायर क्रूर

उक्त कथन की सिद्धि अंत में कृष्ण की अनीति और अर्जुन की अनी से मारा जाकर भी कर्ण करता है। वह अनीति-अधर्म से धर्मक्षेत्र-कुरुक्षेत्र में हारा जरूर, मगर उसका यह कथन—

"भुवन की जीत मिटती है भुवन में
उसे क्या खोजना गिरकर पतन में।
शरण केवल उजागर कर्म होगा
सहारा अंत में सत्कर्म होगा।"

उसकी सूक्ष्म-शाश्वत विजय कीर्ति और अमरता का अमर संदेश है।

रश्मिरथी में धरणी और मानवीय उच्चतम गुणों की स्थापना इतनी उत्कृष्टता से हुई है कि स्वर्ग और सुरपति भी उसके आगे झुका है। इन्द्र जब विप्र-भिक्षु का छल-वेश धर कर कर्ण से छलपूर्वक कवच-कुण्डल ले लेते हैं तब कर्ण का उनको यह कहना—

"धन्य हमारा सुयश आपको खींच मही पर लाया
स्वर्ग भीख माँगने आज सच ही मिट्टी पर आया।"

सचमुच, धरती और उसके मानवों के गौरव को विराट् बना देता है। उस

समय इन्द्र भी कर्ण को देवत्व से कहीं महिमावान, मानवत्व का प्रतीक मानकर पुकार उठते हैं—

तू पहुँचा है जहाँ कर्ण, देवत्व न जा सकता है,
इस महान पद को कोई, मानव ही पा सकता है।

मानव की इससे बड़ी महत्ता की स्वीकृति कहाँ, क्या और किस के पास होगी ? संक्षेप में, रश्मिरथी मानवीय श्रेष्ठतम गुण-रूपों का एक शुभ-संदेशवाहक प्रबंध काव्य है, जिसमें अहिराज अश्वसेन को मानव के अंतःलोक का शत्रु बतलाकर कवि ने उससे कर्ण को भीषणतम परिस्थिति में भी बचे रहने का अभिनव शिव-हित संदेश दिया है—

रे अश्वसेन, तेरे अनेक
वंशज हैं छिपे नरों में भी।
सीमित वन में ही नहीं बहुत
बसते पुर ग्राम-घरों में भी।
ये नर-भुजंग मानवता का
पथ कठिन बहुत कर देते हैं।
प्रतिबल के बध के लिये नीच
साहाय्य सर्प का लेते हैं।

यथार्थ में आज मानवता का मार्ग इन स्वार्थी, पद-मद मिथ्या प्रशंसित सम्मानित लोगों से अवरोधित है। अहं, अत्याचार, अनीति और अहित के अंतर्मनों में कुण्डल मार कर बैठे इन सर्पों से एक सच्चे धर्मवीर, सत्यवीर और कर्मवीर को बचना होगा, तभी कल्याण है। रश्मिरथी का यह अश्वसेन का प्रसग-स्थल पुरानी परिकथा से ग्रथित होकर भी रूपक या प्रतीक की दृष्टि से वर्तमान मानवीय युग-विकृति और हेय कर्म से बचे रहकर हरेक को धर्म, न्याय और कर्मनिष्ठ बने रहने का संदेश देता है। यह संदेश कविवर दिनकरजी ने बड़े प्रभावशाली माध्यम से दिया है जिसमें रूपक और प्रतीक की सार्थकता अभिव्यंजन का शिखर छू सकी है। यह रश्मिरथी के संदेश-सार का कुछ संकेतमात्र है। वैसे किसी उत्कृष्ट काव्य के संदेश की पूरी शक्ति तो उसे पूरा पढ़कर ही जानी जा सकती है।

काव्य-सौष्ठव की दृष्टि से रश्मिरथी में कुछ स्थल यथेष्ट मनोरम हैं, पर अधिकांश उसमें ओजस्वी हैं। रश्मिरथी के ओजस्वी वर्णन वीरकाव्य की परम्परा के अनुकूल होते हुए भी खड़ी बोली काव्य में अपेक्षाकृत अत्यधिक परुष और सारयुक्त हैं। कर्ण-पार्थ का युद्ध अपने में जहां वीरकालीन काव्य-वर्णन का समकक्षी है वहाँ

उससे अधिक धर्म-जाति-निरपेक्ष वर्तमान भारतीय समाज की स्थापना का व्यक्ति गुणवाचक (कर्ण के वीर-गुण-कर्म के अनुसार) उद्देश्य सार्थक करता है। उद्देश्य की इस सार्थकता के लिये कवि की संयत और सबल वाणी पाठक के हृदय-मस्तिष्क को एक साथ जाग्रत करती है। प्रायः प्रबन्ध काव्य में कला किसी उद्देश्य को साथ लेकर चलती है और तब उसकी अन्यतम महत्ता इसी बात में है कि वह उद्देश्य को शास्त्रमय होने से बचाती रहे और उसे रसमय करती रहे। रश्मिरथी काव्य में निःसंदेह सोद्देश्य कला है। उसमें यथोचित उत्कृष्टता और रसमयता है। हाँ, प्रबंध-काव्य की परम्परा के अनुसार उसमें प्रकृति का सहज वर्णन यदि एक दो स्थलों पर ही सीमित न होकर अन्यत्र भी हो जाता, और होने का अवकाश भी था, तो काव्य में तन्मयता, रमणीयता और आकर्षण कहीं अधिक बढ़ जाता। इस दृष्टि से प्रियप्रवास, साकेत व कामायनी महाकाव्य का आदर्श अतुल मानना पड़ता है। कुल मिलाकर आज के युग-जीवन और व्यक्ति-समाज की भीतरी-बाहरी वृत्ति-स्थिति में क्रांतिकारी और कल्याणकारी परिवर्त्तन लाने के लिए रश्मिरथी प्रबधकाव्य एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण रचना है और उसमें समाजवाद का शुभ और संयत स्वर है।

—: ० :—

'नीलकुसुम' और प्रयोगवाद

श्री बालस्वरूप राही

'नीलकुसुम' तक पहुँच कर दिनकर जी की कविता एक नई करवट लेती है। युगीन परिस्थितियों तथा सामाजिक परिवेश के प्रति अत्यन्त जागरूक कवि जब यह कहता है : 'कविताएँ रचता (तो) कवि अपने आनन्द के लिए है ?' तब इस स्वीकारोक्ति के संकेत बहुत दूर तक जाते हैं। दिनकर जी से विचार-विनिमय के बीच इधर मुझे यह निरन्तर अनुभव होता रहा है कि 'निरुद्देश्य आनंद' के प्रति उनकी आसक्ति दिन-प्रतिदिन बलवत्तर होती जा रही है। दिनकर-काव्य की आनंदवादी धारा का उत्स है 'रसवन्ती', मध्यान्तर 'नीलकुसुम', और परिणति 'उर्वशी'। यद्यपि दिनकर जी को यह आशंका है कि नीलकुसुम की कविताएँ उनकी 'उतार की कविताएँ' मानी जा सकती हैं, किन्तु मेरी धारणा है कि ये कविताएँ वे हैं जिनसे होकर दिनकर जी 'उर्वशी' की रसभूमि तक पहुँच सके हैं। यदि यह लेख लिखने से पूर्व उर्वशी का प्रकाशन न हो चुका होता तो मैं नीलकुसुम को दिनकर-काव्य की श्रेष्ठतम उपलब्धि मानने में किसी भी संकोच का अनुभव नहीं करता।

तो क्या यह नई करवट उनके प्रयोगवादी हो जाने की सूचना है ?—जैसा कि उन्होंने स्वयं घोषित किया है कि 'मैं प्रयोगवाद का अगुआ नहीं, पिछलगुआ कवि हूँ'। नीलकुसुम की कविताएँ ध्यान से पढ़ जाने पर इस संभावना (या शायद आशंका) का निराकरण हो जाता है। जिन सूत्रों के आधार पर मैं यह मान्यता व्यक्त कर रहा हूँ, वे ये हैं : १. पाठक के प्रति दिनकर जी का रवैया प्रयोगवादी कवियों से भिन्न है। प्रयोगवादी कवि यह मानकर चलता है कि जिस नई संवेदना का वाहक वह है, वह हिन्दी के सामान्य पाठक को छू तक नहीं गई है। पाठक के प्रति प्रयोगवादी कवि का दृष्टिकोण अस्पृश्यता का है। उसकी दृष्टि में योग्य पाठक की पहचान उसकी रसज्ञता अथवा सहृदयता नहीं वरन् उसकी विद्वत्ता (या यों कहना चाहिए कि एज़रा पाउंड, कामू, लॉरेंस आदि की रचनाओं का अधकचरा ज्ञान) है। जबकि पाठक के गुण बताते हुए दिनकर जी कहते हैं—

कला के पारखी हो, चाँदनी के चाहने वाले ?
हवा की साँस में जो दर्द है, उसको समझते हो ?

बिताई है कभी क्या पूर्णिमा की रात खेतों में ?
खड़ी हरियालियों को देखते, बोले बिना कुछ भी ?

× × ×

रखा है याद सौ में एक कोई गीत वह चुनकर
कि जिस में रूपसी कोई सरोवर में नहाती हो,…

(स्वप्न और सत्य)

यह और बात है कि इसी कविता में अंत तक पहुँचते-पहुँचते वह उसे कल्पना के इन्द्रधनुषी लोक से उतरकर यथार्थ की कठोर धरती पर आने के लिए ललकारने लगते हैं। किन्तु, उससे यह नहीं पूछते कि ऐ मिस्टर, तुम मेरी कविताएँ क्यों पढ़ रहे हो ? क्या तुम 'एन काउन्टर' नियम से पढ़ते हो ?

२. 'नीलकुसुम' को प्रयोगवादी कृति मैं इसलिए भी नहीं मानना चाहूँगा, क्योंकि इसमें संकलित कविताओं के विषय 'अपरिचित, अप्रत्याशित, और अनपेक्षित' नहीं हैं। 'हिमालय का संदेश', 'राष्ट्र देवता का विसर्जन', 'अर्द्धनारीश्वर' : इनमें से अप्रत्याशित विषय कौनसा है ? इनपर हिन्दी के अनेक पूर्ववर्ती कवियों ने कविताएँ लिखी हैं। जहाँ तक अर्थ-ग्रहण के भेद का प्रश्न है वह तो दो कवियों की रचनाओं में रहेगा ही (जैसा कि उन्होंने स्वयं माना है, प्रत्येक कवि प्रत्येक दूसरे कवि से भिन्न होता है)। इसी के साथ नव्यता के प्रति आग्रह का प्रश्न जुड़ा है। क्या नीलकुसुम का कवि प्रयोगवादियों के समान ही नव्यता के प्रति आग्रही है ? इसका उत्तर मैं स्वयं न देकर निम्न पंक्तियाँ उद्धृत करना चाहूँगा—

नई बात क्या कहें, नया हमने क्या पाया ?
उलट-पुलट कर शब्द, खेल जितने दिखलावें ;
किन्तु बात है यही कि जल ठण्डा होता है,
और आग पर चढ़ा उसे जितना खौलाओ,
किन्तु आग उस पानी से भी बुझ जाती है।

(भावी पीढ़ी)

३. 'नीलकुसुम' का जीवन-दर्शन और उसका मूलस्वर प्रयोगवादी रचनाओं से नितान्त भिन्न है। प्रयोगवादी कविता मूलतः प्रश्नचिह्नों की कविता है, संदेह और आशंका की कविता है। किन्तु क्या नीलकुसुम की रचनाओं का मूलस्वर प्रश्न है ? इस प्रश्न का उत्तर निम्न पंक्तियों से पूछिए—

जिज्ञासा का धुआँ उठा जो मनु के सिर से
सबके माथे से वह उठता ही आया है।
घटी-बढ़ी पर नहीं तनिक नीलिमा गगन की,
और न बरसा समाधान कोई अंबर से।
प्रेम है केवल सार, काम करना अच्छा है
चिंता है दुःखभार, सोचना पागलपन है।

पियो सोम या चाय, नाम में जो अंतर हो,
मगर, स्वाद का हाल वही, खट्टा मीठा है।

और बहुत से तर्क ऐसे हैं जिनके आधार पर यह सिद्ध किया जा सकता है कि नीलकुसुम को प्रयोगवादी काव्यसंकलनों की भीड़ में खड़ा नहीं किया जा सकता। किन्तु, विस्तार में न जाकर मैं केवल इतना ही निवेदन करना चाहूँगा कि नीलकुसुम का रंग भले ही पूर्ववर्ती कविताओं से कुछ भिन्न हो किन्तु उसमें परंपरा की सुरभि का कोई अभाव नहीं है। यह सही है कि प्रयोगवादी कवि भी नीलकुसुम के कवि की भाँति काव्य में विशुद्धता अथवा विशुद्ध काव्य की खोज कर रहे हैं, किन्तु उनकी पद्धतियाँ भिन्न हैं। यदि दिनकर जी भी प्रयोगवादियों के मार्ग का अनुसरण कर रहे होते तो वह स्वर्ग की अप्सरा उर्वशी तक न पहुँच कर किसी नाइटक्लब की 'कैब्रे डांसर' तक पहुंचे होते क्योंकि स्पष्ट है कि वह उर्वशी की अपेक्षा कहीं अधिक मॉडर्न होती।

यद्यपि मैं यह मान रहा हूँ कि नीलकुसुम प्रयोगवादी कविता की नहीं, परम्परावादी कविता की ही उपलब्धि है, तथापि इसका यह अर्थ नहीं है कि मैं इसके व्यक्तित्व की विशिष्टता के प्रति आश्वस्त नहीं हूँ। मेरा निवेदन केवल इतना है कि इसकी ताजगी 'शॉक-ट्रीटमेंट' वादी होने में नहीं वरन् सहजता और आयासहीनता में है, गीतों के निषेध में नहीं, लम्बी कविताओं में गीतितत्व के प्रयोग में है। लघुमानव के उदय-ज्ञापन में नहीं, मानव की महत्ता के निरूपण में है। नीलकुसुम दुरूह नहीं, संकेतात्मक है। न तो इसमें कहीं संजीदगी को मुँह चिढ़ाया गया है, न मानव-मूल्यों के विघटन पर छाती पीटी गई है। यह एक आशावान्, स्वस्थ अकुंठित मानव की वर्तमान अराजकता के नाम एक खुली चुनौती है। नीलकुसुम युग के अंधकार में बजाती हुई 'आशा की वंशी' है जिसके ये स्वर यहाँ लिपि बद्ध करने का मोह मैं संवरण नहीं कर पा रहा हूँ :

लिख रहे गीत इस अंधकार में भी तुम,
रवि से काले बरछे जब बरस रहे हैं,
सरिताएँ जमकर बर्फ हुई जाती हैं,
जब बहुत लोग पानी को तरस रहे हैं।
इन गीतों यह तिमिर जाल टूटेगा ?
यह जमी हुई सरिता फिर धार धरेगी ?
बरसेगा शीतल मेघ ? लोग भीगेंगे ?
यह भरी हुई हरियाली नहीं मरेगी ?
× × × ×
तो लिखो, और मुझमें भी जो आशा है,
उसको अपने गीतों में कहीं सजा दो !
ज्योतियाँ अभी इसके भीतर बाकी हैं,
लो, अंधकार में यह बाँसुरी बजा दो !

प्रौढ़ किन्तु सुकुमार रचना : उर्वशी

आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी

'उर्वशी' दिनकरजी का नया काव्य है। इसमें उर्वशी और पुरूरवा की प्रसिद्ध कहानी छन्दोबद्ध नाटक की शैली में लिखी गई है। यद्यपि यह १६८ पृष्ठों में फैला हुआ विस्तीर्ण वपु काव्य है और प्रबन्धकाव्य जैसा दिखाई देता है पर इसका मूल प्रतिपादन गीति काव्यात्मक है, बहुत कुछ ताजमहल की भांति—गठन में महा-काव्यात्मक परन्तु मूलतः गीतिकाव्य के प्राणस्वरूप सुकुमार भावों पर आश्रित। कवि ने इसे पाँच अंकों में विभाजन करके नाटकीय रूप देने का प्रयत्न किया है पर तनिक विचार करने पर ही इसका रूपकीय आवरण हट जाता है। प्रथम अंक में बाकायदा सूत्रधार और नटी की योजना है, फिर मेनका, चित्रलेखा, रंभा, सहजन्या आदि अप्सराएँ आती हैं और उर्वशी और पुरूरवा के प्रेमोदय की सूचना देकर चली जाती हैं। यह अंक सूच्यांश मात्र है और अधिक-से-अधिक विष्कम्भ की मर्यादा का अधिकारी है। पर यह 'अंक' नामक दृश्यांश विरहित सर्ग काव्य की दृष्टि से बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। इसी में कल्पनालोक और मूर्त-जगत के तत्त्ववाद को कवि शक्तिशाली अभिव्यक्ति देता है। नाटकीयता इसमें है अवश्य, क्योंकि कवि प्रत्यक्ष रूप से कहीं नहीं बोलता। अपने अन्तर्जगत के तत्त्व-चिन्तन को पर्दे के पीछे बैठा हुआ निरपेक्ष की भाँति रूपायित करता है। वस्तुतः यहीं कवि के समाधि-लीन चिन्तन का यह तत्त्ववाद दाना बांधने लगता है कि रूप मोहक तो है पर प्रधान तत्त्व नहीं है। प्रधान तत्त्व है, असीम गति, जो यतियों—विरामबिन्दुओं—के आकर्षण-अवकर्षण से तरंगायित हो-होकर रूप के रूप में, छन्द के रूप में, गीत के रूप में (या एक शब्द में कहें तो इन्द्रियग्राह्य सौन्दर्य के रूप में) अभिव्यक्त हो रहा है। सौन्दर्य वस्तुतः छन्द की माया है। छन्द ही मुख्य है और छन्द ही वस्तुतः असीम गति है, पिण्ड में इच्छा-रूप में उद्भासित और ब्रह्माण्ड में काल और कल्प रूप में अनुभूत। छन्द ही मुख्य है, रूप उसी का परिणाम है—

"पद-निक्षेपों में बल खाती है भंगिमा लहर की,
सजल कण्ठ से गीत, हँसी से फूल झरे जाते हैं।"

दूसरा अंक भी बहुत कुछ सूच्यांश ही है। दिनकर गति के कवि हैं, यति में उन्हें आयास करना पड़ता है। वे प्रश्न उठाने में जितने सफल हैं उतना उत्तर जुटाने में नहीं। प्रचण्ड वेग, दुर्वारझंझा प्रश्न हैं, शाश्वत समाधान उत्तर है। दिनकर ब्रह्माण्ड व्यापी प्रचण्ड गति को पहचानते हैं, पिण्ड में उठने वाली रक्त की उत्तप्त लहरों का संघात जानते हैं। वह मूलतः वेग के कवि हैं। वेग ही ब्रह्माण्ड में असीम गति है, समष्टि चित्त में निरन्तर बर्द्धनोन्मुखी रूप-तृषा है और व्यष्टि चित्त में कामना है। दूसरे अंक में विराट वेग की निर्मम प्रतिक्रिया की विवश-व्याकुल वेदना उमड़ी है औशीनरी को आश्रय करके। पुरूरवा वह पुरुष है जो समष्टि चित्त की उद्दाम चेतना—उर्वशी—के आकर्षण में उलझा है। औशीनरी वह नारी है जो इस उद्दाम गति की प्रतिक्रिया रूप में उठने वाली दया-माया हीन प्रतिक्रियात्मक तरंगों की शिकार है। एक प्रवाह में विवश भाव से बह रहा है, दूसरी कूलद्रुम की भांति विकीर्ण लहरों की चपेट में आ गई है। विचित्र वेगवती भाषा में कवि ने इस विवश अवस्था को मूर्त्त रूप दिया है। उर्वशी नाद का प्रतिनिधित्व करती है, पुरूरवा क्रिया का और औशीनरी प्रतिक्रिया का। यद्यपि यह प्रतिक्रिया कवि की समाहित चित्त की कल्पना नहीं है, इसलिए मुख्य भी नहीं है, तथापि इसके बिना काव्य असामाजिक बन जाता। कवि का अभिप्रेत विषय उर्वशी है—उद्दाम मानसवेग! पुरूरवा, सीमाबद्ध जीव है जो इस उद्दाम मानसवेग का शिकार है। उसमें कहीं-न-कहीं एक स्थिर शाश्वत असीम तत्त्व छिपा हुआ है जो उसे व्याकुल तो बना देता है, पर हार नहीं मानने देता। तीसरे अंक में सीमा और असीम के इस द्वन्द्व का बड़ा ही वेगवान रूप प्रकट हुआ है। काव्य का यही मुख्य विषय है। भाषा का प्रवाह और छन्द का अपार वेग विषय की उद्दाम चंचल वेगवती धारा के साथ ताल मिलाकर चलते रहते हैं। पुरूरवा प्रवाह की चपेट में आकर जब किनारा पा जाता है तो उसमें का असीम तत्त्व जो कहीं प्रच्छन्न भाव से विद्यमान है उसे चंचल बना देता है। न जाने कहाँ से पुकार सुनाई देती है—यहाँ नहीं, कहीं और कुछ और! नियति-प्रवाह में बहने वाले को क्यों ऐसा सुनाई देता है, यह केवल अनुमान का विषय है। कवि निर्लिप्त भाव से उस व्याकुल पिपासा की ओर इंगित करके आगे बढ़ जाता है कि यह पिपासा अपने आप में असीम है, अतर्पणीय। 'उर्वशी' का यह तृतीय अंक स्वर्ग और मर्त्य, कल्पलोक और वास्तविकता, वेग और विराम के द्वन्द्व का अद्भुत गान है। एक-एक बार पुरूरवा इस मर्त्यलोक के आकर्षण से खिंचे हुए कन्दुक की भांति ठोस धरती पर गिरता है और फिर ठोस धरती की चोट खाकर आकाश में दौड़ता है—

"मृत्ति महदाकाश में ठहरे कहां पर? शून्य है सब।
और नीचे भी नहीं सन्तोष,

मिट्टी के हृदय से
दूर होता ही कभी अम्बर नहीं है।"

पुरूरवा असीम की कामना में भटकता हुआ बद्ध जीव है, और उर्वशी ?

"कामना-वह्नि की शिखा मुक्त मैं अनवरुद्ध,
मैं अप्रतिहत, मैं दुर्निवार ;
मैं सदा घूमती फिरती हूँ
पवनान्दोलित वारिद-तरंग पर समासीन
नीहार-आवरण में अम्बर के आर-पार ;
उड़ते मेघों को दौड़ बाहुओं में भरती,
स्वप्नों की प्रतिमाओं का आलिंगन करती।"

तृतीय अंक कवि के समाधिस्थ चित्त की देन है। छन्द उमड़-घुमड़कर रूप दर्षण का निमित्त बनता है, भाषा मुग्ध सेविका की भांति इंगित पर दौड़ती रहती है, कल्पना अनायास विगलित निर्झरिणी की भाँति रूप और छन्द को व्यंजित करती रहती है और उल्लास मुखर कवि पर्दे के पीछे बैठा हुआ सूत्रधार की भाँति पुतलियों को नचाता रहता है। कवि के मनोजगत् के अत्यन्त निभृत कक्ष में बैठे हुए विचार स्वयमेव ऊपर आते जाते हैं। 'उर्वशी' का तृतीय अंक कवि के प्राणों को भेदकर उसका समग्र रस आत्मसात् करके निकली हुई काव्य-लता का सर्वाधिक कमनीय कुसुम है—रंगीन, मादक, शामक !

'उर्वशी' के कवि के चित्त में प्रश्न अधिक उठते हैं। क्या है जो मनुष्य के सोचने-समझने की प्रक्रिया को एकदम ढक देता है और वह अपनी विद्यमान परिस्थितियों से ऊबकर दूसरी दिशा में धावमान होता है ? पुरूरवा के माध्यम से मनुष्य की इस विवश व्याकुलता को कवि बार-बार प्रत्यक्ष कराता है। वह कल्पना का ऐसा मोहक जाल फैलाता है कि भावों के संमूर्तित रूप अनायास आंखों के सामने उतरते जाते हैं। पाठक इस धारा में बहता रहता है। क्या यह किसी बाहरी शक्ति का दुर्वार आक्रमण या अपने ही भीतर छिपी हुई किसी अदृश्य शक्ति का कुहक है—

"गीत आता है मही से ?
या कि मेरे ही रुधिर का राग
यह उठता गगन में ?"

जिसे पाने के लिए वह व्याकुल है, उसे पाने पर भी उसे शान्ति नहीं मिलती। कुछ और के लिए वह व्याकुल हो उठता है। न वह आकाश में विचरण कर पाता है, न धरती पर शान्ति मिलती है उसे—

"फिर किसी का स्पर्श पाने को तृषा चीत्कार करती।

मैं न रुक पाता कहीं,
फिर लौट आता हूँ पिपासित
शून्य से साकार सुषमा के भुवन में"

मर्त्यमानव शून्य में नहीं टिक पाता। वह देवता नहीं है—

"देवताओं की नदी में ताप की लहरें न उठतीं,
किन्तु, नर के रक्त में ज्वालामुखी हुंकारता है,
घूर्णियाँ चिनगारियों की नाचती हैं,
नाचते उड़कर दहन के खण्ड पत्तों-से हवा में,
मानवों का मन गले-पिघले अनल की धार है!"

घुमड़ते हुए प्रश्न और उड़ते हुए समाधान—यही इस अंक की विशेषता है। प्रश्न प्रबल हैं, उत्तर काम चलाऊ। प्रश्न मनुष्य है, उत्तर देवता। 'उर्वशी' में कई बार कवि प्रश्न उठाने के बाद ही उपसंहार करता है कि इसका उत्तर नहीं है—

"वह्नि का बेचैन यह रसकोष, बोलो, कौन लेगा?
आग के बदले मुझे सन्तोष, बोलो, कौन देगा?"

किन्तु

"फिर दिशाएँ मौन, फिर उत्तर नहीं है।"

प्रश्न निरन्तर धावमान प्रचण्ड वेग है, उत्तर शामक विश्राम। दिनकर प्रचण्ड वेग के कवि हैं। तीसरा अंक ही 'उर्वशी' काव्य का आत्मा है। चौथा और पाँचवा अंक इस प्रचण्ड वेग से उखड़े तीरद्रुमों और लहलहाए शस्य क्षेत्रों की कहानी है। तीसरे अंक का प्रवाह सब प्रकार से विचित्र है। यह कवि की विराट कल्पना शक्ति, आश्चर्यजनक संमूर्तन-कौशल और समाहित चित्त की समृद्धि का प्रमाण है।

'उर्वशी' की कहानी बहुत पुरानी है, ऋग्वेद से लेकर कालिदास और रवीन्द्रनाथ ठाकुर तक ने अपने-अपने ढंग से इसे कहा है पर दिनकरजी की इस नई रचना में वह बिलकुल नए स्वर में सुनाई पड़ती है। दिनकरजी रूप और गति के कवि हैं। कोई अदृश्य नीरव प्रवाह है जो अपने विचित्र वेग से नए-नए रूपों और रंगों में प्रकट हो रहा है, उसके ताल-ताल पर 'सुन्दर' की सृष्टि होती है किन्तु अपने आप में वह छन्द है, गति है, मानस उल्लास है—'उर्वशी' पढ़नेवाले के मन में ऐसा भाव पैदा होता है। ऐसा जान पड़ता है कि दिनकरजी ने उस विश्वव्यापी छन्द का संधान पा लिया है। 'उर्वशी' की कविता में इस मूल छन्द के इशारे पर रूप और रंग स्वयमेव उपस्थित होते जाते हैं। 'उर्वशी' नामक पात्र स्वयं उस मानस-कल्पना या अदृश्य गति का प्रतीक बन गया है। कवि को सिर्फ यति खोजने

में आयास करना पड़ता है। यह आयास ही उसकी रूप-रचना का हेतु बनता है। ऐसा लगता है मानो कोई एक ही दिशा में धावमान प्रवाह बार-बार किसी विराम-मूलक स्थिर सत्ता के आकर्षण-अवकर्षण की तरंग में रुक-रुककर नए-नए रूपों में तरंगायित हो रहा है। विराट में व्याप्त यह छन्दोमयी गति इंद्रियग्राह्य रूपों में बिखरती जा रही है। जो ब्रह्माण्ड में है वही पिण्ड में भी धावमान है। मानव शरीर में रक्त की निरन्तर प्रवहमान लहर उसी छन्दोमयी गति का प्रतिनिधित्व करती है। सारी रंगीन मानसमूर्तियां इसी प्रवाह की उपज हैं—

"पर शोणित दौड़ता जिधर को, उस अभिप्रेत दिशा में,
निश्चय ही, कोई प्रसून यौवनोत्फुल्ल सौरभ से
विकल-व्यग्र मधुकर को रस-आमंत्रण भेज रहा है।
या वासकसज्जा कोई फूलों के कुंज-भवन में
पथ जोहती हुई, संकेतस्थल सूचित करने को
खड़ी समुत्सुक पद्मरागमणि-नूपुर बजा रही है।
या कोई रूपसी उन्मना बैठी जाग रही है
प्रणय-सेज पर, क्षितिज-पास विद्रुम की अरुणाई में
सिर की ओर चन्द्रमय मंगल-निद्राकलश सजा कर।"

ब्रह्माण्ड-व्यापी इस गति का आगम शास्त्रीय नाम 'इच्छा' है, यही 'नाद' है। संगीत भी यही है और छन्द के रूप में भी यही व्यक्त होता है। कहते हैं, सृष्टि से पूर्व ब्रह्मा के मन में इच्छा हुई थी कि मैं एक हूँ, अनेक होऊँ। ब्रह्मा की यह इच्छा ही 'काम' है, अनन्त है उसकी गति। बिंदु या स्थिति के आकर्षण से यह कामना छन्द बनती है, जहाँ तक आकाश है वहां तक यह कल्पना है, वहाँ तक छन्द भी है। आगमों में कहा गया है—'यावदाकाशं कल्पस्तावच्छन्दः प्रवर्तते'। समष्टि व्याप्त यह छन्दोधारा व्यक्ति में भी है। कामना या इच्छा का विलास ही गति है। वह आकाश में दौड़ती रहती है। कहाँ, किस गन्तव्य की ओर? कुछ पता नहीं है। कालिदास ने कहा था 'मनोरथानामगतिर्न विद्यते'। निरन्तर दौड़ती हुई इस कामना का हिसाब बताना कठिन है। समष्टि में व्याप्त ब्रह्म की इस इच्छा को 'कल्प' कहते हैं। पर ब्रह्म ने 'कल्प' या विराट चित्त की इस कल्पना में जो काल के रूप में प्रतीत हो रही है सर्वश्रेष्ठ वस्तुओं की रचना कर दी थी। 'सृष्टि' में सब ठीक-ठीक नहीं आ पाई हैं। सृष्टि सीमा है, कल्प असीम है। पुराणों में विविध कल्पों और सृष्टियों की बातें बताई गई हैं। कल्प विराट मानस की कल्पना है, सृष्टि उसकी वास्तव जगत में अभिव्यक्ति है। सब नहीं आ पाता; सीमा के चक्कर में सब अँट नहीं पाता। कुछ बाँकी रह जाता है, मिला, मिला नहीं मिला! कल्प 'आइडिया' है, सृष्टि

'रियैलिटी' है। सृष्टि सीमा की विवशता है, वह बार-बार कहती है, इतना ही नहीं है, और भी कुछ है जो इस सांचे में अँट नहीं सका है, इससे भी आगे देखो। यही विवशता सीमा के लौह पाशों में कसे बद्ध चित्त की असीम को पाने की व्याकुल वेदना 'उर्वशी' के कवि को मुखर बनाती है। हज़ार प्रश्न उठते हैं और विक्षुब्ध महोदधि की पाशबद्ध लहरों के समान बेला पर पछाड़ खा-खाकर लौट जाते हैं—

"रक्त की उत्तप्त लहरों की परिधि के पार
कोई सत्य हो तो,
चाहता हूं, भेद उसका जान लूँ।
पथ हो सौन्दर्य की आराधना का व्योम में यदि
शून्य की उस रेख को पहचान लूँ।"

पर जहाँ तक भी उड़ूं, इस प्रश्न का उत्तर नहीं है। बार-बार कवि के अवचेतन में बैठी हुई विराट रागिणी ही इन प्रश्नों के उत्तर में सामने आ जाती है। प्राणों की अबाध धारा ही इसका उत्तर है, रूप और रंग, शब्द और छन्द सब उसके इंगित पर ही डोल रहे हैं—

"निशा शान्ति का क्रोड़ ; किन्तु, इस सुरभित स्फटिक-भवन में,
तब भी, कोई गीत ज्योति से मिला हुआ चलता है।
यह क्या है ? कौमुदी या कि तारे गुनगुन गाते हैं ?
दृश्य श्रव्य बन कर अथवा श्रुतियों में समा रहा है ?
बजती है रागिनी मुक्त सुन्दरता की सांसों की ?
या अपूर्व कविता चिर-विस्मृत किसी पुरातन कवि की
गूंज रही निस्तब्ध निशा में निकल काल-गह्वर से ?
यह अगाध सुषमा, अनन्तता की प्रशान्त धारा में
लगता है, निश्चेत कहीं हम बहे चले जाते हैं।"

कल्पारम्भ में अनेक काम्य वस्तुओं की भांति 'उर्वशी' की भी उत्पत्ति हुई थी। ऐसा कहा गया है कि व्यक्ति में जो 'मन' है वह समष्टि चित्त का ही व्यष्टिगत रूप है। किसी दिन हिरण्यगर्भ नारायण जो समष्टि चित्त के अधिदेवता माने गए हैं, समाधि में लीन थे। उन्हीं के समाहित चित्त से मनोजन्मा देवता की भांति इस मनोजन्मा नारी की उत्पत्ति हुई थी। अर्थात् उर्वशी समष्टि चित्त की उपज है। व्यष्टि चित्त में वह बराबर उत्पन्न होती रहती है—

"मैं नाम-गोत्र से रहित पुष्प,
अम्बर में उड़ती हुई मुक्त आनन्द-शिखा

इतिवृत्तहीन,
सौन्दर्य चेतना की तरंग ;
सुर-नर-किन्नर-गंधर्व नहीं
प्रिय ! मैं केवल अप्सरा
विश्वनर के अतृप्त इच्छा-सागर से समुद्भूत ।
कामना-तरंगों से अधीर
जब विश्वपुरुष का हृदय-सिन्धु
आलोड़ित, क्षुभित, मथित होकर,
अपनी समस्त बड़वाग्नि
कंठ में भर कर मुझे बुलाता है,
तब मैं अपूर्वयौवना
पुरुष के निभृत प्राणतल से उठ कर
प्रसरित करती निर्वसन, शुभ्र हेमाभ कान्ति
कल्पना-लोक से उतर भूमि पर आती हूँ,
विजयिनी विश्वनर को अपने उत्तुंग वक्ष
पर सुला अमित कल्पों के अश्रु सुखाती हूँ ।
जन-जन के मन की मधुर वह्नि, प्रत्येक हृदय की उजियाली
नारी की मैं कल्पना चरम नर के मन में बसने वाली ।"

कल्पना-लोक की इसी उपज को दिनकर ने अपने काव्य में साकार बनाने का प्रयास किया है । प्रतिपादन बहुत ही सुकुमार है । शब्दों और अर्थों की सीमा में बँध नहीं पाता । कवि ने छन्दों के पख बाँधकर पाठक को उस लोक में ले जाने का प्रयास किया है जहाँ पहुँचना कठिन है ।

दिनकर संमूर्तन कला में बहुत दक्ष हैं । 'उर्वशी' काव्य में विचारों की लहरें उठती रहती हैं । एक-पर-एक सूक्ष्म विचार आते रहते हैं, पर पाठक को अरूप चिन्तन का बोझ नहीं सहना पड़ता । चित्रों का दृष्टिग्राह्य मनोरम रूप उसे ऊबने नहीं देता । अप्सराएँ उतर रही हैं, कवि इस बात को गोचर बनाने के लिए उपमानों की शृंखला खड़ी कर देता है—

"अम्बर से ये कौन कनक-प्रतिमाएँ उतर रही हैं ?
उड़ी आ रहीं छूट कुसुम-वल्लियाँ कल्प-कानन से ?
या देवों की वीणा की रागिनियाँ भटक गई हैं ?
उतर रही हैं ये नूतन पंक्तियाँ किसी कविता की
नई अर्चियों-सी समाधि के झिलमिल अंधियाले में ?

या वसंत के सपनों की तस्वीरें घूम रही हैं
तारों-भरे गगन में फूलों-भरी धरा के भ्रम से ?"

उर्वशी समष्टि-मानव के चित्त की सुकुमार सौन्दर्य कामना है, पर कविता में वह एकदम अरूप चिन्तना नहीं है, बल्कि मनोग्राह्य मूर्त रूप में प्रकट हुई है—

"मैं कला-चेतना का मधुमय, प्रच्छन्न स्रोत,
रेखाओं में अंकित कर अंगों के उभार,
भंगिमा, तरंगित वतुंलता, वीचियाँ, लहर
तन की प्रकान्ति रगों में लिए उतरती हूँ।
पाषाणों के अनगढ़ अंगों को काट-छाँट
मैं ही निविड़स्तननता, मुष्टिमध्यमा,
मदिरलोचना, कामलुलिता नारी
प्रस्तरावरण कर भंग
तोड़ तम को उन्मत्त उभरती हूँ।"

सौन्दर्य चेतना की प्रक्रिया को इस प्रकार कवि ने दृग्ग्राह्य और मनोग्राह्य बनाकर प्रस्तुत किया। समूचे काव्य में मनोरम चित्रों की बड़ी ही योजना है। मूर्त रूप में विचार उतरते आते हैं और पाठक अनायास भाव-जगत का साकार सौंदर्य देखता है। तृतीय अंक में रूपगर्विता नारी के रूप में ही उर्वशी उपस्थित होती है और छन्द के उद्दाम वेग से निकले हुए आवर्तों और घूर्णियों से अनायास उत्पन्न तरंगों से उसकी शोभा रूपायित होती है। कवि को इसकी प्रेरणा ऋग्वेद की इस उक्ति से मिली है—'पुरूरवः पुनरस्तं परेहि दुरापना वात इवाहमस्मि'—'पुरूरवा, तुम लौट जाओ, मैं वायु के समान दुष्प्राप्य हूँ।'

किन्तु उर्वशी का 'आर्द्रसौहृद' रूप इस अंक में प्रकट नहीं हो सका। कालिदास ने इस पक्ष की उपेक्षा नहीं होने दी। सखियों के लिए वह चिन्तित होती है, प्रिय के लिए उत्कंठित। उसके नयन-पक्ष्म में लज्जा का भार है, बिब्बोक और हेला तरंगित होती है, प्रेम की पीड़ा छलकती है। सखियों को देखने के लिए जब वह व्याकुल थी तो कवि ने राजा के मुख से सखियों और उर्वशी के बीच सरस मैत्री—आर्द्रसौहृद भाव—को इस प्रकार प्रकट कराया है—हे सुन्दरि, सार्थक हैं वे नेत्र जो तुम्हारा दर्शन करने का अवसर पाते हैं। ऐसे सफल नयनों वाले बड़भागी के सामने सिर्फ एक बार भी, संयोग से आ जाओ तो वह भी तुम्हारे बिना व्याकुल हो जाए। फिर जिन सखियों के चित्त में तुम्हारी सरस मैत्री की आर्द्रता है वे बेचैन न हों, यह

कैसे हो सकता है ? इन 'आर्द्रसौहृद' सखियों की व्याकुलता का तो कहना ही क्या है !—

यदृच्छया त्वं सकृदप्यवन्ध्ययोः
पथिस्थिता सुन्दरि यस्य नेत्रयोः ।
त्वया विना सोऽपि समुत्सुको भवेत्
सखीजनस्ते किमुतार्द्रसौहृदः ।

चतुर्थ अंक में जब उर्वशी माता बनती है तब उसके हृदय का वह आर्द्र भाव स्पष्ट होता है । प्रिया रूप में वह प्रचण्ड झंझा है । छूती है, झकझोर देती है पर धराई नहीं देती, पकड़ में नहीं आती । माता रूप में वह सरस स्रोतस्विनी है, रुक नहीं सकती पर गली हुई, झरती हुई । इन दो रूपों के द्वन्द्व में वह व्यष्टि नारी की छाया छू लेती है—

हाय अन्त में, मुझ अभागिनी शापग्रस्त नारी को
न तो प्राणप्रिय पुत्र, न तो प्रियतम मिलने वाले हैं !

लेकिन यह छाया मात्र है । उर्वशी कल्पनारी का पूरा प्रतिनिधित्व नहीं करती ।

'उर्वशी' दिनकर की रचनाओं में सर्वश्रेष्ठ समझी जाएगी । वह कवि के अन्तर्जगत के निगूढ़ चिन्तन के मन्थन से निकला हुआ नवनीत है । न जाने कितना अध्ययन-मनन उसमें मुखर हुआ है । अनेक उपादान आलोचक को दिख जा सकते हैं, अनेक उसकी आँखों से निश्चित रूप से बच जायेंगे क्योंकि वे कवि के रक्त के जीवन्त कण बन गये हैं । कवि के समाहित चित्त में अंकुरित होने के कारण वह विश्लेषण के परे हो गये हैं । दिनकर के समकालीन कवियों में बहुत से ऐसे हैं जिनका विकास रुद्ध हो गया है । उर्वशी के पढ़ने से लगता है कि दिनकर का कवि अब भी जी रहा है और केवल जी नहीं रहा है, उसमें प्राणधारा का वेग बहुत प्रबल है ; जीवन का उल्लास जैसे बाँध तोड़कर बह रहा हो । 'उर्वशी' प्रौढ़, किन्तु सुकुमार, रचना है ।

—: ० :—

अन्तर्मन्थन का काव्य : उर्वशी

डा० नगेन्द्र

आलोचना की प्रक्रिया के मूलत: तीन अंग या सोपान हैं :—

१. प्रभाव-ग्रहण, २. व्याख्यान-विश्लेषण और ३. मूल्यांकन। आज कविता और आलोचना दोनों के क्षेत्र में नये प्रयोग हो रहे हैं और एक ओर जहाँ 'नई कविता' का जोर है, वहाँ दूसरी ओर उसी के वजन पर 'नई आलोचना' भी जोर पकड़ रही है। 'उर्वशी' का प्रकाशन इस साहित्यिक सत्य या अतर्क्य प्रमाण है कि कविता को 'अच्छी' या 'बुरी' कहना जितना आसान है उतना आसान 'नई' या 'पुरानी' कहना नहीं है। इसी तर्क से मेरे लिए आलोचक का कर्तव्य-कर्म और आलोचना की प्रक्रिया आज भी वही है। 'उर्वशी' का, मैं एक सहृदय पाठक की तरह, अशत: कविमुख से सुनकर और अब बाद में स्वयं मनोयोग के साथ पढ़कर, रस ले चुका हूँ और अब इस स्थिति में हूँ कि उसकी आलोचना कर सकूँ।

प्रभाव-ग्रहण

'उर्वशी' के अधिकांश प्रसगों को पढ़ने में मुझे निश्चय ही रस मिला। भाव, कल्पना और विचार से परिपुष्ट 'उर्वशी' की कविता में भावों को आन्दोलित करने, प्रबुद्ध कल्पना के सामने मूर्त-अमूर्त के रमणीय चित्र अंकित करने और विचार को उद्‌बुद्ध करने की अपूर्व क्षमता है। नर-नारी का प्रेम-दर्शन की शब्दावली में काम तथा काव्यशास्त्र की शब्दावली में रति--मानव-जीवन की सबसे प्रबल वृत्ति है और उर्वशी के काव्य का वही आधार-विषय है। काम की अनुभूति के सूक्ष्म-प्रबल, कोमल-कठोर, तरल-प्रगाढ़, मोहक-पीड़क, उद्वेगकर और सुखकर, दाहक और शीतल मृण्मय और चिन्मय अनेक रूपों का 'उर्वशी' में अत्यन्त मनोरम चित्रण है और सबसे अधिक आकर्षक है प्रेम की उस चिर-अतृप्ति का चित्रण, जो भोग से त्याग और त्याग से भोग अथवा रूप से अरूप और अरूप से रूप की ओर भटकती हुई मिलन तथा विरह में समान रूप से व्याप्त रहती है। भाव-संवेदन की यह अनेकरूपता अपने आप में भी कम काम्य नहीं है, किन्तु इससे भी अधिक महत्त्व है उस अन्तर्दर्शन का, जो अवचेतन या अर्धचेतन में घुमड़ने वाले इन अंधे संवेदनों को चेतन मन के आलोक में प्रस्तुत करता है और कदाचित

इससे भी अधिक महत्त्व है कवि की उस प्रख्या का, जो इन अरूप भंङ्गतियों को कल्पना-रमणीय रूप प्रदान करती है। इन सभी प्रसंगों के उदाहरण देना यहाँ संभव नहीं है—केवल तीन उद्धरण देकर मैं अपने मत को पुष्ट करता हूं, जो क्रमशः संवेदन की सूक्ष्मता, तीव्रता और प्रगाढ़ शक्ति को चित्रित करते हैं—

१—(क) देह डूबने चली अतल मन के अकूल सागर में,
किरणें फेंक अरूप रूप को ऊपर खींच रहा है।

(ख) जब भी तन की परिधि पार कर मन के उच्च निलय में
नर-नारी मिलते समाधि-सुख के निश्चेत शिखर पर
तब प्रहर्ष की अति से यों ही प्रकृति कांप उठती है,
और फूल यों ही प्रसन्न होकर हँसने लगते हैं।

२—(क) वह विद्युन्मय स्पर्श तिमिर है पाकर जिसे त्वचा की
नींद टूट जाती, रोमों में दीपक बल उठते हैं?
वह आलिंगन अंधकार है, जिसमें बंध जाने पर
हम प्रकाश के महासिन्धु में उतराने लगते हैं?
और कहोगे तिमिर-शूल उस चुम्बन को भी जिससे
जड़ता की ग्रन्थियाँ निखिल तन-मन की खुल जाती हैं?

(ख) जला जा रहा अर्थ सत्य का सपनों की ज्वाला में,
निराकार में आकारों की पृथ्वी डूब रही है।
यह कैसी माधुरी? कौन स्वर लय में गूंज रहा है
त्वचा-जाल पर, रक्त-शिराओं में, अकूल अंतर में?
ये ऊर्मियाँ! अशब्द नाद! उफ़ री बेबसी गिरा की!
दोगे कोई शब्द? कहूँ क्या कह कर इस महिमा को?

३— उफ री यह माधुरी! और ये अधर विकच फूलों-से!
ये नवीन पाटल के दल आनन पर जब फिरते हैं,
रोम-कूप, जानें, भर जाते किन पीयूष-कणों से!
और सिमटते ही कठोर बाँहों के आलिंगन में,
चटुल एक पर एक उष्ण ऊर्मियाँ तुम्हारे तन की
मुझमें कर संक्रमण प्राण उन्मत्त बना देती हैं।
कुसुमायित पर्वत-समान तब लगी तुम्हारे तन से
मैं पुलकित-विह्वल, प्रसन्न-मूर्च्छित होने लगती हूं।
कितना है आनन्द फेंक देने में स्वयं स्वयं को
पर्वत की आसुरी शक्ति के आकुल आलोड़न में?

इसी प्रकार कई प्रसंग ऐसे हैं, जो काव्य-गुण की दृष्टि से अपूर्व हैं : जैसे प्रथम अंक में दिव्य और मानवीय प्रेम का भेदाभेद, पुरूरवा का अन्तर्द्वन्द्व, गर्भिणी उर्वशी का चित्र, अभिशप्ता उर्वशी की पीड़ा, अंतिम अंक में औशीनरी की विचित्र स्थिति आदि। पुरूरवा के अन्तर्द्वन्द्व में विचारवान पुरुष की कामानुभूति की द्विधा का चित्रण है—सामान्य, जैव स्तर पर कामानुभूति अंधी ऐन्द्रिय तृप्ति है—किन्तु मेधावी पुरुष की सक्रिय मेधा इस एकरस तृप्ति के अखण्ड उपभोग में बाधा पहुँचाती है। मन के अनेक संकल्प-विकल्पों के प्रभाव से रक्तधारा की इस क्रीड़ा में ऐसी विषमता उत्पन्न हो जाती है, जिसके कारण कामानुभूति मधुर और कटु संवेदनों का विचित्र मिश्रण बनकर रह जाती है। मनोविश्लेषणशास्त्र के पास इस द्विधा का अपना भौतिक समाधान है, किन्तु दिनकर आत्मवादी हैं—उनकी चेतना रूप से अरूप, मृण्मय से चिन्मय की ओर जाती है अर्थात् काम के आधिभौतिक आस्वाद और आध्यात्मिक आस्वाद के बीच भटक जाती है। आत्मा की सत्ता में विश्वास करने वाले के लिए यह आध्यात्मिक या चिन्मय आस्वाद एक सहज सत्य है और वह मृण्मय से तुरन्त ही ऊपर उठ कर वहाँ पहुँच जाता है, जैसा कि उपनिषदकाल के ऋषियों या मध्यकाल के सूफ़ी संतों और मधुरोपासक भक्तों के विषय में माना जा सकता है। उस स्थिति में द्विधा मिट जाती है। किन्तु पुरूरवा आज के युग का भारतीय पुरुष है, जो संस्कारवश चिन्मय आस्वाद को न तो सर्वथा अस्वीकार कर मृण्मय आस्वाद के अमिश्र रस का भोग कर सकता है और न अपने पूर्वजों की भाँति मृण्मय अनुभूति का सहज परित्याग कर चिन्मय अनुभूति में लीन हो सकता है। केवल मनोविज्ञान के धरातल पर भी इस द्वंद्व की व्याख्या सम्भव है। आज के बुद्धिजीवी के लिए कामसुख में सर्वथा तल्लीन होना सम्भव नहीं है, क्योंकि उसकी जागरूक बुद्धि और उसके द्वारा निरन्तर शाणित अहँकार आत्मनिलय में बाधक होता है, परन्तु साथ ही काम के प्रति अबाध आसक्ति से भी वह पीड़ित है और उससे भी मुक्ति पाना उसके लिए सम्भव नहीं है। इस प्रकार काम-चेतना की अनुभूति में एक विचित्र वैषम्य उत्पन्न हो जाता है, जो प्रगाढ़ सुख देकर भी शान्ति से वंचित कर देता है। दिनकर ने स्वानुभूति में डूबकर इस अन्तर्द्वन्द्व का गहरा चित्रण किया है और यह चित्रण भाव-संवेदन तथा अभिव्यंजना-कला दोनों की दृष्टि से निश्चय ही अत्यन्त समृद्ध है।

अनुभूति का विचार भी कम रमणीय नहीं होता—परन्तु वह सबके लिए सम्भव नहीं है। भाव का दर्शन सहजानुभूति की, जिसे दिनकर ने सम्बुद्धि कहा है, प्रौढ़ता की अपेक्षा करता है। उर्वशी के कवि की प्रतिभा इस विशिष्ट गुण से समृद्ध है। उसके अनुभूति और चिन्तन-पक्ष, दोनों ही समृद्ध हैं; इसलिए आवेश को विचार

में अर्थात् संवेदनों को प्रत्ययों में और विशेष अनुभव को सामान्य ज्ञान में परिणत करने की कला में वह सिद्धहस्त है—

१— प्रेम मानवी की निधि है, अपनी तो वह क्रीड़ा है।
प्रेम हमारा स्वाद, मानवी की आकुल पीड़ा है॥

२— गलती है हिमशिला, सत्य है, गठन देह की खोकर,
पर, हो जाती वह असीम कितनी पयस्विनी होकर!

३— रूप की आराधना का मार्ग
आलिंगन नहीं तो और क्या है?
स्नेह का सौन्दर्य को उपहार
रस-चुम्बन नहीं तो और क्या है?

४— बुद्धि बहुत करती बखान सागर-तट की सिकता का,
पर, तरंग-चुम्बित सैकत में कितनी कोमलता है,
इसे जानती केवल सिहरित त्वचा नग्न चरणों की।

५— नारी क्रिया नहीं, वह केवल क्षमा, शान्ति, करुणा है।
इसीलिए, इतिहास पहुँचता जभी निकट नारी के,
हो रहता वह अचल या कि फिर कविता बन जाता है।

इस प्रकार के प्रसंगों अथवा सूक्तियों की मार्मिकता का रहस्य यह है कि इनमें विचार अनुभूत होकर या अनुभव-तर्क से पुष्ट होकर सामने आता है। केवल भावना प्रायः तरल होकर बह जाती है और केवल तर्क मस्तिष्क के आकाश में तरंगें पैदा कर विलीन हो जाता है—वह हृदय का स्पर्श नहीं करता। किन्तु जब कल्पना के द्वारा इनका समन्वय हो जाता है तो दोनों का ही विशेष उपकार होता है: भावतर्क से शक्ति और तर्क भाव से रस पाकर रमणीय बन जाते हैं।

'उर्वशी' की बिम्ब-योजना अत्यन्त समृद्ध है। उसमें शब्द, रूप, रस और स्पर्श के छोटे-बड़े अनेक बिम्ब हैं। इन बिम्बों की रेखाएँ कहीं सूक्ष्म-तरल, कहीं तीखी और दृढ़, कहीं विराट एवं सघन हैं—इनके रंग चित्र-विचित्र और भास्वर हैं। समृद्धि और वैचित्र्य में यदि वे पंत के बिम्बों से हीनतर हैं तो आयास में उनसे बढ़कर भी हैं, इसी प्रकार यदि प्रसाद और निराला के बिम्बविधान अपने आयाम के कारण दिनकर के बिम्ब-विधान से भव्यतर हैं तो समृद्धि में दिनकर की बिम्ब-योजना भी उनसे कम नहीं है। छायावादी कवियों की अपेक्षा दिनकर का बिम्बविधान अधिक मूर्त, प्रत्यक्ष और अनुभवगम्य है। उसमें चित्रकला के साथ मूर्तिकला के गुण विद्यमान हैं, —वह वायवी कम और लौकिक अधिक है। नई कविता के बिम्बों का वैविध्य, रूपरेखा की स्पष्टता और दृढ़ता तो इन बिम्बों में है, किन्तु दिनकर की शुद्ध कवि-रुचि

ने उन्हें विद्रूप, बीभत्स, विशृंखल तत्त्वों से सर्वथा मुक्त रखा है। गोचर होने पर भी वे स्थूल नहीं हुए, पुनरावृत्ति-दोष से मुक्त होने पर भी वैचित्र्य के मोह में वे अनगढ़ और भद्दे नहीं बने। वस्तुतः 'उर्वशी' की बिम्ब-योजना अत्यन्त समृद्ध है—विराट और कोमल, उदात्त और मधुर बिम्बों का ऐसा अपूर्व संकलन आधुनिक युग के बहुत कम काव्यों में मिलता है। सम्पूर्ण काव्य ही एक रंगीन चित्रशाला है जिसमें शब्द और अर्थ की व्यंजनाओं से अंकित नखचित्र, रेखाचित्र, रंगचित्र तैलचित्र और विराट भित्ति-चित्र जगमग कर रहे हैं। 'उर्वशी' की विषयवस्तु ऐहिक और मूर्त न होकर सूक्ष्म तथा मनोमय है, इसलिए 'उर्वशी' के कवि को उसे बिम्बित करने में सामान्य से अधिक आयास करना पड़ा है और उसका कौशल एवं सिद्धि उसी अनुपात से अधिक स्तुत्य है।

१—रात्रि के वैभव का एक मूर्त चित्र देखिए—

सम्राज्ञी विभ्राट, कभी जाते इसको देखा है
समारोह-प्रांगण में पहने हुए दुकूल तिमिर का
नक्षत्रों से खचित, कूल-कीलित झालरें विभा की,
गूंथे हुए चिकुर में सुरभित दाम श्वेत फूलों के ?
और सुना है वह अस्फुट मर्मर कौशेय वसन का;
जो उठता मणिमय अलिन्द या नभ के प्राचीरों पर
मुक्ता-भर, लम्बित दुकूल के मन्द-मन्द घर्षण से,
राज्ञी जब गर्वित गति से ज्योतिर्विहार करती है।

२—अब आनन्द के क्षण को मूर्तित करने वाला एक बिम्ब देखिए—

प्रिय ! उस पत्रक को समेट लो जिसमें समय सनातन
क्षण, मुहूर्त, संवत, शताब्दि की बूंदों में अंकित है।
बहने दो निश्चेत शान्ति की इस अकूल धारा में,
देश-काल से परे, छूटकर अपने भी हाथों से।
किस समाधि का शिखर चेतना जिस पर ठहर गई है ?
उड़ता हुआ विशिख अम्बर से स्थिर-समान लगता है।

३—और अन्त में एक अत्यन्त सूक्ष्म बिम्ब का निरीक्षण और कीजिए। अपने ही घर की भयंकर उथल-पुथल को निरीह भाव से देखने वाली औशीनरी कहती है—

जो कुछ हुआ, देख उसको मैं कितनी मौन रही हूँ।
कोलाहल के बीच मूकता की अकम्प रेखा-सी।

बिम्ब-योजना की इस समृद्धि के लिए कल्पना के साथ ही दिनकर की समर्थ भाषा भी कम उत्तरदायी नहीं है। इस शती के चौथे दशक में छायावादी भाषा की असामान्यता के विरुद्ध विद्रोह करते हुए उसको व्यवहार की भाषा के निकट लाने का सफल प्रयत्न जिन कवियों ने किया था, दिनकर और बच्चन उनमें अग्रणी थे। दोनों ने सीधी अर्थव्यक्ति के लिए भाषा को तैयार किया : किन्तु बच्चन की भाषा जहाँ जनभाषा का नैकट्य प्राप्त करने के प्रयास में संस्कृत के अक्षय रत्नकोष से वंचित हो गई, वहाँ दिनकर ने उसका भी भरपूर उपयोग किया। फलतः उसमें छायावाद की लाक्षणिक समृद्धि के साथ-साथ व्यावहारिक भाषा के प्रत्यक्ष प्रभाव का भी यथोचित समावेश हो गया और एक नई शक्ति एवं स्फूर्ति आ गई—

१. पर, सोचो तो, मर्त्य मनुज कितना मधुरस पीता है !
दो दिन ही हो, पर कैसे वह धधक-धधक जीता है !

२. जाने, कितनी बार चन्द्रमा को, बारी बारी से
अमा चुरा ले गई और फिर ज्योत्स्ना ले आई है।

३. पर यह परिरम्भण प्रकाश का मन का रश्मि-रमण है।

४. और वक्ष के कुसुम-कुंज सुरभित विश्राम भवन ये,
जहा मृत्यु के पथिक ठहर कर श्रांति दूर करते हैं।

५. हारी मैं इसलिए कि मेरे व्रीड़ा-विकल दृगों में
खुली धूप की प्रभा, किरण कोलाहल की गड़ती थी।

इन उद्धरणों की भाषा में सौन्दर्य-समृद्धि के साथ एक मोहक ताजगी है जो छायावादोत्तर काव्य-भाषा की काम्य उपलब्धि है। किन्तु जहाँ कवि में व्यवहार की भाषा या जनभाषा का जोश काव्य-रुचि का अतिक्रम कर उमड़ा है वहाँ अभिव्यक्ति नंगी हो गई है—

१. लगता है यह जिसे, उसे फिर नींद नहीं आती है,
दिवस रुदन में, रात आह भरने में कट जाती है।

२. अच्छी है यह भूमि यहाँ बूढ़ी होती है नारी।

३. तूने भी रंभे निर्धिन ! क्या बातें बतलाई हैं।

४. नित्य नई सुन्दरताओं पर मरते ही रहते हैं।

—और, आप ध्यान रखें कि ये उक्तियां कल्पना-विलासिनी अप्सराओं की हैं, ग्रामीणाओं की नहीं।

व्याख्यान-विश्लेषण

'उर्वशी' का मूल प्रतिपाद्य क्या है ? यह प्रश्न स्वभावतः प्रत्येक जागरूक पाठक का ध्यान आकृष्ट करता है। जैसा कि कवि ने अपनी भूमिका में स्पष्ट किया

है, 'उर्वशी' का मूल विषय काम या प्रेम है—यह काव्य दर्शन और मनोविज्ञान के द्वारा जीवन के कामपक्ष की व्याख्या करता है। काम या प्रेम के अनेक रूप हैं। एक उर्वशी का प्रेम है जो शुद्ध ऐन्द्रिय भोग का प्रतीक है—उर्वशी देवलोक से मानवलोक में केवल ऐन्द्रिय सुख के सम्पूर्ण उपभोग के लिए आती है। देवसृष्टि का काम अतीन्द्रिय है जो चेतना भर उत्पन्न करता है किन्तु परितृप्ति की तन्मयता उसमें नहीं है। ऐसा लगता है जैसे उर्वशी के प्रेम के द्वारा कवि ने अपने पूर्ववर्ती छायावादी काव्य के अतीन्द्रिय शृंगार के विरुद्ध प्रतिक्रिया व्यक्त की है। उर्वशी की भावना के चित्रण में कवि पर फ्रायड के मनोविश्लेषणशास्त्र का भी गहरा प्रभाव है—फ्रायड की कामचेतना (लिबिडो) विषयक मौलिक धारणा उर्वशी के स्वरूप-विश्लेषण में स्थान-स्थान पर मुखरित हो उठी है (देखिए पृष्ठ ६०)। काम का दूसरा रूप मिलता है पुरूरवा में। पुरूरवा का प्रेम, जैसा कि मैंने अभी स्पष्ट किया है, सहज मानवीय प्रेम है। मानव-चेतना के आधार-तत्त्व तीन हैं—इन्द्रियाँ, मन और चैतन्य आत्मा। इनमें प्रथम दो सर्वस्वीकृत हैं, तीसरे के विषय में मतभेद है। पुरूरवा का स्रष्टा तीसरे तत्त्व में विश्वास करता है, अतः प्रस्तुत प्रसंग में उसे भी मानकर चलना होगा। आत्मा की सत्ता स्वीकार कर लेने पर इतिहास और पुराण में वर्णित शरीर और आत्मा के चिर द्वन्द्व की समस्या सामने आ जाती है। शरीर का काम विष है और आत्मा का काम अमृत है—उपनिषद के रहस्य-द्रष्टा ने आत्मा के काम का उच्छ्वसित वाणी में उद्‌गीथ किया है—मध्ययुग के मधुरोपासक भक्त ने भी, विरह के प्राधान्य से ही सही, इसका स्तवन किया है और शरीर के काम की गर्हणा। किन्तु मानव-चेतना का सम्पूर्ण इतिहास तो शरीर के काम से उद्वेलित है। फिर सत्य क्या है? दिनकर ने दोनों के समन्वय में इसका अनुसंधान किया है—समन्वय ही नहीं, वे दोनों के तादात्म्य की प्रतिष्ठा करते हैं। पुरूरवा जिस मानवीय काम का प्रतीक है वह ऐन्द्रिय होकर भी आत्मिक है, पार्थिव होकर भी अपार्थिव है—अर्थात् अभिन्नतः मृण्मय और चिन्मय दोनों ही है। काम का तीसरा रूप है औशीनरी का प्रेम जो निर्भोग समर्पण का प्रतीक है, सम्पूर्ण आत्मदान का प्रतीक है। इसमें काम का भोग-पक्ष अनुपस्थित है, केवल दान की ही महिमा है। अतः यह विरह-प्रधान है, इसमें काम की तृप्ति नहीं, उन्नयन है; साहित्य की शब्दावली में यही आदर्श प्रेम (प्लेटोनिक लव) है। सुकन्या के प्रेम में काम का एक और ही रूप मिलता है—यह काम का सफल (फलयुक्त) रूप है, गार्हस्थिक रूप—जिसमें काम का पूर्ण उपभोग तो है, पर वह स्वतन्त्र न होकर धर्म का ही अंग है। काम यहाँ सिद्धि नहीं है, साधन है, वह अपनी सत्ता धर्म को समर्पित कर सफल हो जाता है, अतः वह पूर्ण तृप्त भी है क्योंकि अतृप्ति के लिए उसमें अवकाश नहीं रह जाता।

उर्वशी में काम के ये चार प्रतिनिधि रूप हैं। कवि इनमें से किसको अन्ततः स्वीकार करता है ? अर्थात् काम की इस समस्या का, जो मानव-जीवन की चिरन्तन समस्या है, कवि क्या समाधान प्रस्तुत करता है ? स्वभावतः उर्वशी का अध्येता अंत में यह मांग करता है।

काव्य की नायिका है उर्वशी—उसी से आरम्भ कीजिए (क) उर्वशी दिव्य या अतीन्द्रिय प्रेम से कुण्ठित होकर मानव-प्रेम की पूर्णता का सुख भोगने आती है—वायव्य गगन से रसवती भूमि का आनन्द लेने स्वर्ग छोड़कर पृथ्वी पर आती है। यदि उसके पक्ष को स्वीकार किया जाए तो प्रश्न का उत्तर यह बनता है कि अतीन्द्रिय प्रेम-भावना और कल्पना का प्रेम सर्वथा अपूर्ण है, वह चेतना में एक व्यथाभरी रिक्तता उत्पन्न कर रह जाता है, परितोष नहीं कर पाता—चेतना का परितोष तो उस प्रेम में है जो अपनी पूर्णता में तन-मन की समन्वित तृषा-पूर्ति का पर्याय है। काव्य में उर्वशी की प्रमुखता के आधार पर समस्या का यह एक समाधान माना जा सकता था, परन्तु उर्वशी के प्रेम का अन्त तो चिरवियोग में होता है, अतएव स्पष्टतः ही यह कवि का समाधान नहीं है। काव्य को दुखान्त मानकर यह निष्कर्ष भी निकाला जा सकता था कि उर्वशी का पक्ष पूर्वपक्ष मात्र है, उसका चिरवियोग अन्ततः यह सिद्ध करता है कि ऐन्द्रिय काम पूर्ण या सफल काम नहीं है। किन्तु स्वर्ग में उर्वशी की दारुण व्यथा फिर इसका निषेध कर देती है। (२) पुरूरवा का प्रेम चिर-द्वन्द्वमय मानव-प्रेम है जो अरूप से रूप की ओर और रूप से अरूप की ओर भटकता रहता है। इस द्वन्द्व के कारण मिलन के तन्मय क्षणों में भी पुरूरवा बेचैन है। यह बेचैनी बराबर बनी रहती है और अन्त में पुरूरवा संन्यास ले लेता है। इसका ध्वन्यर्थ यह हो सकता था कि मानव-प्रेम अपने प्रकृत रूप में शांतिकर नहीं हो सकता—जब तक उसमें मृण्मय अंश विद्यमान रहेगा तब तक वैषम्य या उद्वेग बना रहेगा ; सामरस्य की सिद्धि के लिए मृण्मय अंश का संन्यास अनिवार्य है। उपनिषद-काल के ऋषि और मध्ययुग के मधुरोपासक भक्त लौकिक प्रेम को स्वीकार करते हुए भी अन्ततः साधु ही हो जाते थे। उर्वशी काव्य को पुरूरवा की दुःखान्त कथा मान लेने पर यह समाधान प्राप्त हो सकता है। किन्तु उर्वशी काव्य की परिसमाप्ति पुरूरवा के संन्यास के साथ नहीं होती, अतः कवि का यह भी अभीष्ट नहीं है। (३) तीसरा पक्ष है औशीनरी का : निष्काम प्रेम ही काम की सिद्धि है—इष्ट के प्रति सम्पूर्ण आत्मदान का प्रतीक यह निर्भोग प्रेम आत्मलाभ का ही पर्याय है। स्वदेश-विदेश के लौकिक प्रेमाख्यान इसी का माहात्म्य-गान करते हैं और मनोविश्लेषण-शास्त्र भी इसका समर्थन करता है। किन्तु उर्वशी में औशीनरी की बेबसी का विस्तृत वर्णन क्या इसको स्वीकार करने देता है ? (४) अन्त में सुकन्या का प्रेम है जो

स्वतन्त्र न होकर धर्म (गृहस्थ-धर्म) का ही अंग है—सिद्धि न होकर साधन है। उसमें उपभोग है पर उद्वेग या द्वन्द्व नहीं है, इसलिए वह तृप्त है। आयु के राज्यारोहण में काव्य का अन्त इसकी ओर संकेत करता है कि कदाचित् सुकन्या का पक्ष कवि को ग्राह्य है किन्तु काव्य में उर्वशी तथा पुरूरवा के पक्ष इतने प्रबल हैं कि उनकी तुलना में यह पक्ष बड़ा मुलायम और कमज़ोर पड़ जाता है। सुनिए—

और पुत्र-कामना कहो तो, यद्यपि, वह सुखकर है,
पर, निष्काम काम का, सचमुच वह भी ध्येय नहीं है।
निरुद्देश्य, निष्काम काम सुख की अचेत धारा में,
सन्तानें अज्ञात लोक से आकर खिल जाती हैं।
वारि-वल्लरी में फूलों-सी, निराकार के गृह से,
स्वयं निकल पड़नेवाली जीवन की प्रतिमाओं-सी।

अतः कवि का मन्तव्य हमें उर्वशी या पुरूरवा के शब्दों में ही ढूंढना होगा। उर्वशी का समाधान है—

प्रकृति नित्य आनन्दमयी है, जब भी भूल स्वयं को
हम निसर्ग के किसी रूप (नारी, नर या फूलों) से
एकतान होकर खो जाते हैं समाधि निस्तल में,
खुल जाता है कमल, धार मधु की बहने लगती है,
दैहिक जग को छोड़ कहीं हम और पहुँच जाते हैं,
मानो, मायावरण एक क्षण मन से उतर गया हो।

× × ×

पर, खोजें क्यों मुक्ति ? प्रकृति के हम प्रसन्न अवयव हैं;
जब तक शेष प्रकृति, तब तक हम भी बहते जाएंगे
लीलामय की सहज, शान्त, आनन्दमयी धारा में।

और उधर पुरूरवा का समाधान है—

देह प्रेम की जन्मभूमि है, पर, उसके विचरण की
सारी लीला-भूमि नहीं सीमित है रुधिर-त्वचा तक।
यह सीमा प्रसरित है मन के गहन, गुह्य लोकों में,
जहां रूप की लिपि अरूप की छवि आंका करती है;
और पुरुष प्रत्यक्ष विभासित नारी-मुखमंडल में
किसी दिव्य, अव्यक्त कमल को नमस्कार करता है।

× × ×

यह अतिक्रान्ति वियोग नहीं, शोणित के तप्त ज्वलन का
परिवर्तन है स्निग्ध, शान्त दीपक की सौम्य शिखा में।
निन्दा नहीं, प्रशस्ति प्रेम की; छलना नहीं, समर्पण ;
त्याग नहीं, संचय, उपत्यकाओं के कुसुम-द्रुमों को
ले जाना है यह समूल गिरपति के तुंग शिखर पर,
वहां जहाँ कैलास-प्रान्त में शिव प्रत्येक पुरुष है,
और शक्तिदायिनी शिवा प्रत्येक प्रणयिनी नारी।

उर्वशी का पक्ष प्रकृति का पक्ष है—उसके लिए प्रकृति अर्थात् ऐन्द्रिय धरातल पर काम-सुख ही पूर्ण सत्य है, उसके आगे कुछ और का अनुसंधान अनावश्यक है। यह प्रकृत आनन्द अर्थात् प्रकृति के प्रति पूर्ण आत्मार्पण ही अपने सहज रूप में जीवन की सिद्धि है; सहज का अर्थ हैं निर्बाध और निष्काम। कामना या वासना से दूषित होकर सहज काम रूप यह अमृत गरल में परिणत हो जाता है ; अतः निष्काम भाव से ऐन्द्रिय काम का आनन्द ही जीवन का चरम साध्य है। मोक्ष का अर्थ प्रकृति से मोक्ष नहीं है, कामना से मोक्ष-निष्काम आत्मार्पण-ही वास्तविक मोक्ष है, शेष प्रवंचना है। पुरूरवा की भी लौकिक काम में पूर्ण आस्था है। किन्तु उसके लिए वह साधन है, सिद्धि नहीं है, वह आत्मवादी है ; ऐन्द्रिय रति को वह आत्म-रति की साधना मानता है—अर्थात् प्रकृति की आराधना वह ईश्वर की ही आराधना के निमित्त करता है। इस प्रकार उर्वशी और पुरूरवा के दृष्टिकोण में अभेद तो यह है कि दोनों ही निष्काम आत्मार्पण को जीवन का चरम सत्य मानते हैं ; भेद यह है कि उर्वशी के लिए अन्तिम सत्ता प्रकृति है—उसी के प्रति निष्काम आत्मार्पण जीवन की सिद्धि है, जब कि पुरूरवा के लिए परम तत्त्व ईश्वर है, प्रकृति के माध्यम से उसी के प्रति पूर्ण समर्पण जीवन की सिद्धि है।

कवि का अपना मन्तव्य इन दोनों में से कौन-सा है ? कदाचित् पुरूरवा का मन्तव्य ही उसका मन्तव्य है ? किन्तु क्या वह मान्य है ?—और क्या उर्वशी काव्य का सम्पूर्ण विधान उसे निर्भ्रान्त रूप से अभिव्यक्त एवं प्रतिफलित करता है ? ये प्रश्न तुरन्त ही हमारा ध्यान आकृष्ट करते हैं। पर ये प्रश्न तो व्याख्यान-विश्लेषण से आगे मूल्यांकन के अन्तर्गत आते हैं।

मूल्यांकन

पहला प्रश्न यह है कि क्या उर्वशी काव्य में प्रस्तुत काम-विषयक उपर्युक्त मन्तव्य—दोनों या उनमें से कोई एक जीवन के वृहत्तर मूल्यों की कसौटी पर शुद्ध ठहरता है ? क्या काम-साधना, सम्पूर्णतः निष्काम ही सही, जीवन की सिद्धि है ?

इसमें सन्देह नहीं कि काम अत्यन्त मौलिक वृत्ति है और जीवन की समृद्धि में उसका योगदान निश्चय ही सर्वाधिक है। परन्तु एक तो निष्काम काम की धारणा ही कुछ अटपटी-सी है—मनोविज्ञान, मनोविश्लेषणशास्त्र आदि के द्वारा वह सिद्ध नहीं हो सकती, क्योंकि काम-सुख की समृद्धि का मूल आधार मानसिक ही मानना पड़ेगा इसीलिए काम को (ब्रह्म का) 'मनसो रेतः' कहा गया है। मन के काम के बिना केवल तन के काम की स्पृहा क्या सम्भव है? तन के आनन्द में जो आस्वाद है वह तो मन की ही क्रिया है। मन का काम ही तो तन के काम को ऐश्वर्य प्रदान करता है—भोज्य रस में जो स्थान सुगन्ध का है, वही वरन उससे भी अधिक महत्त्वपूर्ण स्थान ऐन्द्रिय रस में मन के रस का है। इसलिए केवल घुमड़न और कुंठा की स्थिति को छोड़ मन के काम को गरल मानना न सत्य है और न उचित ही। दूसरे, निष्काम या सकाम कैसा भी काम जीवन की सिद्धि कैसे हो सकता है? जीवन के व्यापक और स्वस्थ मूल्यों के आधार पर इस प्रकार की स्थापना स्वीकार्य हो सकती है? अब रहा पुरूरवा का दृष्टिकोण—अर्थात् ऐन्द्रिय रति आत्मरति की ही साधना है। आज के युग में इस तर्क को भी स्वीकार करना कठिन है। यह सिद्धान्त मान लिया जाए तो यह भी मानना होगा कि जीवन का चरम पुरुषार्थ काम है और जो व्यक्ति ऐन्द्रिय काम में जितना लीन है उतना ही सिद्ध है—पारमार्थिक दृष्टि से और लौकिक दृष्टि से भी! आज इस जीवन-दर्शन को कौन स्वीकार कर सकता है और कैसे स्वीकार कर सकता है? मध्ययुग में भी जब जीवन अपेक्षाकृत अधिक अन्तर्मुख था और जीवन-मूल्य भी उसी के अनुरूप थे, मधुरोपासना से सम्बद्ध दार्शनिक पद्धतियां पारमार्थिक दृष्टि से ऐन्द्रिय काम को जड़ प्रकृति का अंश मानकर उसको चिन्मय आनन्द-साधना का प्रेरक साधन-मात्र मानकर छोड़ देती थीं—सहज-साधना की कुछ वाममार्गीय पद्धतियों के अतिरिक्त अन्यत्र कहीं भी ऐन्द्रिय काम को आत्यन्तिक रूप में स्वीकार नहीं किया गया। अतएव उपर्युक्त दोनों में से किसी भी रूप में—उर्वशी अथवा पुरूरवा का—यह अद्भुत काम-दर्शन न ग्राह्य हो सकता है और न काम्य ही। हां, पुरूरवा के सन्यास को चरम परिणति मानकर—उसी पर काव्यार्थ को केन्द्रित कर, यदि वहीं काव्य का समापन कर दिया जाता तो अन्तिम अर्थ-व्यंजना बदल जाती तथा ऐन्द्रिय काम का पारमार्थिक उन्नयन—आत्म-काम में उन्नयन—सफल हो जाता और यह जीवन-दर्शन वर्तमान युग-धर्म के अनुरूप न होते हुए भी एक विशेष चिन्तन-परम्परा के अनुकूल अवश्य होता। परन्तु दिनकर की युग-चेतना संन्यास को स्वीकार करने में असमर्थ है—कुरुक्षेत्र में हमें उसका प्रमाण मिल चुका है। युग-धर्म के अनुरूप काम की परिणति का एक और रूप हो सकता है जिसका प्रतिफलन हमें सुकन्या के जीवन-दर्शन में मिलता है और अन्त में

औशीनरी जिसकी ओर प्रकारान्तर से इंगित करती है : सतति द्वारा आत्म-विकास। वर्तमान मनोविश्लेषणशास्त्र भी इसका समर्थन करता है—रति की सफल परिणति है संतति और उसके द्वारा व्यक्ति के धरातल पर प्रवृत्ति का उन्नयन एवं सामाजिक धरातल पर अहं का समाजीकरण कर मनुष्य-जीवन सफल हो सकता है। दिनकर का जागरूक विचारक-कवि इस पक्ष से अवगत है और उसका प्रतिपादन उर्वशी में हुआ है, परन्तु काव्य का वस्तु-विधान जिस रूप में किया गया है, उससे यह पक्ष बड़ा दुर्बल पड़ जाता है और पाठक सारभूत प्रभाव के रूप में इसे ग्रहण नहीं कर पाता, क्योंकि स्पष्टतः ही यह कवि का अभिप्राय नहीं हैं। ऐसी स्थिति में समाधान क्या है ?

वास्तव में काम को महत्पुरुषार्थ से आगे जीवन का चरम पुरुषार्थ मानना ही गलत है। जीवन का चरम पुरुषार्थ धर्म ही हो सकता है जिसमें लौकिक दृष्टि से अभ्युदय और आध्यात्मिक दृष्टि से निःश्रेयस की सिद्धि अन्तर्भूत है। अर्थ और काम उस के साधन हैं—ये दोनों ही महान् पुरुषार्थ हैं किन्तु अन्ततः साधन-रूप ही हैं—साध्य नहीं बन सकते। काम अर्थ की अपेक्षा निश्चय ही अधिक समृद्ध और काम्य है अर्थात् उसमें चिदंश अधिक है ? किन्तु साध्य उसे भी नहीं माना जा सकता। मेरे मत से उर्वशी के मूल विचार की सबसे बड़ी बाधा यही है कि वह साधन में सिद्धि ढूँढ़ने के लिए प्रयासशील है। कामायनी में लौकिक दृष्टि से धर्म को, और आध्यात्मिक दृष्टि से धर्म का भी उत्सर्ग कर अन्ततः आनन्दरूप मोक्ष को चरम पुरुषार्थ माना गया है। इसलिए उसकी परिणति, मध्यवर्ती बाधाओं के रहते हुए भी, अखण्ड है। कामायनी श्रद्धा और मनु का कथानक है, 'मनु और इड़ा का आख्यान' नहीं, और उसी के अनुरूप वह पुरुषार्थ के धर्म और आनन्द-पक्ष को ही महत्त्व देता है, अर्थ-पक्ष को नहीं। मुझे आश्चर्य है कि उर्वशी की भूमिका में कामायनी के विषय में इस प्रकार की विचित्र कल्पनाओं की आवश्यकता क्यों हुई है ?

तब फिर कवि का समाधान क्या है ? कवि ने भूमिका में इस प्रश्न का उत्तर देते हुए लिखा है कि उर्वशी में वह कोई समाधान प्रस्तुत नहीं कर सका। और, वस्तु-स्थिति यही है। दिनकर द्वन्द्व का कवि है, समाहिति का कवि नहीं है समस्या के सम्पूर्ण उद्वेलन का अनुभव कर प्राणों के पूरे आवेग के साथ अत्यन्त प्रभावमय अभिव्यंजन करना उसके लिए जितना स्वाभाविक है, समाधान प्रस्तुत करना उतना नहीं। इसलिए दिनकर के काव्य में स्वानुभूति का बल है और आत्मस्वीकृति की स्वाभाविकता भी उसे प्राप्त है। द्वन्द्व उसका अनुभूत है, समाधान अनुभूत नहीं है—विचार के द्वारा समाधान वह भी प्रस्तुत कर सकता है, किन्तु वह करना नहीं चाहता। उर्वशी काव्य का प्रभाव इसी तथ्य की पुष्टि करता है—उसमें अंतर्मन्थन

की अद्भुत शक्ति है, किन्तु चित्त की समाहिति उसके द्वारा सम्पन्न नहीं होती। उद्वेलक प्रभाव की दृष्टि से उर्वशी निश्चय ही अत्यन्त प्रबल काव्य है—छायावादोत्तर-युग में ऐसा प्रबल काव्य हिन्दी में दूसरा नहीं लिखा गया और जहाँ तक मेरा ज्ञान है (यद्यपि यह ज्ञान अनुवाद पर आश्रित और अत्यन्त सीमित है), अन्य भारतीय भाषाओं में भी इतनी प्रबल समसामयिक रचना कदाचित् नहीं है।

एक प्रकार से उर्वशी की समीक्षा यहाँ पर भी समाप्त हो सकती है। परन्तु मुझे लगता है कि मैं अभी अपना मन्तव्य पूर्णतः व्यक्त नहीं कर पाया और उसे यहीं पर छोड़ देने से उर्वशी का मूल्यांकन शायद अधूरा रह जाएगा। मेरे सामने अब यह प्रश्न उठता है कि काव्य के मूल्यांकन में समाधान का क्या स्थान है? रस के साहित्य में मैं नैतिक उद्देश्य अथवा समाधान का कायल नहीं हूँ। इस प्रकार का समाधान कला के उत्कर्ष में बाधक ही होता है। किन्तु समाधान का यह तो स्थूल अर्थ हुआ; अपने सूक्ष्म अर्थ में वह अन्विति का पर्याय है और प्रत्येक कलारूप के लिए अन्विति की अनिवार्यता असंदिग्ध है। कला के मूलाधार के विषय में यों तो अनेक मत प्रचलित हैं किन्तु यह मत प्रायः सर्वमान्य, कम-से-कम बहुमान्य, अवश्य है कि कला का प्राणतत्त्व है सामंजस्य अर्थात् अनेकता की एकता में परिणति। अतिवादों के इस युग में यूरोप में और इधर भारत में भी इस मत के विरोध में अनेक विचित्र स्थापनाएं हुई हैं जो नाना प्रकार के दार्शनिक तथा मनोवैज्ञानिक तर्कों के आधार पर यह सिद्ध करने के लिए प्रयत्नशील हैं कि सामंजस्य या एकान्विति का अनुसंधान एक कृत्रिम कलाचेष्टा है—आधुनिक जीवन की विकीर्णता ही आज के जीवन एवं कला का सत्य है। इन स्थापनाओं के खण्डन-मण्डन के लिए यहाँ अवकाश नहीं है और वास्तव में कृति तथा विकृति के भेद का लोप करने वाली इन अतिवादी धारणाओं का प्रतिवाद करना प्रस्तुत प्रसंग में आवश्यक भी नहीं है क्योंकि दिनकर के कला-संस्कार निश्चय ही इस प्रकार के अतिवाद से मुक्त हैं। अब, यदि सामंजस्य कला का आधारतत्त्व है तो उर्वशी के वस्तु-विधान में, उसके अंतरंग अर्थात् 'विचार' में और बहिरंग अर्थात् 'काव्यरूप'—दोनों में, एकान्विति ढूढ़ने का प्रयास कला-रसिक पाठक के लिए स्वाभाविक है—और यहीं बाधा खड़ी हो जाती है। क्योंकि उर्वशी के मूल विचार तथा उसको प्रतिफलित करने वाले वस्तु-विधान में अन्विति नहीं है: विचार का अन्वय-भंग कलारूप की अन्विति को भी भंग कर देता है। यथार्थ दृष्टि से यदि कवि द्वन्द्व को ही अन्तिम सत्य मान लेता और पुरूरवा के संन्यास में ही इस प्रणय-कथा का विसर्जन कर देता तब भी कलारूप की पूर्णता बनी रहती। किन्तु उस के आदर्शवादी संस्कार समाधान के लिए आकुल और विफल प्रयास करते हैं। इससे एक ओर जहां उर्वशी की सुन्दर कला-प्रतिभा में, पूर्ण होते-होते, दरार पड़ जाती हैं, वहां दूसरी ओर सहृदय पाठक के चित्त की समाहिति भी बिखरने लगती है। इसीलिए सामयिक हिन्दी-काव्य की यह श्रेष्ठ उपलब्धि अंशरूप में अपेक्षाकृत अधिक समृद्ध एवं प्रबल होने पर भी अपने समग्ररूप में न कामायनी की श्रेणी में आती है, और न प्रियप्रवास तथा साकेत की श्रेणी में।

मणिकुट्टिम काव्य : उर्वशी

श्री नरेन्द्र शर्मा

दिनकर जी का 'उर्वशी' काव्य एक सामर्थ्यवान कवि-शिल्पी की रचना है। उर्वशी गाथा के आर्ष, पौराणिक, लौकिक, साहित्यिक और आध्यात्मिक अभिप्रायों को आत्मसात् करके, कवि ने एक अपूर्व मणिकुट्टिम काव्य-रचना की है। मणि-कुट्टिम शब्द को रचना भी दिनकर जी की अपनी है। इसे कवि ने अंग्रेजी भाषा के 'मुजेक (Mosaic)' शब्द के पर्याय के रूप में प्रयुक्त किया है।

'उर्वशी' दिनकर जी की कला-निष्ठा, अध्ययन और अध्यवसाय को सफल सिद्ध करने वाली, एक प्रौढ़ और महत्त्वपूर्ण रचना है, जो आधुनिक हिन्दी-काव्य की परम्परा को आगे बढ़ाती है।

मुख्यतः तो यह सावेग उद्दाम पौरुष और कल्पनातीत कमनीय सुन्दरता के पारस्परिक आकर्षण और तज्जनित द्वन्द्व प्रणय की कथा है। किन्तु इस कथा में महत्त्व अन्ततः सद्गृहस्थ के योग्य सद्भावपूर्ण त्यागमय आदर्श को ही दिया गया है। परिणय और प्रणय की विफलता के अनन्तर, कथा के शिखर पर गृहलक्ष्मी और वंशावतंस ही सुशोभित है। राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त ने अपने काव्यों में प्रत्यक्षतः इसी आदर्श की स्थापना की है। यही हमारी भारतीय परम्परा है।

'उर्वशी' काव्य में अद्भुत मनोमयता और मनोहारिता है। इस विषय में भी, इस काव्य में हमें आधुनिक हिन्दी काव्य के सब सद्गुण एकत्र मिल जाते हैं। 'कामायनी' की मनोभूमि और मनोविज्ञान, पंत-काव्य की कोमल कांत पदावली, निसर्ग-शोभा तथा अतिमानसी व्यंजना, निराला जी का ओज, तेज और अदम्य प्रवाह और महादेवी जी की वेदना-सम्वेदना, उर्वशी में इन सब तत्त्वों का समुचित सभावेश हुआ है। इसके साथ ही पंचतत्त्वमय इस काव्य-विग्रह में दिनकर जी की अपनी स्वत्वशीलता है। इसीलिए 'उर्वशी' आधुनिक हिन्दी काव्य के परिवार में एक उज्ज्वल कुलदीपक के रूप में अभिनन्दनीय है। परम्परा को सम्पन्न करने की क्रिया पुनरुक्ति दोष से दूषित नहीं होती, वह प्रगति को भूषित करती है और अपने आप में एक स्वयं सिद्ध सफल प्रयोग है।

दिनकर जी ने उर्वशी काव्य को खुले दिल से और दिल खोल कर लिखा है। आत्ममुग्ध और आत्मग्लानि में निमग्न कवियों के प्रयोगों को मैं प्रयोग नहीं मानता। प्रयोग को मैं आत्महनन का साधन नहीं मानता। काव्य कौतुक और शिल्पगत अराजकता से ऊब कर, व्यष्टिगत एकांतिक साधना के रूप में रूठे हुए मनीषी की असहयोग भावना को भी मैं योग नहीं मानता। दिनकर जी इन दोनों मनोदशाओं की विदिशाओं से नाता जोड़ कर, अपने काव्य-गंतव्य की दिशा में स्वस्थ मन और सक्रिय स्वभाव से आगे बढ़े हैं।

'उर्वशी' काव्य पांच अंकों में विभाजित एक पद्य-रूपक है। मूल कथा लगभग वही है, जो कवि कालिदास के 'विक्रमोर्वशीयम्' में उपस्थित है। अन्तर संयोजन और दृष्टि-निर्देशन का है। च्यवनाश्रम में कथा का विस्तार दिनकर जी की अपनी देन है। उस अपनी नई काव्य-भूमि में कवि ने प्रणय और परिणय, प्रकृति और संन्यास, भूत और भविष्य का अद्भुत समन्वय किया है।

पात्रों के चरित्र-चित्रण में दिनकर जी ने अपनी कल्पना-प्रतिभा का परिचय दिया है। पुरुष की द्विधा और पूर्तापूर्ति की मूर्ति, नारी की अविदित क्षमता-अक्षमता का सूक्ष्म और स्पष्ट सर्वेक्षण करने में कवि ने सिद्धि प्राप्त की है। नर-नारी के मानस को खंगाल कर, कवि ने अपने शब्द-घट को रस से भरपूर भर दिया है। कवि के शब्द-सामर्थ्य का परिचय देने में मुझे अधिकांश 'उर्वशी' काव्य को ही उद्धृत कर देना होगा। समीक्षा मूल-कृति के अवलोकन का स्थान नहीं ले सकती, समीक्षा का उद्देश्य तो एक दृष्टिकोण से उस दिशा में इंगित भर कर देना है।

'उर्वशी' के प्रथम अंक में परी-देश धरती पर उतरता है। यों उर्वशी के पृथ्वी पर अभिसार के हेतु उपयुक्त वातावरण का निर्माण हो जाता है। परियों की पारस्परिक बोली-ठोली, राग-रंग-भरी एक अनोखी चहल-पहल पैदा कर देती है। भिन्न-भिन्न चित्तवृत्तियों के चित्रण में, या यों कहिए, परियों के चरित्र-चित्रण में कवि ने अपना हस्तलाघव और कला-कौशल दिखलाया है। रंभा और मेनका के रूप में द्यावा पृथिवी के सम्बन्ध में दो पृथक दृष्टिकोण प्रस्तुत किए गए हैं। रंभा द्यावा सापेक्ष है, तो मेनका पृथिवी के सुख-दुखमय रस और आत्म-त्याग के प्रति सहानुभूति प्रकट करती है। यह दृष्टि-भेद 'उर्वशी' काव्य के लिए अनिवार्य है। उर्वशी भी तो धरती पर अवतरण करने को उतावली है। अपने उतावलेपन में वह भरत मुनि के शाप की अधिकारिणी बनी है। वह पुरूरवा के पुत्र की माता बनेगी। पूर्वाभास के रूप में कवि ने मेनका द्वारा मातृत्व की महिमा कहलाई है :—

'पर, रंभे ! क्या कभी बात यह भी मन में आती है,
मां बनते ही त्रिया कहाँ से कहाँ पहुँच जाती है ?

गलती है हिमशिला, सत्य है, गठन देह की खोकर,
पर हो जाती है असीम कितनी पयस्विनी नारी।'

इस प्रकार शकुन्तला जैसी नवजात अपनी पुत्रियों को भूमितल पर असहाय छोड़ जाने वाली निष्ठुर प्रसूता मेनका को कवि ने परी से भूदेवी बनाकर, अपने मानवता-सापेक्ष दृष्टिकोण का परिचय दिया है।

पहले अंक में कवि ने स्वर्ग के वासी देवों के प्रति भी अपने दृष्टिकोण को स्पष्ट कर दिया है। देव रक्त-मांस-अश्रु-स्वेद से परे हैं। केवल गंध-ग्रहण करके ही अपना काम चला लेते हैं। प्रेम के ऊष्मा-उत्ताप और उन्मुक्त उल्लास-विलास की भूखी परियों की तृप्ति के लिए देवों का वैभव-ऐश्वर्य अलम् नहीं है। देव इन परियों को अपर्याप्त लगते हैं। कुछ ऐसी ही बात है, जैसे अतिशय सम्पन्न, वैभवशाली और सुसंस्कृत वर्ग की तरुणी सुन्दरियां प्राकृत पुरुषों के प्रति आकर्षित हों। लेडी चेटर्जी के चरित्र में लारेंस ने ऐसे ही आकर्षण की ओर संकेत किया होगा।

मेनका और उर्वशी को नीरस स्वर्ग में प्रेमावेश की ऊष्मा नहीं मिलती। तीसरे अंक में अभिसारिका उर्वशी को प्रेमी पुरूरवा की द्विधा से असन्तोष होता है—

'यह मैं क्या सुन रही ? देवताओं के जग से चल कर
फिर मैं क्या फँस गई किसी सुर के ही बाहु-वलय में ?'

पुरुष का स्वभाव ही द्विधाग्रस्त है। स्वैरिणी मानवी अन्ना करेनिना बनती है। पर उर्वशी मरणशीला नहीं है। वह चिरंतन रहस्यमयी अपराजिता आकर्षण-शक्ति है। किन्तु इस रहस्य के उद्घाटन से पूर्व हमें दूसरे अंक की सुध लेनी है।

उर्वशी के अभिसार की अपेक्षा महारानी औशीनरी की व्यथा को कवि ने अधिक महत्त्व दिया है। दूसरा अंक उस मनोव्यथा का द्योतक है। प्रथम अंक के इंगित को झुठला कर कवि ने हमें दूसरे अंक में पुरूरवा और उर्वशी का मिलन नहीं दिखलाया। हम महारानी को, पुरूरवा और उर्वशी के गंधमादन पर मधु-चन्द्र विहार हेतु, प्रतिष्ठानपुर से चले जाने का दुखद समाचार पाते हुए देखते हैं। कवि ने महारानी के चरित्र का चित्रण ऐसी नारी के रूप में किया है, जिसके आँचल में दूध तो नहीं है, पर जिसकी आंखों में पानी है। औशीनरी पति-परायणा है, किन्तु ऐसी बात नहीं है कि शिकायत उनके ओठों तक न आए। वह दूसरे अंक के अन्त में गाती है--

"कितना विलक्षण न्याय है।
कोई न पास उपाय है।
अवलम्ब है सबको,
मगर नारी बहुत असहाय है।"

उधर तीसरे अंक के आरम्भ होने तक, पुरूरवा और उर्वशी गंधमादन पर्वत पर कुछ दिनों विहार कर चुके हैं, क्योंकि पुरूरवा अब दुचित्ता-सा प्रतीत होता है। इस अंक में कथा-भाग गौण है, मुख्य बात है कि कवि के अपूर्व काव्य-बल से स्रोतस्विनी कविता-धारा के प्रवाह में उर्वशी के रहस्यमय, विराट, शाश्वत सौन्दर्य के स्वरूप का उद्घाटन होता है। उर्वशी की स्वोक्ति हमें रवीन्द्रनाथ ठाकुर द्वारा उर्वशी महिमा-गान का स्मरण दिलाती है। किन्तु यहाँ दिनकर जी का काव्य अपने ओज, तेज और प्रवाह में और भी आगे बढ़ गया है। सौन्दर्य और प्रेम पर ऐसी कविता हमें केवल श्री अरविन्द के प्रमद्वरा-रुरु काव्य, उर्वशी और सावित्री में ही मिल सकती है। प्रारम्भिक कविता 'हिमालय' से लेकर प्रौढ़तर रचना 'हिमालय का संदेश' तक, दिनकर जी ने चक्रवाल सदृश अपने काव्य बल का विस्तार हिमालय से हिमालय तक का विस्तार, हमें दिखलाया था। 'उर्वशी' के गंधमादन पर्व में कवि ने हिमालय पर्वत के शिखरों को नाप दिया है।

कथा की दृष्टि से पुरूरवा इस अंक के आरम्भ में द्विधाग्रस्त आनन्दविह्वल प्रेमी था। उसकी मनोदशा यों शब्दांकित है—

'खड़ा सिहरता रहता मैं आनन्द विकल उस तरु सा,
जिसकी डालों पर प्रसन्न गिलहरियां किलक रही हों।'

अंक का समापन होते होते वही पुरूरवा द्विधा त्याग कर प्रेम के पथ में प्रेयसी का अनुगामी बन जाता है—

'साथ चलूंगा मैं सुगंध से खिचे हुए मधुकर-सा,
या कि राहु जैसे विधु के पीछे-पीछे चलता है।'

कवि राहु और विधु के पीछे-पीछे न चल कर, हमें, चौथे अक में, वसूधारा के तट पर, च्यवनाश्रम में ले जाता है। वहाँ पुरूरवा और उर्वशी का भविष्य, उनका पुत्र आयु बालसूर्य के समान, ऋषि-पत्नी सुकन्या की गोद में पल रहा है। यह अंक कदाचित् कवि की अपनी स्वतन्त्र कल्पना है। ऋषि च्यवन यहाँ हमें प्रत्यक्ष तो नहीं दिखते, किन्तु सुकन्या के मुख से हमें उनके भाव-विचारों का परिचय मिल जाता है। ऋषि की मानस-आदर्शिका में नारी शक्ति का उदात्त, कोमल, स्निग्ध, करुणामय चरित्र प्रतिबिम्बित है। च्यवनप्राश के साथ स्मरण किए जाने वाले च्यवन के प्रति दिनकर जी ने वन्दनीय दृष्टिकोण प्रस्तुत किया है। ठीक भी है। उनकी माता पुलोमा गर्भवती थीं और पुलोमा नामक दैत्य ने माता पुलोमा का अपहरण किया था। आंसुओं से वसूधारा नदी बन गई। गर्भच्युत बालक च्यवन के तेज से पुलोमा राक्षस भस्म हो गया। इस प्रकार नारी के अश्रु और आर्ष तेज से च्यवनऋषि की मानस-आदर्शिका का निर्माण हुआ था। जिस गोदी में प्रमति ऋषि खेले होंगे, सुकन्या की

उसी पावन गोदी में आयु पल रहा था। आयु के बड़े होने पर उर्वशी और पुरूरवा का भविष्य निर्भर है, यह सूचना भी हमें 'उर्वशी' के चौथे अंक में मिल जाती है। उर्वशी के शाप का पूर्वाभास देकर यह अंक कथा-क्रम को आगे बढ़ाता है।

अन्तिम अर्थात् पाँचवें अंक में राजा के भविष्य-सूचक संन्यास-स्वप्न और उसकी नियति के संदेश की कल्पना ने उर्वशी काव्य में चार चाँद लगा दिए हैं। रचना-कौशल, काव्य-प्रतिभा और प्रौढ़-वर्णन-शैली पर अपने पूर्ण अधिकार का परिचय देकर ही कवि ने 'उर्वशी' काव्य के पांचवें अंक का समापन किया है। 'उर्वशी' नाटक धवल काव्य-प्रासाद का स्वर्णकलश है यह पांचवा अंक।

पाँच अंकों में विभाजित इस संवाद-काव्य को कवि ने कदाचित् 'विक्रमोर्वशीयम्' के आधार पर ही एक दृश्य काव्य के रूप में रचा है। पर क्या 'उर्वशी' दृश्य काव्य के रूप में एक सफल कृति सिद्ध है? अभी प्रयोग इसका नहीं हुआ है। किन्तु इसके सफल दृश्य काव्य होने की दिशा में, कुछ शंकाएं उठती हैं। ऐसा प्रतीत होता है जैसे 'उर्वशी' में काव्य अधिक है, नाटकीयता कम है।

'विक्रमोर्वशीयम्' का सूत्रपात अत्यन्त प्रभावपूर्ण रूप में हुआ है। राजा पुरूरवा स्वर्ग से पृथिवी की ओर उतर रहा है कि उसे किसी नारी की आर्त्त पुकार सुन पड़ती है ·····'बचाओ, बचाओ, उर्वशी को केशी राक्षस पकड़े लिए जाता है।' परिणामतः पुरूरवा के विक्रम से अपहृता उर्वशी मुक्त होती है। विक्रमी के प्रति उर्वशी अप्सरा अपना भाव-हृदय समर्पित कर देती है। विक्रमी सुन्दरी के प्रति आकर्षित होता है। दिनकर जी ने इस में व्यापार की सूचना भर दी है। और कथा-काव्य की दृष्टि से दिनकर जी का लीक छोड़कर चलना उचित भी है। पर इस प्रकार उनके दृश्य काव्य में नाटकीयता का तत्त्व गौण हो गया है।

दूसरे अंक का आरम्भ भी नाटकीयता के अभाव में होता है। दर्शक की यह इच्छा पूरी नहीं होती कि वह प्रेमी पुरूरवा और प्रेमासक्ता उर्वशी का पृथ्वीतल पर प्रथम प्रेम-मिलन देखे। इसकी भी सूचना ही मिलती है, और वह भी आशातीत परिवर्तित संदर्भ में।

तीसरा अंक, द्वन्द्व-प्रणय के अन्तर्द्वन्द्व द्वारा चिन्तनग्रास से आरम्भ होता है। कामना का फूल आरम्भ में ही कुम्हलाया हुआ दिखता है। जो प्रेम की पूर्णिमा देखना चाहते थे, उन्हें दिखती है चिन्तन की कृष्णा प्रतिपदा। नाटकीयता की दृष्टि से आशा पूरी नहीं होती। इस तीसरे अंक में प्रेम कम हो गया है, प्रेम की व्याख्या अधिक हो गई है। सम्वाद का विषय वर्तमान नहीं, मिलन की पूर्व पीठिका है। प्रेम में पल कर प्रेमी एकाकार नहीं होते। वह आत्मज्ञापन करने लगते हैं। यह कर्म नहीं क्रिया है, क्रिया नहीं प्रतिक्रिया है।

चौथे अंक से नाटक में नया उभार आता है। किन्तु मूल-कथा-प्रवाह में, विषयान्तर से, बाधा उपस्थित होने की आशंका है। यह और बात है कि विषयान्तर में भी कथ्य के महत्त्व और कथन की चातुरी से कवि ने स्थिति को सम्भाला है। आयु के कारण उर्वशी का प्रवेश और शाप के रहस्य का उद्‌घाटन नाटकीय प्रवाह की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। सुकन्या के उदात्त चरित्र को कुछ ठेस अवश्य पहुँचती है, जब वह अपना संशय इस प्रकार प्रकट करती है :—

'इस निरीह पयोमुख को अभी भेजना
नहीं निरापद होगा राजभवन में।
रानी कितनी भी उदार, कुलपाली, दयामयी हो
विमातृत्व का हम वामा विश्वास नहीं करती हैं।'

अपने विवाह से पहले वह राजकन्या अवश्य थी, पर निश्चय ही 'उर्वशी' की सुकन्या उन वामाओं में से नहीं है, तो फिर यह संशय अविश्वास कैसे स्वाभाविक सिद्ध होगा ?

अन्तिम और पांचवें अंक में आयु की विमाता औशीनरी के त्यागमय, गौरव-पूर्ण और उदार व्यवहार से ऋषि-पत्नी की शंका अवश्य निर्मूल सिद्ध हुई होगी। पांचवां अंक इस शंका को भी निर्मूल सिद्ध कर देता है कि 'उर्वशी' काव्य नाटकीयता की दृष्टि से उन्नीस बैठता है। यदि इस अंक को रंगमंच पर प्रस्तुत किया जाए, तो निश्चय ही एक भव्य दृश्यकाव्य दर्शकों के सम्मुख उपस्थित किया जा सकेगा। उस दशा में ध्यान बस इस बात का रखना पड़ेगा कि शाप की परिणति से घबराई उर्वशी कहीं थोड़ी-थोड़ी देर पर, कवि के निर्देशानुसार तीन बार पानी न मांग बैठे। सतही भावुकता का अभिनय कभी-कभी रुलाने की जगह हँसाने का साधन बन जाता है। औशीनरी की यह पिटी हुई उक्ति कि 'वाणी का वर्चस्व रजत है, किन्तु मौन कंचन है' औशीनरी के योग्य नहीं है। यह उक्ति आभिजात्य नहीं, पारजात्य की द्योतक है।

उर्वशी का पाँचवा अंक नाटकीयता की दृष्टि से सिजल पड़ता है। इस रू में, पाँचवें अंक का पलड़ा इतना भारी हो जाता है कि नाटकीय न्याय का तुलादण्ड अपना सन्तुलन खो देता है। यही अंक है, जिसमें रंगमंच पर स्त्री-पुरुष-मात्र मिल-जुल कर सामने आते हैं। पहले अंक में सब स्त्रीपात्र हैं। दूसरे अंक में, संदिग्ध कंचुकी के लघु प्रवेश को भुला दें तो, स्त्री-पात्र ही हैं। तीसरे अंक में बस नायक-नायिका हैं, जो वास्तव में बहुत पहले ही मंच पर आ जाने चाहिए थे। चौथे अंक में शिशु आयु

ही एक मात्र पुरुष पात्र है। पांचवा अंक ही एकमात्र वह अंक है, जो रंगमंच के अंक को भरपूर भर देता है।

दृश्य काव्य के रूप में उन्नीस, तो श्रव्य काव्य के रूप में दिनकर जी की 'उर्वशी' निश्चय इक्कीस बैठती है।

आमुख के रूप में, भूमिका काव्य से पहले आती है। पर भूमिका काव्य के समापन के पश्चात् ही लिखी जाती है। इस प्रकार भूमिका षट्रस-सम्पन्न स्वादिष्ट भोजन के उपरान्त मान के पान या उदार दक्षिणा के समान ही तोषकारिणी होती है। भूमिका से दाता कवि का अभिप्राय प्रकट होता है।

भूमिका में कवि ने कहा है 'मेरी दृष्टि में पुरूरवा सनातन नर का प्रतीक है और उर्वशी सनातन नारी का।' किन्तु यह सनातन हैं, और आधुनिक भी। वास्तव में 'उर्वशी' के प्रेम-त्रिभुज की तीनों रेखाएं आधुनिक हैं। प्रेमी अपने अहंकार को भुला नहीं पाता, प्रणयिनी सन्तान को बाधा मानने के शाप से ग्रस्त है और परिणीता पछताती है कि परकीया के सम्मुख हार गई। प्रकृति और सन्यास के बीच पार्वती-परमेश्वर का संयोग 'उर्वशी' में घटित नहीं होता।

च्यवन के साक्षात् दर्शन तो नहीं होते, किन्तु हम उनके इस जीवन-दर्शन से परिचित हो सकते हैं कि वह मानवतावादी और नारी के प्रति करुणासापेक्ष है। दलिता नारी के प्रति सहानुभूति भी आधुनिक है। सुकन्या विधाता पर दोष लगाती है कि उन्होंने पुरुष-साक्षेप सृष्टि करके कठोरता, हिंसा और निर्मम संघर्षप्रियता को प्राधान्य दिया है। इसके विपरीत 'नारी के नेतृत्व में जगत् अधिक भाव-प्रवण और मृदुता से युक्त हो जाएगा।' यह भावना भी आधुनिक है। 'उर्वशी' आधुनिक है, इसलिए हमारे लिए उसका महत्त्व और भी अधिक हो जाता है।

— • —

रंगमंच की दृष्टि में उर्वशी

श्री वीरेन्द्रनारायण

कविमुख से ही पहले-पहल 'उर्वशी' के कुछ अंश सुनने का सौभाग्य मिला। दो मौकों पर दो अंश सुनने के बाद यह विश्वास घर कर गया कि इस रचना को रंगमंच पर प्रस्तुत किया जा सकता है। लेकिन हर किसी ने ऐसे प्रयत्न से निरुत्साहित ही किया। अपनी वासना से जूझते हुए मैंने इस पर लोगों को राजी कर लिया कि इसका नाट्य-पाठ हो सकता है। बात यहाँ से शुरू हुई।

नाट्य-पाठ के लिए एक संक्षिप्त रूप तैयार करना था। उस सिलसिले में छानबीन का मौका मिला। लेखक का दर्शन है कि रमणी के अधर पर अधीर चुम्बन करना और ईश्वर की आराधना करना परस्पर विरोधी तत्त्व नहीं हैं। मुझे स्वयं इस निरूपण में कोई दिलचस्पी नहीं। फिर भी यह रचना अच्छी लगी। जिस कारण अच्छी लगी उसे अगर रंगमंच पर उतार सका, दर्शकों तक पहुँचा सका तो साधारण जन को भी यह रुचेगी। कारण ये हैं—

१. हम सबके भीतर एक पुरूरवा और एक उर्वशी हैं। यदि हम दर्शकों को विश्वास दिला सकें तो वे भी उन्हें पहचान सकेंगे।

२. हमारे भीतर भी शरीर का आकर्षण अन्य आकर्षणों के साथ ही आता है। पुरूरवा का अंकुश किसी हद तक हम सभी पर छाया है।

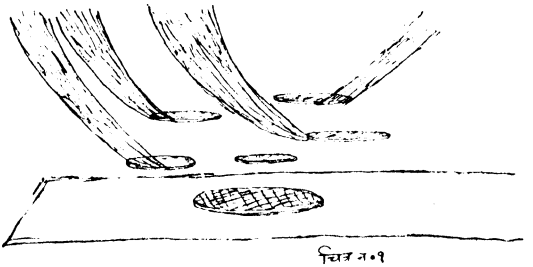
३. हम सभी अपनी प्रेमिका के बहाने अपनी कल्पना की नारी को ही प्यार करते हैं। अपनी पत्नी में हम जिसे प्यार करते हैं वह हमारे ससुर की बेटी नहीं होती।

४. हमारी जिन्दगी का भी यह अनुभव है कि हमें समझौता करना पड़ता है, आने वाली पीढ़ी के लिए रास्ता छोड़ना पड़ता है। यह और बात है कि कोई इसे रोकर करता है; कोई हँसकर खूबसूरती के साथ।

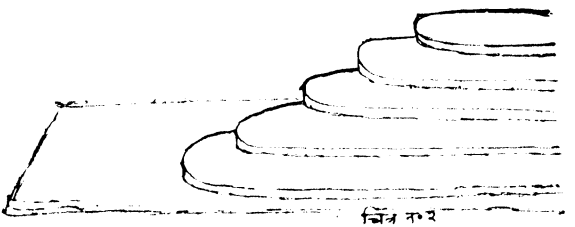
यानी ऐलवंशी पुरूरवा और सिन्धु-सुता उर्वशी की अपेक्षा अपने में मेरी अधिक दिलचस्पी है। फिर राजा, रानी उसकी राजधानी गन्धमादन पर्वत आदि

विवरण का कोई विशेष महत्त्व मेरे लिए नहीं रह जाता। इसी दिशा में मेरा दिमाग काम करता रहा और मैंने उर्वशी के रगमंच पर प्रदर्शन की निम्नलिखित रूपरेखा तैयार की।

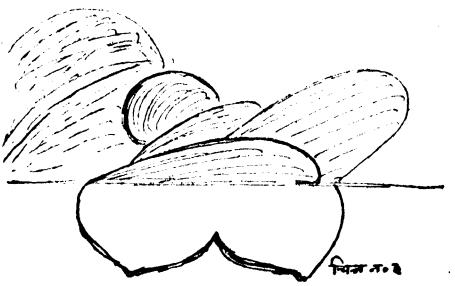
सबसे पहला सवाल था इस प्रदर्शन के लिए एक सेट तैयार करने का। स्पष्ट था कि ऐसे दृष्टिकोण वाले प्रदर्शन के लिए एक आकारवादी या अयथार्थवादी सेट के ही एक प्रकार को काम में लाया जा सकता था। एक तो स्थान निर्देश की विशिष्टता से छुटकारा मिल जाता है और दूसरा कि पूरे प्रदर्शन के विभिन्न टुकड़े एक-दूसरे में गुँथे क्रम की तरह निर्विरोध सामने आ सकते हैं जिससे एक संपूर्ण चित्र बनता है। दृश्य परिवर्तन के सभी प्रयत्न ऐसा व्यवधान उपस्थित करेंगे कि एकात्मता छिन्न-भिन्न हो जायगी। अभिनय की आवश्यकताओं को ध्यान में रख कर कागज पर जो थोड़े से डिजाइन उतार सका वे नीचे दिये गये हैं।



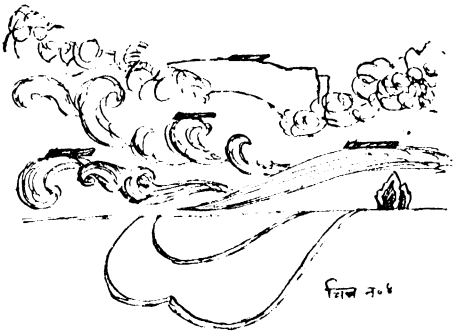
चित्र न०१



चित्र न०२



चित्र न०३



इन चारों चित्रों में एक बात समान रूप से पायी जाती है। रंगमंच की सतह से ऊपर अभिनय योग्य कुछ सतहों की बराबर कोशिश की गई है। कारण सीधा है। सारे नाटक के व्यापारों को मैं दो सतह पर निरूपित करना चाहता हूँ—एक तो रंगमंच की क्षैतिज सतह पर और दूसरा रंगमंच के ऊपर ऊर्ध्व सतह पर। ऊर्ध्व सतह में भी कुछ क्षैतिज सतह मिला दिये गये हैं। अभिनय की सहूलियत के साथ-साथ ये ऊर्ध्वगामी गति के विराम-स्थल, मील के पत्थर जैसे हैं जहाँ पुरूरवा और उर्वशी जीवन के व्यापार का लेखा जोखा लेते हैं। सीधी और नुकीली रेखाओं तथा सतहों का भी इसीलिए प्रयोग नहीं किया गया है। इस रचना में घुमाव है, मोड़ हैं पर उनमें एक तरह की तरलता है।

चित्र नं० ४ मेरे हृदय और मेरी अनुभूति के अधिक निकट पड़ता है। दर असल इसका आधा अंश तो उस कलाकार की उपज है जिसने किताब के लिए रेखाचित्र तैयार किए थे। इस सेट में एक प्रकार की गति है, एक प्रकार की छलना और संकेत जो मेरी समझ से नाटक के रस परिपाक की पुष्टि ही करेगा। हालांकि चित्र नं० २ में अभिनय की दृष्टि से अधिक स्वतन्त्रता है। चित्र नं० २ या इस तरह के अन्य सेट बड़े सपाट और खुले हैं। इनमें एक प्रकार की नग्नता है जो इस नाटक के साथ खप नहीं सकेगी क्योंकि मूलतः यह नाटक हमारे मन को नंगा कर देता ही है। जैसे चित्रकार मॉडल को नंगा चित्रित करते समय उससे दूर कुछ पर्दे, कुछ कपड़े बिखेर देता है उसी प्रकार एक प्रकार का आवरण इस नाटक के लिए अनिवार्य है।

मैंने सेटों की कल्पना करते समय साधक की ऊर्ध्वगामी चेतना से सम्बन्ध जोड़ने के लिए मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपुर आदि चक्रों के रंगों का उपयोग करना चाहा था। लेकिन उनके साथ सबसे बड़ी कठिनाई यह है कि रंगों की इतनी बड़ी-

बड़ी सशक्त सतहें बन जायेंगी कि दर्शकों की आंखों में पात्र अपनी उपस्थिति ही नहीं जमा सकेंगे। अभिनेताओं पर ध्यान केन्द्रित करने के लिए यह जरूरी है कि एक ऐसा दृश्यात्मक चित्र बने जिसमें सेट आदि पृष्ठभूमि का-सा महत्त्व प्राप्त कर सकें, उससे अधिक नहीं।

नाटक का संक्षिप्त रूप तैयार करने में मैंने च्यवन का आख्यान निकाल दिया है। लेखक के लिए यह आख्यान जरूरी था। पुरूरवा का अप्सरा के संग रमण और उसी अवस्था में ईश की आराधना करना महर्षि च्यवन के आख्यान में एक ऐतिहासिक पृष्ठभूमि पा जाता है। लेखक के दर्शन में मेरी कोई दिलचस्पी नहीं इसीलिए च्यवन का आख्यान मैंने निकाल दिया है। पुरूरवा, उर्वशी, ऐलवंशी आयु, उसका जन्म, लालन-पालन राज्याभिषेक और अंततः औशीनरी का आयु के रूप में पुत्र पाकर राजमाता बनना मेरे नाट्य-प्रदर्शन का कथानक सूत्र है। इसीलिए नाटक का अंत भी मैंने वहीं कर दिया है जहाँ औशीनरी आयु को छाती से लगा लेती है।

लेकिन यह तो फिर उल्टी-पुल्टी बात हो गयी। अच्छा हो कि इस कागज पर ही पूरे नाटक का प्रदर्शन उतार दिया जाय। जब नाटक शुरू होता है तो चित्र नं० ४ की क्षैतिज सतह पर हल्की नीली-सफेद रोशनी पड़ रही होती है। सूत्रधार और नटी, आधुनिक वेशभूषा में दर्शकों के बीच से ही रंगमंच की ओर बढ़ते हैं। कुछ पंक्तियों में वसंत की कुसुम विभा की चर्चा होती है और जब वे रंगमंच की सतह के करीब होते हैं तो 'गगन खोल कर बाँह विसुध वसुधा पर झुका हुआ है' कहता हुआ सूत्रधार नटी की ओर झुकता है। पर उनकी एकान्तता को क्वणन-क्वणन-स्वन छेड़ जाता है। फिर ज्यों ज्यों दोनों ज्योत्स्ना अप्सरियों की चर्चा कर रहे होते हैं उसी तरह, उसी लय में जिसमें क्वणन-क्वणन-स्वन हो रहा है, प्रकाश की किरणें ऊर्ध्व सतह वाले अंश को धीरे-धीरे आलोकित करने लगती हैं। जब नटी और सूत्रधार रंगमंच से हट जाते हैं तो सहसा बादलों के उन टुकड़ों के बीच मेनका, रंभा और सहजन्या दिखाई पड़ती हैं।

मैंने समवेत गान काट दिया है क्योंकि मेरे मत से संगीत का ऐसा पुट पंक्तियों का वजन बिगाड़ देगा। तीनों अप्सराएँ अपनी-अपनी सतह से एक-एक कर 'धुली चाँदनी·····', 'दूर-दूर तक·····' और—'आज शाम से ·····' कहती हुई नीचे उतर आती हैं रंगमंच की सतह पर। वहाँ अप्सरियाँ बात कर ही रही होती हैं, उर्वशी की अनुपस्थिति महसूस कर रही होती हैं जब चित्रलेखा आती है। फिर उर्वशी की कहानी संक्षेप में कह जाती है। यहाँ पुरुष की वेदना, नारी के विभिन्न

रूप और उनके महत्त्व का विवेचन आदि-आदि अंश निकाल दिए गये हैं क्योंकि ये तो किसी और की कहानी कह रही होती हैं। ये विचार अभी प्रमुख पात्रों के मुँह से आयेंगे ही तथा उनकी अपनी अनुभूति के रूप में अधिक प्रभावशाली होंगे।

इसी संबंध में यह कह देना अप्रासंगिक न होगा कि प्रथम अंक की बहुत सारी अच्छी पंक्तियाँ मुझे निकाल देनी पड़ीं। कविता की दृष्टि से यह पंक्ति—

गलती है हिमशिला, सत्य है, गठन देह की खोकर ;
पर, हो जाती वह असीम कितनी पयस्विनी होकर।

चाहे जितनी पायेदार हो, नाटकीयता की दृष्टि से औशीनरी का पुत्र-प्राप्ति की आशा में आत्महत्या से विमुख होना और अंत में आयु को पाकर तृप्त हो जाना इसी सत्य को अधिक प्रभावशाली बनाता है।

पुरूरवा और उर्वशी की इतनी चर्चा के बाद औशीनरी को लाना मैंने ठीक नहीं समझा। इसलिए लेखक के तीसरे अंक का एक हिस्सा पहले अंक के बाद शुरू हो जाता है। अप्सराओं के विलीन होते ही पुरूरवा और उर्वशी दिखाई पड़ते हैं। विद्यापति के दग्ध विलास की कई पंक्तियाँ ऐसे अवसर पर याद आ जाती हैं। लेकिन रंगमंच की अपनी सीमाएँ हैं। इसीलिए जब पुरूरवा और उर्वशी दिखाई पड़ते हैं तो पुरूरवा उर्वशी के केशपाश ठीक कर रहा होता है। उर्वशी मोतियों की टूटी माला हाथ में लिए है। इस तरह मेरे दिमाग की पंक्ति (टुटी छिड़ियाएल मोतिमहार —विद्यापति) तो मेरे लिए साकार हो जाती है और बाकी की ओर संकेत हो जाता है।

अपहरण आदि की चर्चा करते-करते शृंगार पूरा हो जाता है। जब ज्वलंत नर पर लटकते अंकुश की बात आती है तो पुरूरवा हंस कर ही अपने द्वन्द्व की चर्चा करता है। लेकिन धीरे-धीरे वह नीचे उतरता है और अपने लम्बे कथोपकथन को कुछ दर्शकों से, कुछ उर्वशी से और कुछ स्वगत भाषण की तरह कहता है। 'आग के बदले मुझे संतोष, बोलो कौन देगा ?'—पहले तो स्वगत भाषण की तरह कहता है, फिर दर्शकों से पूछता है और अंततः उर्वशी से।

उर्वशी की आँखों का निमंत्रण देखकर वह सीधा उर्वशी की ओर जाता है। 'मैं तुम्हारे वक्ष पर धर सीस' आदि कहता हुआ वह उर्वशी के सामने होता है। उर्वशी की आश्वासन भरी कुछ पंक्तियों से ही यह अंश मैं खतम कर देता हूँ।

इस संबन्ध में पुरूरवा की ही इन पंक्तियों की ओर ध्यान खींचना चाहूँगा—

'—बेचैन जा गिरता अकुंठित,
तीर-सा सीधे प्रिया की गोद में।'

उस स्थल पर इस वर्णन के बदले इस अंश के अंत में इसी कार्य कलाप को दिखलाना मेरे लिए अधिक उपयोगी होगा।

फिर औशीनरी वाला लेखक का दूसरा अंक लाता हूँ। यह बहुत ही कटा-छँटा है जिसमें औशीनरी की व्यथा की एक झाँकी मिलती है तथा पुरूरवा और औशीनरी के हृदय में संतान की कामना पर ध्यान जाता है। औशीनरी तथा निपुणिका अप्सराओं और गृहणियों की परस्पर तुलना करती हैं। दस मिनट का यह टुकड़ा पुरूरवा और उर्वशी के प्रेम व्यापार का दूसरा पहलू सामने रखता है। साथ-ही-साथ पुरूरवा की उस पारिवारिक तथा मानसिक पृष्ठभूमि की सृष्टि करता है जिसमें उसे देखना अधिक उपयुक्त होगा।

दूसरे अंक को इस तरह बीच में डाल देने का एक और कारण है। तीसरा अंक इतना लम्बा और दर्शन भरा है कि सिर्फ दो पात्र एक ही साथ इतना बड़ा टुकड़ा निभा नहीं पायेंगे और दर्शकों के लिए भी यह भारी हो उठेगा। इस तरह तीसरे अंक के भी सुविधाजनक टुकड़े बन जायेंगे और पहले अंक में पुरूरवा और उर्वशी के लिए जो उत्सुकता जगी है उसकी भी कुछ हद तक तुष्टि हो जायगी। तीसरे अंक का पहला टुकड़ा जो इस तरह पहले और दूसरे अंक के बीच में आ गया वह अपने मूल रूप की अपेक्षा छोटा है और मेरा विश्वास है कि दस-पन्द्रह मिनट से अधिक समय नहीं लेगा।

पुरूरवा और उर्वशी की ओर हमें फिर आना पड़ता है। बीच में एक टुकड़ा आता है जब दोनों समय की गति रोक देना चाहते हैं। यही अंश बीच वाले हिस्से का मेरुदंड है। इस छोटे से हिस्से की समाप्ति होती है पुरुरवा की पंक्ति से—'एक सघन क्षण में समेटने दो विस्तार समय का, एक पुष्प में भर त्रिकाल की सुरभि सूँघ लेने दो।' इस हिस्से का आरम्भ तो होता है पुरूरवा की ही पंक्ति से—'तुम मेरे बहुरँगे स्वप्न की मणिकुट्टिम प्रतिमा हो।' पंक्तियों का संकेत है कि इस समय उर्वशी की गति की भंगिमा-लहर भी प्रत्यक्ष हो।

इसलिए इस अंश में पुरूरवा खड़ा है और उर्वशी उसके पास इठलाती, बल खाती आती है। उसे इस तरह आती देखकर ही पुरूरवा कहता है :—

तुम मेरे बहुरँगे स्वप्न की मणिकुट्टिम प्रतिमा हो,
नहीं मोहती हो केवल तन की प्रसन्न द्युति से ही,
पर, गति की भंगिमा-लहर से, स्वर से, किलकिंचित् से,
और गूढ़ दर्शन-चिन्तन से भरी उक्तियों से भी।

इस अंश में पुरूरवा का प्रणय और प्रगाढ़ हो गया है। अब वह रुधिर के उद्वेलन की ही अनुभूति नहीं, मन के किसी कान्त कवि की भी अनुभूति पाने लगा

है। इस अंश में आगे चल कर ही इसका संकेत मिल जाता है कि पुरूरवा के वक्ष पर शीश धरे उर्वशी ये पंक्तियां कह रही होती है :—

वक्षस्थल पर, इसी भांति, मेरा कपोल रहने दो।

लेकिन उर्वशी अभी भी रक्त के उद्वेलन की ही परिधि में बात कर रही है। धीरे-धीरे चाँदनी और शशांक की चर्चा करती वह पुरूरवा को एक ओर ले जा रही है। पुरूरवा अनुभव करता है 'निश्चेत कहीं हम बहे चले जाते हैं'। उर्वशी पुरूरवा के संपर्क में समय की अनुभूति भी भुला देना चाहती है। जब पुरूरवा समय-सरिता को रुकने का आदेश देता है तो एक पुष्प और एक क्षण में त्रिकाल की सुरभि और समय का विस्तार समेटने का आयोजन करता-सा है। उसकी अंगों में चेष्टा है। तभी तीसरे अंक का यह दूसरा हिस्सा समाप्त है।

यहाँ एक बात की ओर ध्यान खींचना आवश्यक लगता है। उर्वशी और पुरूरवा के मिलन के प्रथम अंश में हर क्षण पुरूरवा पहले कदम बढ़ाता है। उसकी प्यास ज्यादा तीखी है। दूसरे हिस्से में उसकी प्यास पर उर्वशी धार चढ़ाती है। इसलिए पहले तो वह उकसाने और छेड़ने में व्यस्त रहती है। जब पुरूरवा पूरी तरह जग जाता है तो उर्वशी सिर्फ उसकी प्रतीक्षा करती है। पुरुष-स्त्री के परस्पर सम्बन्ध का वह उतार-चढ़ाव नाटकीयता की दृष्टि से कितना महत्त्वपूर्ण है इसकी विवेचना करने की जरूरत नहीं।

और इसके बाद तीसरा टुकड़ा आता है। यह जिन पंक्तियों से शुरू होता है वे ही इशारा करती हैं कि एक दूसरे से लिपटे दोनों ऊपर की ओर बढ़ रहे हैं। मेरे सेट की सबसे ऊँची सतह की ओर उनका यह बढ़ना होता है। वहाँ पहुँच कर जैसे दोनों एक दूसरे को सम्पूर्ण रूप से जान लेना चाहते हैं। इतनी देर बाद फिर यह प्रश्न सामने आता है—कौन पुरुष तुम ? और कौन मैं ? और जब दोनों एक दूसरे को जानने की स्थिति में होते हैं तो याद आता है कि वर्ष बीत गया और गन्धमादन पर्वत छोड़ना होगा।

उर्वशी और पुरूरवा के प्रणय के इन तीन हिस्सों के बारे में यह ध्यान देना जरूरी है कि निर्देशक या अभिनेत्री की हल्की-सी भी गलती से सारा व्यापार बड़े ही निम्नस्तर का हो जायगा और अभिनय क्षेत्र चाहे जितना भी ऊपर क्यों न हो, नाटक का स्तर बड़ा ही घटिया बन जायगा। दूसरी ओर यदि पुरूरवा और उर्वशी अलग-अलग रहे तो वह एकात्मता नहीं बन पायेगी जिसकी पृष्ठभूमि में ये पंक्तियां विशेष महत्त्व पा जाती हैं। साथ-ही- साथ जिस काल की यह चर्चा है उस समय की कुंठाएं आज की कुंठाओं से इतनी भिन्न हैं यदि उनका निर्वाह हो तो आज दर्शकों को अशोभन लगेगा और आज की स्थिति को ध्यान में रख कर अभिनय किया

जाय तो नाटक को ठेस लगेगी। इन दोनों के बीच का रास्ता निकालना होगा। और निर्देशक को बड़े ही कठोर संयम से काम लेना पड़ेगा क्योंकि इस अंक का निर्देशन बिल्कुल तलवार की धार है।

चौथा अंक अपने ही स्थान पर आता है। छोटे आयु को पालने में रख दिया जा सकता है। इस अंक में एक प्रकार का हल्कापन है जैसा छोटे बच्चे को प्यार करते समय औरतों में देखा जाता है। लड़के की चर्चा—पता नहीं बच्चा माँ पर पड़ेगा या बाप जैसा होगा—बड़ा होकर यह करेगा, वह करेगा इत्यादि! चिन्ता की पहली रेखा उर्वशी के आने पर ही दिखाई देती है। लेकिन सुकन्या जिस तरह आयु के लालन-पालन की चर्चा करती है कि पूरे अंक का स्वर फिर पहले जैसा चिन्ता रहित हो जाता है। सिर्फ उर्वशी की अन्तर्व्यथा, शाप का भय भीतर से झाँकता रहता है। यह तो पहले ही कहा जा चुका है कि इस अंक से च्यवन का पूरा आख्यान निकाल दिया गया है।

मैं नहीं जानता कि चौथे अंक को पढ़ते समय और लोगों पर कैसा प्रभाव पड़ता है। लेकिन नाटकीयता की दृष्टि से यह आवश्यक है कि तीसरे अंक के तीनों टुकड़ों और पाँचवें अंक की परिणति के बीच एक दृश्य ऐसा होना चाहिए जो तनाव को हलका कर दे। तभी पाँचवें अंक की परिणति का पूरा प्रभाव पड़ सकेगा।

पाँचवाँ अंक जैसा का तैसा रख लिया गया है। सिर्फ पुरूरवा के जाने के बाद जब औशीनरी आयु को छाती से लगा लेती है तो नाटक समाप्त कर देता हूँ। उसके बाद औशीनरी के बाकी संभाषणों का मेरे प्रदर्शन की दृष्टि से अधिक महत्त्व नहीं रह जाता।

इस अंक के प्रारम्भ में क्षैतिज सतह पर कुछ सैनिक पुरूरवा का सिंहासन रख देते हैं, पुरूरवा के आने के पहले कर्मचारी और पार्षद अपनी-अपनी जगह पर जम जाते हैं। अन्त में पुरूरवा उर्वशी के साथ आता है। उसके साथ उसके मन्त्री आदि प्रमुख लोग हैं। नाटकीयता की दृष्टि से यह अंक सरल भी है और प्रभावोत्पादक भी। क्योंकि नाटक के कथानक में एक प्रकार की तीव्रता आ जाती है। पुरूरवा अपना सब कुछ त्याग कर बन की राह लेता है। शायद चीखने-चिल्लाने, रोने-सिसकने की इस अंक में काफी गुंजाइश है। इसीलिए मैंने कहा—प्रभावोत्पादक भी।

किताब की रूपरेखा ऐसी है कि इसे लोकप्रिय बनाने के लिए प्रकाश और ध्वनिप्रभाव का समुचित प्रयोग तो करना ही पड़ेगा, बनाव-सिंगार पर जरूरत से

ज्यादा ध्यान देना पड़ेगा। एक अंश से दूसरे अंश का परिवर्तन प्रकाश और संगीत के माध्यम से अधिक प्रभावशाली बनाने की चेष्टा करनी पड़ेगी। अप्सराओं के दृश्य में उनकी क्रीड़ा-स्थली के रूप में उसी स्थल को स्वप्न जाल-सा रखना पड़ेगा। इसके लिए जालीदार-पर्दों का उपयोग करना पड़ेगा।

लेकिन इसके अलावा अभिनय के क्षेत्र में भी कुछ जरूरी बातों की ओर ध्यान खींचना आवश्यक लगता है। जब लड़कियों का ही दृश्य हो तो उसमें जानबूझ कर एक तरह का हल्कापन, चुलबुलापन भरना पड़ेगा। नाटक की दिशा ऐसी है कि पुरुष और स्त्री के संभाषणों में भयानक संयम रखना ही पड़ेगा। फिर जन साधारण की बोधगम्यता के लिए इसी तरह के कुछ उपाय किये जा सकते हैं। ध्यान रहे कि यह प्रयोग की चीज है और इस पर कोई सैद्धांतिक फतवा नहीं दिया जा सकता। प्रयोग के बाद ही इस पर अधिकार के साथ कुछ कहना संभव हो सकेगा।

— ० —

दिनकर : एक जनतंत्री विचारक

डा० देवराज

दिनकर एक जनतंत्री लेखक व विचारक हैं, इस तथ्य या मान्यता के कई पहलू हैं। लेखन व चिन्तन का एक पहलू अभिव्यक्ति है। पता नहीं लिखते समय लेखक के मन में पाठकों का ध्यान रहता है या नहीं, किन्तु यह निश्चित है कि प्रत्येक लेखक एक खास कोटि के पाठकों को रुचिकर लगता है। या यों कहिए कि हर लेखक की रचना विशेष कोटि के पाठकों के अनुभव को स्पष्ट व समृद्ध करने का उपकरण होती है। दिनकर की रचनाएँ प्रायः इस ढंग से प्रस्तुत की जाती हैं कि वे कम बौद्धिक जटिलता वाले पाठकों को भी ग्राह्य हो सकें। उनकी शैली एक खास तरह की स्पष्टता एवं शक्ति लिए रहती है उनकी रचना में केन्द्रगत भाव स्पष्ट व पुष्ट हो कर सामने आता है। छायावादी कवियों में दिनकर को कवि पन्त सबसे ज्यादा पसन्द रहे हैं—यह मैं एक पुराने वार्त्तालाप के बल पर कह रहा हूँ—पन्तजी की शैली भी स्पष्ट अर्थात् धुन्धहीन और ग्रहणीय केन्द्रगत गौरव से अनुप्राणित रहती है। किन्तु दिनकर पन्तजी की अपेक्षा अधिक जनतंत्री लेखक हैं, कारण यह है कि उनकी भावनाएँ तथा विचार व्यक्तिगत चेतना में केन्द्रित न होकर जन-जीवन से संपर्क रखने वाले होते हैं। यहाँ जन-जीवन से मतलब है, शिक्षित मध्य वर्ग का जीवन। भारत के स्वातन्त्र्य-संग्राम के बौद्धिक नेता मध्य वर्ग के शिक्षित लोग थे; उनकी चेतना के विधाता एवं प्रकाशक के रूप में दिनकर एक राष्ट्रीय कवि बन गये।

इधर मध्य वर्ग का मस्तिष्क अधिक पेचीदा बन गया है; वह लेखक से ज्यादा जटिल, विश्लेषणात्मक सम्वेदना व चेतना की माँग करने लगा है। इस माँग ने 'नील कुसुम' तथा 'उर्वशी' के रचयिता को भी प्रभावित किया है; किन्तु इन रचनाओं में भी दिनकर की दो विशेषताएँ, स्पष्टता तथा शक्ति, तिरोहित नहीं हो पाई हैं। 'उर्वशी' में दिनकर ने कुछ ज्यादा चिन्तन किया है, किन्तु इस चिन्तन का काफी अंश मांसल चित्रों में उतर सका है।

जनतंत्री लेखन का एक पक्ष सामाजिक विषय-वस्तु है, जिसकी महत्ता पर प्रगतिवादी समीक्षक ज़ोर देते रहे हैं। मतलब यह है कि लेखक में सामाजिक-शक्तियों तथा सम्बन्धों की और मानव-जीवन के सुख-दुःख के सामाजिक रूपों की चेतना होनी

चाहिए। दिनकर इस तरह की चेतना से सम्पन्न लेखक हैं। उनकी सम्वेदना का विकास सामाजिक एवं राष्ट्रीय उथल-पुथल की पृष्ठभूमि में अधिक हुआ है, मनोवैज्ञानिक तथा नैतिक-आध्यात्मिक व्यक्तिगत उलझनों के तनाव में कम। इन दृष्टियों से उनकी प्रतिभा 'उर्वशी' जैसा काव्य लिखने के लिए पचास-प्रतिशत ही अनुकूल रही है। पाठक को लगता है कि 'उर्वशी' में नायक-नायिका के द्वन्द्व को, चिन्तन द्वारा, कुछ ज्यादा सरल करके प्रकट किया गया।

गद्य-लेखक के रूप में दिनकर के विचारक व्यक्तित्व का जनतन्त्री रूप और भी निखर कर प्रकट हुआ है। आलोचक-विचारक एवं सांस्कृतिक चिन्तक दोनों रूपों में दिनकर का जनतंत्री रुझान एवं जनवादी या जन-संपृक्त विचारबोध, सहज ओज से प्रकट हुआ है। जनवादी भावबोध की विशेषता है ऐसे प्रश्नों व मसलों में रुचि लेना जो अपेक्षाकृत ज्यादा लोगों को छूते हैं। 'संस्कृति के चार अध्याय' के 'निवेदन' में कहा गया है : 'यह पुस्तक विद्वानों का उच्छिष्ट चुनकर तैयार की गई है, किन्तु इसे मैंने विद्वानों और विशेषज्ञों के पढ़ने के लिए नहीं लिखा है।' यहाँ लेखक ने कोशिश की है कि ज्यादा से ज्यादा उपयोगी सूचना-सामग्री पाठकों तक पहुँचा दे। किन्तु यह कथन कि पुस्तक विद्वानों के लिए नहीं है, लेखक की विनय मात्र है। विशेषतः उन स्थलों में जहाँ लेखक ने निजी व्याख्याएँ दी हैं, पुस्तक सभी कोटियों के पाठकों के लिए रोचक हो जाती है। दिनकर में उन सांस्कृतिक विशेषताओं एवं प्रभावों को देखने की विशेष क्षमता है जो कुछ व्यक्तियों के नहीं बल्कि जातियों के चरित्र से सम्बन्ध रखते हैं। इन प्रभावों को देखने की झोंक में लेखक ने पिछले सौ वर्षों के कतिपय सुधारक-विचारकों की ज्यादा प्रशंसा कर डाली है—जैसे स्वामी दयानन्द और राजा राममोहन राय की। इन तथा दूसरे (विवेकानन्द, अरविन्द) आदि विचारक-नेताओं की कमियों का वैसा आभास दिनकर को नहीं है जैसा कि इतिहास के एक अनुभवी अध्येता एवं व्याख्याता में होना चाहिये। (यह देखने की बात है कि पं० जवाहरलाल नेहरू ने अपने 'विश्व-इतिहास की झांकियाँ' तथा 'भारत-अन्वेषण' ग्रंथों में उक्त सुधारक-विचारकों का विशिष्ट उल्लेख नहीं किया है।) किन्तु, लम्बे इतिहास की पृष्ठ-भूमि में, उन्होंने इसलाम के प्रभाव का बड़ा रोचक विवेचन किया है। कुछ वक्तव्य देखने लायक हैं :—

"...दार्शनिक दृष्टि से प्रत्येक हिन्दू, स्वभाव से ही, कुछ वृद्धत्व लिए जन्म लेता है। भावुकता जवानी का गुण है और ऐतिहासिक दृष्टि से हिन्दू जवान नहीं थे।.....आज हिन्दुत्व में हम जो जवानी देखते हैं, वह योरोपीय संस्कृति के सम्पर्क से जगी है और उसकी अर्वाचीन भावुकता भी (रवीन्द्र, प्रसाद, पन्त,.....आदि में) इसी जवानी की उमंग है।" (पृ० ३५२)

"दार्शनिक धरातल पर जीवन के प्रत्येक आलोड़न को सत्य (माया नहीं ! ..... लेखक) मानने के कारण ही मुसलमानों में भावुकता आई होगी। आज भी मुशायरों में जाकर देखिए, शब्दों के छोटे से खेल पर, भावों की जरा सी बेचैनी पर मुसलमान श्रोता इस प्रकार विह्वल हो जाते हैं मानो उनके हाथ में कोई अलभ्य वस्तु आ गई हो।" (वही)

संभवतः मुसलमानों के साहित्यिक प्रभाव की यह व्याख्या दिनकर से पहले किसी विचारक ने नहीं दी। किसी भारी-भरकम किस्म के सांस्कृतिक विचारक को नीचे के वाक्य लिखने का साहस भी नहीं होगा :—

"जब इसलाम भारतवर्ष में आया, तब तक इस प्रकार की (अर्थात् 'गाथा-सप्तशती' 'अमरुक-शतक' जैसी) रचनाएँ यहाँ काफी लिखी जा चुकी थी ..... (जिनमें) .....जीवन के भोग्य रूपों का सरस बखान था। इसके भीतर छिपे-छिपे, एक प्रकार की भावुकता भी पलती आ रही थी जो लड़कियों की अदाओं पर न्योछावर होती थी, जो प्रेम के ऐहिक रूपों पर कुरबान थी, जो विरह के दाह से मुरझाने लगती थी एवं मिलन की वर्षा में भीगकर क्षण-मात्र में हरी हो जाती थी।"
(पृ० ३३५)

दिनकर को जनतंत्री विचारक कहने से यह मतलब नहीं समझना चाहिए कि उनके चिन्तन में बारीकी या उड़ान की कमी है ; यह जरूर है कि वह पुराने, आपत्तिजनक रूप में, हवाई या मेटाफ़िजिकल नहीं है। वस्तुतः इस बीसवी सदी में हवाई किस्म का चिन्तन—जैसा कि अरविन्द में पाया जाता है—संदेह की दृष्टि से देखा जाता है। कुछ उदाहरण—

'भारतीय वास्तु में प्राणवत्ता, पौरुष और वैराट्य था। ईरानी कला के लालित्य, नारीत्व और सूक्ष्मता का जब उसके साथ मिश्रण हुआ, एक नई कला का जन्म हो गया जो अत्यन्त मनोहर और अपूर्व था।'

'ताज में केवल वास्तु ही नहीं है। ····· मदुरा, तन्जोर, भुवनेश्वर और बोध गया में हिन्दू-वास्तु का जो पौरुष, प्राणवत्ता और वैराट्य साकार है, फतहपुरसीकरी, दिल्ली और आगरे में वही ईरानी लालित्य और प्रगतिमयता को अपनी गोद में उठाये हुए हैं।'

'हिन्दू-वास्तु का प्रभाव आकार की विराटता के कारण पड़ता है ; मुस्लिम-वास्तु का तफ़सीली बारीकी के कारण। एक में शक्ति की शोभा है, दूसरे में सौन्दर्य का सम्मोहन।'

इन वाक्यों में, और दिनकर की उक्त समग्र पुस्तक में, हिन्दी की जिस बढ़ी हुई शक्ति का आभास मिलता है, उसपर किसी भी हिन्दीभाषी को गर्व हो सकता है।

— ९ —

संस्कृति के चार अध्याय

श्री मन्मथनाथ गुप्त

इस पुस्तक[१] के पहले 'दिनकर' जी हिन्दी के एक श्रेष्ठ कवि के रूप में प्रसिद्ध थे, पर इस पुस्तक के प्रकाशन के बाद से वह एक गहन चिन्तक तथा बहुपठित मनीषी के रूप में, हिन्दी संसार ही में क्यों, भारतीय साहित्य में आ गए। लोगों का ध्यान इस पुस्तक की तरफ इस कारण हुआ कि जवाहरलाल नेहरू ने इसकी भूमिका लिखी है, जिसमें उन्होंने संस्कृति के सम्बन्ध में अपने सुलझे हुए विचार अत्यन्त संक्षेप में पेश किए हैं।

दिनकर जी ने भारतीय संस्कृति को चार अध्यायों में विभक्त कर उसकी सहिष्णुता, उदारता और सामासिकता को स्पष्ट करने की चेष्टा की है। उनका मुख्य प्रतिपाद्य विषय इस प्रकार है—"असल में अनेकान्तवाद भारतवर्ष की सबसे बड़ी विलक्षणता का नाम है जिसके अधीन यह देश एक हुआ है और जिसे अपना कर सारा संसार एक हो सकता है। अनेकान्तवादी वह है जो समझौते को अपमान की वस्तु नहीं मानता। अशोक और हर्षवर्धन अनेकान्तवादी थे, जिन्होंने एक धर्म मे दीक्षित होते हुए भी सभी धर्मों की सेवा की। अकबर अनेकान्तवादी था, क्योंकि सत्य के सारे रूप उसे किसी एक धर्म में दिखाई नहीं दिए, एवं सम्पूर्ण सत्य की खोज में वह आजीवन सभी धर्मों को टटोलता रहा। परमहँस रामकृष्ण अनेकान्तवादी थे क्योंकि हिन्दू होते हुए भी उन्होंने इस्लाम और ईसाइयत की साधना की थी और गान्धी जी का तो सारा जीवन ही अनेकान्तवाद का उन्मुक्त अध्याय था।'

यहाँ तक तो बहुत अच्छी बात है। पर भारतीय संस्कृति के सम्बन्ध में दिनकर जी के इस अध्ययन का एक स्पष्ट उद्देश्य भी मालूम होता है। वह यह है कि वह समझते हैं कि भारत विश्व का नेतृत्व कर सकता है। इसलिए उन्होंने भारतीयों को आत्मज्ञान दिलाने तथा अपनी पहचान कराने के लिए यह पुस्तक लिखी है। वह कहते हैं कि संसार को यह सिखाने से पहले कि शास्त्रार्थ में आँखें लाल-लाल

१ 'संस्कृति के चार अध्याय'—प्रकाशक—राजपाल एण्ड सन्ज, कश्मीरी गेट, दिल्ली, पृष्ठ ८९५ रायल अठपेजी, मूल्य १५ रुपये, सजिल्द।

कर लेना पाप है, हमें अपने आप से यह पूछना चाहिए कि कहीं आँखें लाल करके बहस करने का रोग हमें भी तो नहीं पकड़ रहा है। भारतीय संस्कृति विश्व-संस्कृति का नेतृत्व कर सकेगी, इस सम्बन्ध में उनका विचार बड़ा पक्का है। वह कहते हैं—"ऐसा लगता है, मानो विश्व की एकता को सम्भव बनाने के लिए, प्रकृति ने भारतभूमि में एकता का प्रयोग किया हो। यदि भारत की सामासिक संस्कृति सत्य है, तो एक दिन विश्व-संस्कृति एवं विश्व-मानवता की कल्पना भी सत्य होगी। भारत ने मार्ग बता दिया है। वह सत्य और अहिंसा का मार्ग है।"

लेखक मानते हैं कि ईसाइयत, इस्लाम, यहूदी और पारसी धर्म का भारत पर उतना ही अधिकार है, जितना हिन्दुत्व और बौद्ध धर्म का। विश्व को शिक्षा देने के सम्बन्ध में दिनकर जी जो कुछ सोचते हैं, वह कोई आज की बात नहीं है। अत्यन्त प्राचीन काल से भारत में कुछ लोग यह विचार रखते थे—

एतद्देश प्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः।
स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवाः॥

आधुनिक काल में 'डायट्शलैंड थिबेर आलेस' के रूप में इसका एक रूप देखने में आया था।

दिनकर जी ने कवीन्द्र रवीन्द्र के जिस उद्धरण से इस पुस्तक का आरम्भ किया है, उसमें भारत में आए हुए, सब उपादानों के ऋणों को स्वीकार तो किया गया है, पर उस बचन में विश्व को शिक्षा देने की कोई बात नहीं है। यद्यपि साथ ही न्याय करने के लिए यह बता दिया जाय कि विवेकानन्द, रवीन्द्र, अरविन्द आदि सभी अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति प्राप्त अध्यात्मवादी भारतीय यही स्वप्न देखा करते थे और यह तब जब भारत पराधीन था। इसलिए स्वतन्त्र भारत के कवि-राजनीतिज्ञ दिनकर यदि यह स्वप्न देखते हैं तो यह बहुत अस्वाभाविक नहीं है।

कवीन्द्र रवीन्द्र के उद्धरण का अनुवाद इस प्रकार है—'भारत देश महा-मानवता का पारावार है। ओ मेरे हृदय! इस पवित्र तीर्थ में श्रद्धा से अपनी आँखें खोलो। किसी को भी ज्ञात नहीं कि किसके आह्वान पर मनुष्यता की कितनी धाराएँ, दुर्वार वेग से बहती हुई कहाँ-कहाँ से आईं और इस महासमुद्र में मिलकर खो गईं। यहां आर्य हैं, यहां अनार्य हैं, यहाँ द्राविड़ और चीनी वंश के भी लोग हैं। शक, हूण, पठान और मोगल, न जाने कितनी जातियों के लोग इस देश में आए और सब के सब एक ही शरीर में समा कर एक हो गए। समय-समय पर जो लोग रण की धारा बहाते हुए एवं उन्माद और उत्साह में विजय के गीत गाते हुए रेगिस्तान को पार कर एवं पर्वतों को लाँघ कर इस देश में आए थे, उनमें से किसी का भी अब

अलग अस्तित्व नहीं है। वे सब-के-सब मेरे भीतर विराजमान हैं। मुझसे कोई भी दूर नहीं है। मेरे रक्त में सब का सुर ध्वनित हो रहा है।"

पर संस्कृति के चार अध्यायों में जो विचार ताने-बाने के रूप में चलते हैं वे केवल इस ऋण-स्वीकृति से भिन्न हैं। एक तो यह कि यहाँ आक्रमण करके अथवा अन्य प्रकार से आने वाले लोगों के विचारों का भारतीय संस्कृति में एक सुन्दर समन्वय है, और दूसरे यह कि वह समन्वय इतना उच्च कोटि का है कि आज नहीं तो कल, कल नहीं तो परसों सारे विश्व को इस समन्वय को स्वीकार करना पड़ेगा। कहना न होगा कि इसमें पहली बात से दूसरी बात तर्कसंगत रूप से निकलती ही हो, ऐसी बात नहीं।

पहले हम सामासिक संस्कृति वाली बात को ही लें। दिनकर जी कहते हैं—'यह आग्रह निस्सार है कि हिन्दुओं का सारा धर्म और सारी संस्कृति वेदों से निकली है। यह अभिमान व्यर्थ है कि जो जातियाँ बनों में रहती हैं अथवा जो सवर्ण समाज के जूतों के पास बैठी हुई हैं, उनके बाप-दादों से आर्यों ने कोई भी ज्ञान अथवा धर्म का कोई भी उपकरण उधार नहीं लिया। आर्यों के आने से पूर्व, भारत असभ्य था तथा धर्म और सभ्यता यहाँ आर्यों ने फैलाई, यह भी मिथ्या अहंकार है, क्योंकि सभ्यता में द्राविड़ जाति के लोग आर्यों से बढ़े-चढ़े थे और शरीर से हार कर भी, संस्कारों के द्वारा उन्होंने आर्यों को प्रभावित किया।' पर साथ ही वह यह भी कहते हैं कि 'बाहर से आने वाले जिस जनसमूह का जो सांस्कृतिक स्तर था आर्यों के यहाँ उसे उसका अनुरूप स्थान मिल गया।'

क्या यह बात सत्य है ? क्या सचमुच ही आर्यों के यहाँ सबको अपना-अपना उपयुक्त स्थान मिला ? हम इस बात के लिए बाहर न जाकर दिनकर जी की पुस्तक से ही प्रमाण ढूंढेंगे। वह कहते हैं—'केवल बनवासी ही नहीं, गाँवों के पास रहने वाली अनेक निम्न जातियों के लोगों का जो अत्यन्त विशाल समुदाय है (जैसे डोम, मुइयां, मुसहर आदि) वह आग्नेय भंडार से आया है। उनमें से कुछ ही हैं जिन्होंने अपनी भाषा को कायम रखा है। बाकी लोगों ने अपने मालिकों की भाषा सीख ली है अथवा कंजरों के समान कुछ घुमक्कड़ जातियाँ भी हैं जिनकी भाषा में अनेक भाषाओं का मिश्रित रूप है।'

यहाँ पर विशेष रूप से इस वाक्य की ओर ध्यान आकृष्ट करना चाहूँगा—'बाकी लोगों ने अपने मालिकों की भाषा सीख ली है।' क्या यही सामासिकता है कि लोगों को अपनी भाषा छोड़कर विजेताओं की भाषा सीखनी पड़े ? और चलिए, पुस्तक के पृष्ठ २७ पर यह वाक्य आता है—'आर्यों की जाति बड़ी पराक्रमी थी। सभ्यता में आर्य, शायद द्राविड़ों से नीचे थे, क्योंकि किसी खास जगह पर जमकर

कुछ सदियों तक रहने का उन्हें सुयोग नहीं मिला था। किन्तु उनमें मेधा, भावुकता और वीरता कूट-कूट कर भरी थी। वे भारत में आकर द्राविड़ों और आष्ट्रिकों पर विजयी हुए और विजय पाने के बाद उन्होंने समाज का एक ऐसा ढांचा खड़ा किया, जिसमें सभी जातियाँ आसानी से अपनी-अपनी जगह बनाकर बैठ गईं और आर्यों के नेतृत्व में सांस्कृतिक समन्वय का वह अद्‌भुत कार्य आरम्भ हुआ, जिस पर हम आज भी आश्चर्य करते हैं और जिसका परिणाम हमारा यह पुरातन भारतीय अथवा हिन्दू-समाज है।'

अब यहाँ पर सामासिकता का एक और पहलू सामने आता है। सभ्यता में द्राविड़ ऊँचे थे (अवश्य उसमें एक 'शायद' जुड़ा हुआ है) पर विजयी आर्य हुए और उन्होंने अपनी भाषा भी विजितों पर लाद दी। पुस्तक के पृष्ठ २१ में यह तथ्य दिया गया है—'भाषा की दृष्टि से देखने पर इस देश में ७६·४ फी सदी आर्य-भाषी, २०·६ फी सदी द्राविड़ भाषी तथा ३ फी सदी शबर-किरात-भाषी हैं।' क्या यही वह सामासिकता है जिसकी शिक्षा हम विश्व को देना चाहते हैं? और उदाहरण लीजिए। आग्नेय जाति के लोग कैसे थे, और उनका क्या हुआ यह पृष्ठ ३६ पर इस प्रकार बताया गया है—'आज के आदिवासियों के ही समान वे थोड़ी कमाई से ही संतुष्ट होकर जीने के अभ्यासी थे। इसलिए, वे संचय बढ़ा कर बड़े ग्राम या नगर बसाने की ओर प्रवृत्त नहीं हुए। वे जो वनों में जा बसे, उसका कारण सिर्फ यही नहीं था कि द्राविड़ों या आर्यों ने उन पर अत्याचार किया और वे नगरों से निकल कर वनों में चले गए, बल्कि यह भी कि वन में रहकर कृषिकर्म द्वारा जीवन-निर्वाह करके जिन्दगी को सरल-सीधे ढंग से गुजार देने की उन्हें आदत पड़ गई थी।' उसी पृष्ठ पर द्राविड़ों के साथ आर्यों ने क्या बर्ताव किया उसकी भी झलक दी गई है। 'इसका प्रमाण यह भी है कि आर्य अपने देवता इन्द्र को पुरन्दर कहते थे। पुरन्दर का अर्थ है, पुरों यानी नगरों का नाश करने वाला। अवश्य ही, नगरों के ये अधिपति द्राविड़ थे, जिनके खिलाफ लड़ने और जिनके नगरों का विध्वंस करने के कारण आर्यों ने अपने सब से बड़े देवता को पुरन्दर नाम दिया।'

क्या हिन्दू संस्कृति की पाचन-शक्ति से यही मतलब है? यह सब होते हुए भी दिनकर जी कहते हैं—'असल में जातिवाद के रूप में आर्यों ने समाज के भीतर एक 'गैलरी' खड़ी कर दी, जिसमें नीचे से ऊपर तक सभी श्रेणियों के लोग अपनी-अपनी हैसियत के अनुसार आसानी से बैठ सकते थे।' इसके बाद इस प्रकार इसकी कुछ लीपा-पोती सी की जाती है—'जब मुसलमान इस देश के राजा हुए तब दरबारों में सिर्फ उन्हीं हिन्दुओं की इज्जत होती थी जो फारसी जानते थे, जो रहन-सहन

और पहनावे-ओढ़ावे में मुसलमान सुलतानों की नकल करते थे। यहा हाल अंग्रेज़ों के जमाने में भी था, क्योंकि अंग्रेज उन्हीं हिन्दुस्तानियों को आगे बढ़कर अपनाते थे जो अंग्रेज़ी बोल सकते थे तथा जिनका पहनावा-ओढ़ावा अंग्रेज़ों के समान था। आर्य इस देश में विजेता बन कर आए थे और जो बात मुसलमानी या अंग्रेज़ी राज्य के ज़माने में यहाँ देखने में आई, वह थोड़ी बहुत मात्रा में आर्यों के आगमन के समय भी रही होगी। अगर भारत का आर्यीकरण आर्यों का ध्येय रहा हो, तो जाति की प्रथा ने इसमें भी उनकी भरपूर सहायता की होगी, क्योंकि जातिवाद का नेतृत्व ब्राह्मणों के हाथ में था और पुरोहित की मंजूरी के बिना जाति बदलना कठिन होता होगा। जो लोग आर्यों के रस्म-रिवाज, रहन-सहन और उनके सामाजिक आचार आदि को सीख लेते थे, जाति की गैलरी में उनकी तरक्की आसानी से हो जाती थी। यह बात इससे भी सिद्ध है कि सुयोग्य द्राविड़, आरम्भ से ही, ब्राह्मण मान लिए गए थे, और आरम्भ से ही, उनमें से अनेक लोग केवल द्राविड़ों के ही नहीं, आर्यों के भी पुरोहित का काम करने लगे थे। जातिप्रथा के चालू करने में आर्यों का यह उद्देश्य नहीं था कि वे द्राविड़, आष्ट्रिक अथवा नीग्रो समाज की छूत से बच सकें, बल्कि, यह कि इन तमाम जातियों के लोगों को वे आर्य सभ्यता में रंगना चाहते थे। और जो भी उनकी सभ्यता सीख लेता था, समाज में उसकी उन्नति आसानी से हो जाती थी। यह प्राचीन संस्कार आज भी हिन्दू-समाज में अपना काम कर रहा है और हम आए दिन देखते ही रहते हैं, कि जो हीन जातियाँ ऊपर उठना चाहती हैं, वे अखाद्य खाने और अपेय पीने की आदत तथा अन्य कुरीतियों को छोड़कर जनेऊ धारण कर लेती हैं तथा कोशिश करने लगती हैं कि समाज उनकी गिनती द्विजों में कर ले।'

इस उद्धरण में "जो भी उनकी सभ्यता सीख लेता था, समाज में उनकी उन्नति आसानी से होती थी।" द्रष्टव्य है। प्रश्न यह है कि क्या साम्राज्यवादी कुछ और करते हैं? यह भी ऐतिहासिक तथ्य है कि विजितों को मुख्यतः निम्न जातियों में ही स्थान मिला। इसमें भी भारत की कोई विशेषता नहीं है। ऐसा ही सारे संसार के इतिहास में हुआ। भूतकाल में संस्कृतियों और भाषाओं के प्रचार तथा प्रसार के इस गूढ़ दृश्य पर पर्दा डालने या उसे और ही रंग में पेश करने की चेष्टा और कुछ भी हो इतिहास विरुद्ध है। जो भी हो जिस संस्कृति ने ६ करोड़ अछूत और दो करोड़ आदिवासियों के रूप में (अब तो इनकी संख्या बढ़ गई होगी) कई करोड़ लोगों को पिछड़ेपन के सबसे निम्न स्तर पर रखा, उसके सम्बन्ध में अति गौरव की अनुभूति स्वस्थ नहीं कही जा सकती। भारतीय संस्कृति में स्त्रियों के साथ जो व्यवहार शताब्दियों के दौरान में किया गया, उसका मैं इस प्रसंग में जिक्र नहीं

करूँगा, क्योंकि दिनकर जी ने इस वृहत्कलेवर पुस्तक में वह प्रसंग उठाया ही नहीं, यद्यपि मेरी तुच्छ बुद्धि में किसी संस्कृति की यह एक प्रधान कसौटी है कि उसमें स्त्रियों का क्या स्थान है।

इसके अलावा व्यक्ति की तरह ही किसी संस्कृति पर राय कायम करते समय हम केवल उसके 'वसुधैव कुटुम्बकम्' आदि वाक्यों और बौद्धिक उड़ानों को ही नहीं देख सकते, बल्कि हमें यह देखना पड़ता है कि वस्तुतः उसका आचरण क्या है, उसमें 'वैरगेल्ड' की पद्धति क्या है, समाज में कौन से नियम बरते जाते हैं। जब इस दृष्टि से देखते हैं तो हम पाते हैं कि याज्ञवल्क, व्यास, आंगिरस, विष्णु आदि संहिताओं के अनुसार एक ही अपराध—जैसे बलात्कार—के लिए भिन्न-भिन्न जातियों के लिए भिन्न-भिन्न सजाओं की व्यवस्था है। कौटिल्य के अर्थ-शास्त्र के समय भी यह भेदभाव था। कोई आश्चर्य की बात नहीं कि दिनकर जी इन पहलुओं पर चुप्पी साध गए हैं।

द्वितीय अध्याय में दिनकर जी ने प्राचीन हिन्दुत्व से विद्रोह, जैन धर्म, बौद्ध धर्म आदि को गिनाया है और उनके सम्बन्ध में बहुत अच्छा विवरण दिया है। यह अध्ययन बहुत ही सुन्दर है।

तीसरे अध्याय में हिन्दू-संस्कृति और इस्लाम पर विचार किया गया है। लेखक कहते हैं कि मुसलमान जहाँ-जहाँ गए वहाँ-वहाँ उन्होंने जनता के सामने तीन रास्ते रखे: 'या तो कुरान लो और इस्लाम को कबूल करो, या आधीनता स्वीकार करो, अथवा दोनों में से कोई बात पसन्द नहीं हो तो तुम्हारे गले पर गिरने के लिए हमारी तलवार प्रस्तुत है।' पर एक तलवार के ही कारण इस्लाम का सारा प्रसार सम्भव हुआ यह भी दिनकर जी नहीं मानते। इसलिए वे बहुत ब्योरे में जाकर यह दिखलाते हैं कि जो लोग भारत में इस्लाम का झण्डा हाथ में लेकर आए उन्होंने भले ही इस्लाम की बाहरी बातें अपनाई हों, पर वे इस्लाम के तथ्य को अच्छी तरह नहीं समझते थे, नहीं तो इस्लाम बड़ा ही ऊँचा धर्म था। 'बर्बरता उसमें तब आई जब तातार लोगों ने उसमें प्रवेश किया। भारत में इस्लामी अत्याचार के कुछ मनोरंजक पहलू सामने आते हैं। पहली बात तो यह है कि गज़नी और गौरी के साथ जो इस्लाम भारत पहुँचा, वह वही इस्लाम नहीं था जिसका आख्यान हज़रत मुहम्मद और उनके शुरू के चार खलीफों ने किया था अथवा जो इस्लाम गज़नी के आक्रमण के पूर्व सौदागरों और फकीरों के साथ भारत के पश्चिमी तटों पर उतरा था तथा गज़नी और गौरी जैसे मुसलमान इस्लाम के सेवक नहीं थे, उनमें दूसरों का धन लूट कर आनन्द मनाने की भावना ही प्रधान थी।' इसी कारण दिनकर जी कहते हैं कि

भारत के मुसलमानों का अत्याचार इतना भयानक रहा कि सारे संसार के इतिहास में उसका जोड़ नहीं मिलता। सच तो यह है कि यहाँ पर आकर दिनकर जी का उग्र आशावाद कुछ क्षीण हो जाता है और वह सामासिकता के पक्ष में अपने को एक ऐसे वकील के रूप में पाते हैं, जिसे किसी-न-किसी तरह अपने मामले की पैरवी करनी ही है। हम आगे चल कर देखेंगे कि यद्यपि इस पुस्तक का आरम्भ आशावाद से होता है, तो भी इसका अन्त सब धाराओं के साथ कोई समन्वय न कर पाने के कारण एक ट्रेजेडी के रूप में हुआ है। आगे हमें इस सम्बन्ध में एक दो शब्द और कहने का मौका मिलेगा।

चौथा अध्याय भारतीय संस्कृति और यूरोप के सम्बन्ध में है। अपेक्षाकृत आधुनिक इतिहास से सम्बन्ध रखने के कारण यह अध्याय बहुत ही दिलचस्प है। यद्यपि लेखक मुख्यत: विचारधारा और संस्कृति पर ही बातचीत करते हैं, फिर भी वह कई बार हमें बहुत मूल्यवान सूचनाएँ दे जाते हैं। वह स्वामी दयानन्द, राजा राममोहन राय, थियोसोफिकल सोसाइटी, परमहंस रामकृष्ण, अरविन्द, राधाकृष्णन, गान्धी आदि सब पर कुछ-न-कुछ कहते हैं। उनके मूल्यांकनों से भले ही कोई सहमत न हो पर उनकी सूझों की मौलिकता और विद्वत्ता सर्वत्र झलकती है। कुछ उदाहरण दिए जाएँ : वह स्वामी दयानन्द पर कहते हैं 'यह विस्मय की बात है कि स्वामी जी ने संहिताओं को तो प्रमाण माना, किन्तु उपनिषदों पर वही श्रद्धा नहीं दिखाई।'

इस अध्याय में बाबू भगवानदास की सेवाओं का उल्लेख न होना खटकता है। सारी बातें कहने के बाद लेखक कहते हैं—'गान्धी, रवीन्द्रनाथ, राधाकृष्णन और जवाहरलाल में हम इस आशा को गतिशील पाते हैं कि भारत के पास जो सन्देश है, भारत के पास जो दीर्घकालीन अनुभव हैं, उनसे सारे विश्व का कल्याण हो सकता है।"

पर उन्होंने जो तथ्य सामने रखे हैं क्या उनसे भारत के विशेष सन्देश की बात सिद्ध होती है? स्वामी विवेकानन्द पर दिनकर जी ने जो कुछ लिखा है उसमें से यह वाक्य उनकी विशेष व्याख्या का प्रतिनिधित्व करता हुआ माना जा सकता है—"स्वामी विवेकानन्द संसार में घूम कर देख चुके थे कि नई मानवता कितनी उच्छल और बलवती है। उसकी तुलना में भारत के लोग उन्हें बौने और बीमार दिखाई दिए। अतएव भारत में उनके अधिकांश उपदेश शारीरिक उन्नति, साहस, सेवा और कर्म की महत्ता सिद्ध करने को दिए गए। भारतवर्ष को वे क्षीण और कोमलवपु संन्यासियों का देश बनाना नहीं चाहते थे।"

पर इससे क्या सिद्ध होता है कि भारत को दूसरों से सीखना है या सब को

सब से। भारत के विशेष सन्देश की बार-बार दुहाई देते रहने पर भी हमारे अध्यात्मवाद की पोल दिनकर जी की कलम से निकल ही जाती है : "पण्डित ही निवृत्ति के पर्दे में प्रवृत्ति का रस लेते हैं, बाहर त्याग का उपदेश देते हैं, संसार को निस्सार बताते हैं और भीतर उसे सारपूर्ण मान कर उसका उपभोग करते हैं। किन्तु, जिसका मुकदमा बहुत ही कमजोर है, पर इस दगाबाजी से जनसाधारण मारा जाता है।" अन्यत्र ये वाक्य हैं : "प्रत्येक हिन्दू मां के पेट से ही इस विश्वास को लेकर आने लगा कि परलोक की साधना सब से श्रेष्ठ सुकर्म है, चाहे लोक हमारे हाथों से छूट ही क्यों न जाए। इसीलिए कंठीमाला, आरती और घंटे में मग्न हिन्दुओं को यह बात कभी अखरी ही नहीं कि उनका देश पराधीन है अथवा वे निर्धन और दरिद्र होते जा रहे हैं। यह विचित्र बात है कि धर्म को अफीम कहने वाला चिन्तक यूरोप में जन्मा जब कि धर्म ने सबसे अधिक विनाश हिन्दुओं का किया है।" इससे भी विचित्र बात यह है कि सैकड़ों वर्षों तक गुलाम रहने पर भी और अपने यहाँ के एक चौथाई लोगों के गले में अस्पृश्यता का तौक और पैरों में पिछड़ेपन की बेड़ियां डाल देने पर भी हम जगद्गुरु बनने का दावा करते हैं।

पुस्तक के अन्तिम पृष्ठों में दिनकर जी पाकिस्तान बन जाने और मुसलमानों के एक बहुत बड़े अंश को किसी भी प्रकार सामासिक संस्कृति में नहीं ला पाने के कारण बहुत चिन्तित और दुखी दृष्टिगोचर होते हैं। इस्लाम के सम्बन्ध में अनेक अल्पज्ञात तथ्य इस पुस्तक में संग्रहीत हैं, जिन्हें जानना बहुत आवश्यक है। दिनकर जी ने जिन मुसलमानों को सामासिक संस्कृति पर ईमान लाते हुए गिनाया है, उनमें से उर्दू कवि 'जोश' पुस्तक छपते-छपते भारत छोड़कर पाकिस्तानी बन चुके थे। मतभेद होने पर भी मैं यह कहने का साहस करूँगा कि पुस्तक में लेखक ने विद्वत्ता, मननशीलता, योग्यता, साथ ही परस्पर असामंजस्ययुक्त तथ्यों में सामंजस्य लाने की, जो महान् प्रतिभा दिखलाई है, वह बहुत ही विचित्र है।

इस पुस्तक को भारतीय संस्कृति का एक विश्वकोष कहना अत्युक्ति न होगी। अनेकान्तवादी दिनकर कभी यह नहीं चाहेंगे कि सभी उनके उपसंहारों से सहमत हों। मुझे तो इतिहास के एक विनम्र छात्र के नाते यह ज्ञात होता है कि स्पेन, चीन और अन्य देशों को तातारों के इस्लाम (स्पेन के क्षेत्र में मराकश मार्का इस्लाम) तथा अन्य धाराओं का सामना करना पड़ा। स्पेन ने एक रूप में उन्हें सुलझाया, चीन ने दूसरे रूप में। उनमें से किसी के सम्बन्ध में अन्तिम शब्द कभी भी नहीं कहे जा सकते। पर ऐसा मालूम होता है कि उन्होंने विभिन्न सांस्कृतिक प्रभावों को हम से अधिक सुन्दरता से पचाया है। जहाँ तक मैं देख पाता हूँ सब

संस्कृतियों का समन्वय अपने आप धर्म में डटे रहकर नहीं होगा, बल्कि कट्टरता छोड़कर, उससे ऊपर उठकर वस्तुवादी आधारयुक्त नैतिक स्तर पर होगा। पुस्तक के प्रतिपाद्य विषय से चाहे कोई सहमत हो या न हो, इस पुस्तक में जो सामग्री भारत की संस्कृति और इतिहास के सम्बन्ध में एकत्र करके रख दी गई है वह इतनी विशद और विचित्र है तथा सैकड़ों पुस्तकों से बूँद-बूँद करके चुआई हुई है कि संस्कृति या इतिहास का कोई भी गम्भीर विद्यार्थी इसकी अवज्ञा नहीं कर सकता। मुझे तो पता नहीं कि किसी भारतीय भाषा में इतनी ठोस सामग्री कहीं एक जगह एकत्र भी है? आशा है इस पुस्तक से हमारी संस्कृति और इतिहास के मूलस्रोतों के सम्बन्ध में जिज्ञासा बढ़ेगी। यदि इतना भी हो, तो वह बहुत बड़ी बात है।

— ० —

संस्कृति की सामासिकता और दिनकर

श्री राजेन्द्र द्विवेदी

यह ठीक है कि एक पूर्वाग्रह को लेकर चलने वाला कोई भी ऐतिहासिक अध्ययन, भले ही वह राजनीतिक इतिहास का अध्ययन हो या सांस्कृतिक इतिहास का—वैज्ञानिक नहीं माना जा सकता, किन्तु यह बात दिनकर के 'संस्कृति के चार अध्याय' पर लागू नहीं होती। इसका अर्थ यह नहीं है कि दिनकर द्वारा किये गए भारतीय सांस्कृतिक इतिहास के इस अध्ययन के पीछे कोई पूर्व-धारणा नहीं थी, किन्तु उन्होंने जो पूर्वकल्पना चुनी है, वह स्वतः सिद्ध और तथ्यपूर्ण है। सामासिकता भारतीय संस्कृति की एक इतिहास-सिद्ध और सर्वमान्य विशेषता रही है। दूसरे संस्कृति के क्षेत्र में दिनकर का दृष्टिकोण संकुचित नहीं, बल्कि बड़ा उदारतावादी है। भारतीय संस्कृति कुछ परिच्छिन्न लोगों के उपयोग के लिए सीमित घरेलू क्रीडासर नहीं, बल्कि हजारों मीलों तक अबाध बहने वाली भागीरथी है, जो देश-काल के अनुसार तीव्र और मन्थर गति ही नहीं अपनाती रही है, बल्कि तदनुसार अपने स्वरूप को भी व्यापक और संकुचित करती रही है और रास्ते में पड़ने वाले सभी प्रवाहों या प्रभावों को आत्माकार करके अपना कलेवर पुष्ट करती रही है।

जैसा श्री जवाहरलाल नेहरू ने ग्रंथ की प्रस्तावना में कहा है कि भारत में बसने वाली कोई भी जाति यह दावा नहीं कर सकती कि भारत के समस्त मन और विचारों पर उसी का एकाधिकार है। भारत आज जो कुछ है, उसकी रचना में भारतीय जनता के प्रत्येक भाग का योगदान है। नेहरू जी ने इसे एक बुनियादी बात माना है।

और यही बुनियादी बात दिनकर के पूरे अध्ययन का मेरुदण्ड है। लेखक के निवेदन में भी इसी की प्रतिज्ञा है। ग्रंथ के चारों अध्यायों में उसी का निरूपण है है और इतने से (लगभग साढ़े छः सौ पृष्ठों में यह सब कहकर भी) लेखक को सन्तोष न हुआ, तो एक परिशिष्ट भी इसी समस्या के निदान और समाधान में दिया गया है।

ये बुनियादी बातें आज छः वर्ष बाद भी वैसी ही हैं। भावात्मक एकता के लिए जो प्रयत्न आज राष्ट्रीय मंच पर किये जा रहे हैं, वे भी विविधता में एकता की मूल भावना को लेकर ही चलते हैं। हम न कभी एकात्मक राष्ट्र रहे हैं और न हो सकते हैं। हमारे संविधान का रूप भी एकात्मक नहीं, संघीय है। इसलिए पहले तो हमें अपनी इस सर्वव्यापी विविधता को मान्यता देनी होगी। जो वास्तविकता है, उसे स्वीकार करना होगा और फिर यह भी देखना होगा कि सर्वव्यापी विविधता इतनी प्रबल न होने पाए कि वह एकता का सर्वग्रास ही कर जाए। यही 'संस्कृति के चार अध्याय' का प्रतिपाद्य है। पहले हम ऐसी विभिन्न विशेषताओं के बारे में दिनकर के विचार ग्रथित करने का प्रयास करेंगे और फिर उनके परिप्रेक्ष्य में इस बारे में दिनकर की विचारधारा का विश्लेषण करेंगे।

जातियाँ—भारत में प्रायः प्रत्येक दिशा में हमें भेद और अभेद या विविधता और एकता की ये दो विशेषताएँ दृष्टिगोचर होती हैं। दिनकर ने इन सभी की ओर ध्यान दिया है। जातियों के भेदाभेद के प्रश्न पर उनका मत है : "द्रविड़ों के पूर्वज भी कई दलों में आये थे, लेकिन उनकी परस्पर भिन्नता अब पता लगाने की चीज नहीं रह गयी है और आर्यों के भी तीन-चार दलों के आपसी भेद अब खत्म हो चुके हैं। खुद आर्य और द्रविड़ लोगों के बीच शादी सम्बन्धों से इतना अधिक मिश्रण हो चुका है कि मैं जरूर आर्य हूँ और तुम जरूर द्रविड़ हो, ऐसी कसम खाने की गुंजाइश बहुत कम रह गयी है। पाँच छः हजार वर्षों की एक-साथ की जिन्दगी कुछ थोड़ी नहीं होती। इतने दिनों में तो लोहा भी बदलकर मिट्टी और मिट्टी भी बदल कर पत्थर बन जाती है।"

भूगोल—भारत का भूगोल भी विविधता और एकता दोनों का साधक रहा है। उसने भारत की 'तमाम विभिन्नताओं को समेट कर भारत को एक पूर्ण देश बनाने का काम भी किया है। भीतर से कुछ-कुछ बँटा हुआ और बाहर से एक, भारत की यह विशेषता बहुत पुरानी है। ··· ··भारत का कोई भी भाग समूचे भारत से अलग जाकर स्वतन्त्र होने की चेष्टा करे, यह अस्वाभाविक बात है।' साथ ही भूगोल के कारण उपस्थित की गयी विविधता के बारे में दिनकर के विचार देखें : "बड़ी-बड़ी नदियों और बड़े-बड़े पहाड़ों के गुण अनेक है, लेकिन उनमें एक अवगुण भी होता है कि वे जहाँ रहते हैं, वहां देश के भीतर अलग-अलग क्षेत्र बना देते हैं और इन क्षेत्रों के भीतर रहने वाले लोगों के भीतर एक तरह की प्रांतीयता या क्षेत्रीय जोश पैदा हो जाता है। ·····और जो कठिनाई विन्ध्य के उत्तर को विन्ध्य के दक्षिण से मिलाने में हुई, वही कठिनाई कृष्णा नदी के उत्तर के भाग को उसके दक्षिण के भाग से मिलाकर एक रखने में होती रही। .....पुराने समय में

उत्तर भारत में जो राज्य कायम किये गये, उनमें से अधिकांश विन्ध्य की उत्तरी सीमा तक ही फैलकर रह गये।"

जलवायु और रहन-सहन—"जलवायु और क्षेत्रीय सुविधा के अनुसार ही लोगों के पहनावे—ओढ़ावे और खान-पान में भी भेद हो जाता है, जो भारत में बहुत ही प्रत्यक्ष है। ····· पहनावे-ओढ़ावे में जगह-जगह भिन्नता मिलती है और पोशाक भी जलवायु एवं क्षेत्रीय सुविधा के अनुसार ही यहाँ तरह-तरह की फैली हुई है।" लेकिन साथ ही देखें : "प्रत्येक देश की एक सांस्कृतिक विशेषता होती है, जो उस देश के प्रत्येक निवासी की चाल-ढाल, बात-चीत, रहन-सहन, खानपान, तौर-तरीके और आदतों से टपकती रहती है। ····· भारतवर्ष में यूरोपीय पोशाकें खूब चली हैं, लेकिन यूरोपीय लिबास में सजे हुए हिन्दुस्तानियों के बीच एक अंग्रेज को खड़ा कर दिया जाय, तो वह आसानी से अलग पहचान लिया जाएगा। इसी तरह भारत के हिन्दू ही नहीं, बल्कि हिन्दुस्तानी क्रिस्तान, पारसी और मुसलमान भी भारत से बाहर जाने पर आसानी से पहचान लिए जाते हैं कि वे हिन्दुस्तानी हैं। और यह बात कुछ आज पैदा नहीं हुई है, बल्कि इतिहास के किसी भी काल में भारतवासी भारतवासी ही थे तथा अन्य देशों के लोगों के बीच में वे खप नहीं सकते थे।"

इतिहास—'भारतीय इतिहास की सबसे बड़ी शिक्षा यह है कि देश में राष्ट्रीयता और प्रान्तीयता के बीच बराबर संघर्ष चलता रहा है। कभी तो ऐसा हुआ कि किसी बलवान् राजा के राज्य के अन्दर देश एक हो गया और कभी ऐसा हुआ कि इस एकता में कहीं पर प्रान्तीयता ने छेदकर दिया और फिर उस छेद को भरने की कोशिश की जाने लगी। भौगोलिक-परिस्थिति ही सारे देश को एक देखना चाहती थी और भौगोलिक परिस्थिति की इसी प्रेरणा से देश के सभी बड़े राजे इस बात के लिए उद्योग खड़ा कर देते थे कि सारा देश उनके अधीन एक हो जाय।'

भाषाएँ—दिनकर भाषाओं की विविधता की चर्चा करते हुए कहते हैं : 'मगर विविधता का सबसे बड़ा लक्षण यह है कि हमारे देश में अनेक भाषाएँ फैली हुई हैं और इनके कारण हम आपस में अजनबी के समान हो जाते हैं ····· भाषा भेद की समस्या हमारी राष्ट्रीय एकता की सबसे बड़ी बाधा है।" पर वह इसके बारे में निराश नहीं है और आगे कहते हैं : "अब भी जो क्षेत्रीय जोश या प्रान्तीय मोह बाकी है, वह धीरे-धीरे कम हो जाएगा, क्योंकि इस जोश को पालने वाली प्राकृतिक बाधाएँ अब शेष नहीं हैं। मगर, भाषा-भेद की समस्या जरा कठिन है और उसका हल तभी मिलेगा, जब हिन्दी भाषी क्षेत्र में अहिन्दी भाषाओं तथा अहिन्दी भाषी क्षेत्रों में हिन्दी भाषा का अच्छा प्रचार हो जाय। सौभाग्य की बात है कि इस दिशा

में काम शुरू हो गये हैं और कुछ समय बीतते-बीतते हम इस बाधा पर भी विजय प्राप्त कर लेंगे।'

धर्म—दिनकर का निष्कर्ष है कि पूरे देश के हिन्दू 'एक धर्म के अनुयायी और संस्कृति की एक ही विरासत के भागीदार हैं।' साथ ही मुसलमानों की भी ऐसी ही स्थिति है 'देश के सभी कोनों में बसने वाले मुसलमानों के भीतर, जहाँ एक धर्म को लेकर एक तरह की आपसी एकता है, वहाँ वे संस्कृति की दृष्टि से हिन्दुओं के भी बहुत करीब हैं ···· लम्बी संगति के फलस्वरूप उनके बीच संस्कृति और तहजीब की बहुत-सी समान बातें पैदा हो गयी हैं। ····· एक तरह की एकता तो वह है, जो हिन्दू-समाज में मिलेगी, जो मुसलिम-समाज में मिलेगी, जो पारसी या क्रिस्तानी समाज में मिलेगी। लेकिन धर्म के केन्द्र से बाहर संस्कृति की जो विशाल परिधि है, उसके भीतर बसने वाले सभी भारतीयों के बीच एक तरह की सांस्कृतिक एकता भी है, जो उन्हें दूसरे देशों के लोगों से अलग करती है। ····· इतिहास के किसी भी काल में भारतवासी भारतवासी ही थे तथा अन्य देशों के लोगों के बीच में वे खप नहीं सकते थे। यही वह सांस्कृतिक एकता या शक्ति है, जो भारत को एक रखे हुए है। यही वह विशेषता है जो उन लोगों में पैदा होती है, जो एक देश में रहते हैं।'

विविधता में एकता—इस प्रकार जाति, भूगोल, रहन-सहन, इतिहास, भाषा और धर्म सभी तत्त्वों के विश्लेषण द्वारा दिनकर इसी निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि इस महादेश की विविधता के भीतर हमारी एकता भी छिपी हुई है। भिन्न-भिन्न भाषाओं के भीतर बहने वाली हमारी भावधारा एक है और विचारों की एकता जाति की सबसे बड़ी एकता होती है। इस एकता के असली आधार भारतीय दर्शन और साहित्य हैं। जगह-जगह पर सर्वत्र एक ही संस्कृति के मन्दिर हैं। चन्दन, स्नान, पूजा, तीर्थ और व्रत में विश्वास या इनकी ओर नयी रोशनी के कारण शंका—सर्वत्र एक रूप है। भाषा की दीवार के आर-पार बैठे हुए भी यहाँ के निवासी एक ही हैं।

— ० —

अर्धनारीश्वर

श्री रामगोपाल सिंह

'अर्धनारीश्वर' दिनकर जी का गद्य-संग्रह है; किन्तु ऐसे गद्य का संग्रह, जिसमें काव्य का रस और विचारों का उत्तेजन दोनों ही एक साथ मिलते हैं। प्रचलित अर्थ में इसको गद्य-काव्य कह सकते हैं किन्तु सामान्य गद्य-काव्य से यह भिन्न है; क्योंकि इसमें भावना के साथ-साथ विचारों की प्रखरता भी है। यों कह सकते हैं कि अर्धनारीश्वर में दिनकर की सृष्टि और दृष्टि दोनों का चमत्कारपूर्ण समन्वय है।

साहित्यकार स्रष्टा और द्रष्टा दोनों होता है। वह स्रष्टा होता है, क्योंकि वह मानव-आत्मा का शिल्पी है। वह द्रष्टा है, क्योंकि वह मानव-जीवन के प्रति सौंदर्यबोध की एक दृष्टि प्रदान करता है।

कवि 'दिनकर' के स्रष्टा रूप और द्रष्टा रूप का प्रतिफलन 'अर्धनारीश्वर' है जिसकी सृष्टि से उन्होंने मानव-जीवन की अनेक उलझनों को देखने-समझने की एक दृष्टि दी है।

दृष्टि तो आखिर दृष्टि ही है। कहीं वह कुहासे को भेदकर दूर तक देखने में समर्थ होती है, तो कहीं निकटतम वस्तुओं में भी भेद करने में असमर्थ सी होकर उलझी रह जाती है।

'अर्धनारीश्वर' नर-नारी के सम्यक् सयोग का प्रतीक है, दोनों के संयोग का प्रतिफलन—सृष्टि है, उस सृष्टि की गति का ज्ञान—दृष्टि है। नारी यदि सृजन है तो नर दर्शन। नर में पौरुष प्रवहमान है, नारी में ममता की कोमल जलधारा। दोनों का सम्बन्ध ही दोनों की पूर्णता है। वह सृष्टि का कारण भी है, और उसके संचालन की दृष्टि का प्रेरक भी। नर-नारी के प्रतीक हैं—

'खड्ग और वीणा'

खड्ग में है पुरुष का औद्धत्य, वीणा में नारी की कोमलता। 'खड्ग जिसका आरम्भ घृणा से और अन्त विनाश में होता है।' उस घृणा और विनाश को प्रेम और निर्माण

में बदल देने की शक्ति है वीणा में। खड्ग की शक्ति है विनाशात्मक, वीणा की शक्ति है निर्माणात्मक। विनाश से निर्माण की शक्ति प्रबल होती है। तो फिर क्यों 'वीणा आदि से अन्त तक निरीहता में गाती है ?' 'खड्ग की छाया में शहीदों की समाधि पर चढ़ने वाले फूलों के गीत !' वीणा की शक्ति के प्रति यह दृष्टि-विभ्रम कैसा ?

वीणा के शक्तिवाहक स्वर के साधक कवि दिनकर की दृष्टि में वीणा निरीह ?

'मन्दिर और राजभवन'

मन्दिर जिसके शान्त वातावरण में वीणा के स्वर गूंजते हैं और राजभवन, जिसमें तलवारों की खनक।

'मन्दिर विनयशीलता, अनवरोध, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह सिखाता है। पर राजभवन प्रतिरोध, प्रताप, सम्पत्ति और शक्ति का प्रतीक है।' दोनों अलग-अलग जीवन को पंगु बनाने वाले हैं। दोनों एक दूसरे के विरोधी हैं। पर दोनों के बीच क्या यह दृष्टि हमें लक्ष्य का दर्शन करा पाएगी कि 'हो सकता है यह भी ठीक हो, हो सकता है वह भी ठीक हो ?' 'अपने विश्वास के प्रति दुराग्रही' न बनना तो ठीक है, लेकिन अपने विश्वास के प्रति संशय संकल्पहीनता को जन्म देता है। उस खतरे को भी हमें ध्यान में रखना चाहिए।

'कर्म और वाणी'

वाणी यदि जीवन की प्रेरणा का स्रोत है, तो कर्म उस प्रेरणा का व्यावहारिक रूप। वाणी के मुख से कर्म का अभिनन्दन ही वाणी की सार्थकता है। कर्म के द्वारा वाणी को साकारता प्रदान करना कर्म की सार्थकता है। कर्म वाणी का सुहाग है।

दिनकर की दृष्टि में कर्म के प्रतीक बापू और वीणा के प्रतीक रवि बाबू हैं। रवि बाबू की वाणी 'सर' की उपाधि वापस करती हुई कहती है—'मैं तुम्हारी दी हुई इज्जत की चादर को ओढ़कर अपने लोगों के बीच नहीं खप सकती; इसलिए मैं इसे वापस करती हूँ।'

बापू का कर्म रूपी खड्ग 'कैसरे हिन्द' की उपाधि को वापस करता हुआ ललकारता है—'तुम जुल्मी हो। तुम्हारी दी हुई रत्नजटिल म्यान मुझे ढककर नहीं रख सकती। यह लो, मैं बाहर हुआ और अब प्रहार करता हूँ।''

घृणा और विनाश का प्रतीक खड्ग कर्म का भी प्रतीक कैसे बन सकता है ?

वाणी अपनी बात कहकर शान्ति-निकेतन में जा बैठी है, लेकिन खड्ग ने

एक चुनौती दी—'हाँ, यह व्यवस्था सचमुच ही ठीक नहीं है और यह सरकार तो बिल्कुल ही शैतान है। मैं इसलिए आया हूँ कि या तो उसे सुधार दूँ, या इसे खत्म कर दूँ।'

वाणी ने जीवन से दूर पलायन कर 'शान्ति-निकेतन' में प्रवास कर जीवन के स्वप्न-लोक का इन्द्र-जाल बनाया। पर जीवन के लिए कर्म अपेक्षित होता है। कर्महीन वाणी अर्थहीन है।

साहित्य कर्म को वाणी देने का सुप्रयत्न है। दिनकर ने साहित्य के विषय में एक दृष्टि दी—'साहित्य को कर्म के साथ चलना होगा। उससे पलायन कर साहित्य अपने कर्तव्य से पतित हो जाता है।'

'चिन्तन की अपेक्षा कर्म सत्य के अधिक समीप होता है।' कर्महीन चिन्तन बकवास है, चिन्तनहीन कर्म अंधेरे में टटोलना है।

कर्म कब तक !
क्या चालीस की उम्र तक ही ?
'चालीस की उम्र'

दिनकर की दृष्टि में 'चालीस की उम्र निराशा और उदासी की सूखी घड़ी न होकर आशा और उल्लास की नई बरसात है। जो घटा अपनी रंगीनियों के साथ आकाश के कोने कोने में आनन्द से मंडरा रही थी, अब वह बरसने वाली है।'

कर्म ने अब तक जो पाया, वह अब वाणी की उपलब्धि होगी! और वाणी ? ...वह उसे हर व्यक्ति तक पहुँचाएगी। चालीस की उम्र पर ही तो कर्म और वाणी में परिपक्वता आती है। अब से उसका काम है—'माँगो कम किन्तु दान अधिक दो।' पके हुए फल के भीतर भी तो एक कविता है, जो सिर्फ हृदय की वस्तु नहीं, बल्कि रक्त में मिला लेने की वस्तु है।' रक्त में मिलकर वह हृदय की वस्तु बन जाती है। अतः कर्म की यात्रा के लिए चाहिए—

'हृदय की राह'
कर्म और वाणी दोनों ही सुख के खोजी हैं।
बुद्धि और हृदय दोनों ही सुख को खोज रहे हैं।
बुद्धि कहती है—'मनुष्य का सुख है रोटी, कपड़ा और मोटरकार।'
यह है मानव सुख को उपयोगितावाद की दृष्टि से देखना।

लेकिन दिनकर की दृष्टि कहती है—'फूल, पत्ती, नदी, पहाड़, मेघों को छटा··· ···तथा घर में खेलते हुए निष्कलुष शिशु हमें इसलिए प्यारे नहीं लगते कि हम उनके उपयोग पर आँख लगाए हुए हैं। ·····सामने के फूल और मन के भीतर की कल्पना

के बीच एक अगोचर तार है जो मनुष्य मनुष्य को बाँधे हुए है।'.....कविता उसका स्वर है।

'एक मनुष्य से दूसरे मनुष्य तक जाने की जितनी भी पगडण्डियां हैं, उनमें बुद्धि की पगडंडी सबसे कठिन है और हृदय का रास्ता सबसे आसान है। मस्तिष्क विज्ञान है, वह रोज नई-नई मूर्तियों की रचना करता है। हृदय कवि है, वह उन मूर्तियों को जीवित और चैतन्य बनाता है।'

'जड़ मूर्तियों के घेरे में पड़कर आपस में लड़ने वाले मनुष्यों! मस्तिष्क को छोड़कर हृदय की राह पकड़ो।'

लेकिन क्या बिना मस्तिष्क के हृदय निस्पन्द न हो जायगा?

क्या भौतिक समृद्धि की उपेक्षा कर्म की उपेक्षा का कारण नहीं बन जायगी?

दिनकर के 'हृदय की राह पकड़ो' संदेश की पूर्ति के लिए चाहिए ईर्षाहीन हृदय! किन्तु—

'ईर्षा तू न गई मेरे मन से'

तो हृदय से हृदय के मिलने की बात बेकार है। 'ईर्षा से जला-भना आदमी जहर की चलती-फिरती गठरी के समान हैं, जो हर समय वायु को दूषित करती फिरती है।' अतः हृदय की शुद्धि आवश्यक है, और उसके लिए दिनकर के शब्दों में जगत् और हृदय में व्याप्त अन्धकार को हरने के लिए—

'और चाहिए किरण जगत को और चाहिए चिनगारी'

जिसके प्रकाश में दिनकर की दृष्टि इस दृष्ट जगत को छोड़कर, सम्भवतः इस लिए कि यह मिथ्या है, 'सितारों से आगे जहाँ और भी है' की खोजी है।

उसे 'जहाँ' को खोजने के लिए हृदय की राह पर चलना ही आवश्यक है और उस राह को रौशन करने के लिए करनी होगी—

'दीपक की लौ अपनी ओर'

जिसके प्रकाश में आत्मा का उन्नयन होगा।

सम्भवतः चालीस के बाद की राह, सांसारिक कर्मों से विरक्त होकर आत्म-प्रकाश को राह है।

बापू के शब्दों में दिनकर का कथन है—'सबसे पहले अपना सुधार करो।··· यह आत्मपूजा सर्वात्मा की अर्चना है। यह भीतर की सफाई ही संसार की असली सफाई हैं।'

इसके लिए जलाना होगा—

'हड्डी का चिराग'

जैसे ऋषियों की हड्डियों से शिव-धनुष का निर्माण हुआ, जिसका टूटना राम के रूप में मनुष्यों के बीच भगवान के आने की सूचना थी। और हड्डी का चिराग आत्म-पूजा से सर्वात्मा की अर्चना के द्वारा मानवों के इस संसार से विरक्त होकर भगवान में समाहित हो जाने का संकेत है !!

उस संकेत को लेकर आती है—

'महाकाव्य की बेला'

तब जो वाणी प्रस्फुटित होती है उसमें महाकाव्य का सन्देश होगा। हड्डियों का चिराग जलाने वाले महामानव का सन्देश।

एक ओर दिनकर आत्म-शुद्धि को मानव-जीवन के महाकाव्य का सन्देश मानते हैं, तो दूसरी ओर कहते हैं कि यह परिवर्तन की बेला है। इस महापरिवर्तन में से महामानव जन्म ले रहा है जिसके चरित्र को लेकर महाकाव्य लिखने का यही उचित समय है।

'यह परम्पराओं के परिवर्तन की बेला है। पुरानी दीवार हिल रही है, पुराने प्राचीर धाराशायी हो रहे हैं। क्षितिज के किनारे-किनारे एक लाल डोरी-सी दीख रही है, जिससे मालूम होता है कि आकाश का पुराना छिलका उखड़ रहा है और नीचे से नया ताज़ा आकाश बढ़ता हुआ ऊपर जा रहा है। यह आकाश के भीतर से एक नए आकाश के निकलने की सूचना है। संसार में जो भी कोलाहल है, वह नवीन और पुरातन के संघर्ष की आवाज़ है। संसार में जो भी विभीषिकाएँ हैं, वे मरणशील युग की मृत्यु के प्रतीक हैं। और धरती जिन वेदनाओं से होकर गुज़र रही है, वे नए विश्व के जन्म की वेदनाएँ हैं।'

दिनकर को संशय है कि सम्भवतः 'भीतर की सफाई करने वाला' (भले ही बाहर की सफाई न हो पाये) मानव ही महामानव हो और सम्भवतः संघर्षों में अडिग रहने वाला कर्मण्य प्राणी ही महामानव हो। ठीक ही तो है 'अपने विश्वास के प्रति दुराग्रही' नहीं होना चाहिए। क्या ठीक, 'यह भी ठीक हो और वह भी ठीक हो।'

लेकिन हमें विश्वास है कि दिनकर मानते हैं कि—

इस महापरिवर्तन और संघर्ष को स्वर देना ही नयी कविता के उत्थान की रेखाएँ हैं और यही है—

'कविता का भविष्य'

क्योंकि—

'स्वतन्त्रता के बाद' —

अपनी-अपनी ढपली पर अपने-अपने राग अलापे जा रहे हैं—'सारा देश कहता है कि हमें एक राष्ट्र चाहिये, एक भाषा और एक सरकार चाहिए। मगर जब एक राष्ट्र बनाने का प्रस्ताव आता है, तब जाट कहते हैं, हमें जाटिस्तान दो, सिक्ख कहते हैं हमें सिक्खिस्तान दो और मराठे कहते है, हमें महाराष्ट्र की वैयक्तिकता का विकास चाहिए। और जब एक भाषा बनाने की बात आती है, तब बंगाल कहता है, हिन्दी मेंडुओं की बोली है, महाराष्ट्र कहता है कि मराठी हिन्दी से बुरी किस बात में है ? और मुसलमान मन-ही-मन पछाड़ खाकर रह जाते हैं कि हाय री किस्मत !'.....

'सब की शिखाएँ जब अंग्रेज़ों के हाथ में थीं तब कोई नहीं बोलता था। तब सिर्फ वे ही लोग बोलते थे, जिनमें कुछ दम था। मगर अंग्रेज़ों के हटते ही सबकी शिखाएँ हवा में फरफरा रही हैं।'

दिनकर की दृष्टि से हमें दृष्टि मिलती है कि स्वतन्त्रता के बाद 'देश के सामने जो सपने मंडरा रहे हैं, साहित्य के दर्पण में उन स्वप्नों की जो छाया पड़ रही है, वह हमें जागरूक और चैतन्य रख सकेगी। .....साहित्य स्वप्नों को रूप, तथा संदेश को अमरत्व प्रदान करता है। ..... आज की शंकाओं और हिलती हुई आस्थाओं को स्थिर बनाने का काम उस साहित्यकार के आगमन की प्रतीक्षा कर रहा है, जो भविष्य के उपवन में खिलने वाले फूलों का संवाद आज के मनुष्य को सुना सके।'

हम भी दिनकर के साथ ही उस साहित्यकार के आगमन की प्रतीक्षा में हैं और उसके स्वागत के लिए प्रस्तुत हैं।

— ० —

दिनकर के काव्य के प्रेरणा-स्रोत

पी० रामेश्वरम्

अंग्रेजी के एक विद्वान ने कहा है—"लिटरेचर इज़ ए सिरीज़ आव इकोज़"—अर्थात् साहित्य प्रतिध्वनियों अथवा अनुश्रुतियों की परम्परा है। प्रत्येक प्रतिभाशाली कवि के अन्त.करण में अनेक अनुभूतियों तथा भावनाओं का अनन्त भण्डार छिपा होता है। आलोक की एक ही किरण के पावन-स्पर्श से अन्तस् की गुफा में छिपे भाव सहसा प्रकाशित हो जाते हैं। यह जो नया प्रकाश उत्पन्न होता है वह ऊपर से देखने पर हमारी मौलिक वस्तु प्रतीत होता है, किन्तु वह हमारा आपका अथवा किसी भी अन्य व्यक्ति का निज का प्रकाश नहीं है। वह एक अनादि अनन्त सनातन तत्त्व है। योगियों की भाषा में वह 'ब्रह्म' है, साहित्य में उसे 'रस' कहते हैं, धर्म में उसी का नाम 'शिव' है। एक ही असीम अखण्ड आनन्द-सत्ता सर्वत्र व्याप्त है और विश्व में उसके ही विविध रूप प्रकट होते हैं। उस सनातन तत्त्व को किसी देश, काल, जाति, राष्ट्र, समाज अथवा व्यक्ति की संकुचित परिधि में नहीं बाँधा जा सकता। वह कभी बाल्मीकि और कालिदास बनकर पृथ्वी पर उतरता है, तो कभी होमर, शेक्सपियर, दान्ते, पुश्किन बनकर, तो कभी कबीर, तुलसी बनकर और कभी रवीन्द्र एवं नज़रूल बनकर। वह अक्षय्य सौन्दर्य है, जो प्रकृति के अणु-अणु में, मानव मात्र में परिव्याप्त है। एक ही अक्षुण्ण सत्ता सबको एक सूत्रता में बांधे हुए है, जो कभी 'रामायण' के रूप में प्रस्फुटित होती है, तो कभी 'रामचरित मानस' के रूप में, कभी 'हैमलेट' के नाम से, तो कभी 'गीतांजलि' के रूप में। ये सभी एक ही माला के अलग-अलग मनके हैं, सब एक ही सूत्र में गुथे हुए हैं। वैदिक कवि ने इसे 'एकं सद् विप्राः बहुधा वदन्ति' कहा है। कविवर पन्त की भाषा में—

'एक ही तो असीम उल्लास,
विश्व में पाता विविधाभास।
× × ×
वही उर-उर में प्रेमोच्छ्वास,
काव्य में रस, कुसुमों में वास।'

रस-ग्राहिता, भावुकता, विचार-शक्ति, दृष्टि-गाम्भीर्य, उत्साह, एकाग्रता, संयम, ज्ञान-पिपासा, स्वदेशानुराग, चित्रांकण में निपुणता तथा सनातन मानवसत्ता की अनुभूति एवं अभिव्यक्ति आदि गुणों के समावेश से कलाकार की सृष्टि होती है। अनेक साधनाओं तथा गम्भीर ज्ञान-लाभ के बिना कलाकार होना कठिन है। प्रत्येक अध्ययनशील एवं उद्‌बुद्ध-चेता साहित्यकार अपने पूर्ववर्ती एवं समकालीन साहित्य-स्रष्टाओं तथा महापुरुषों से प्रभावित होता है। यह उसकी गुण-ग्राहिता एवं ज्ञानार्जन की सत्प्रवृत्ति का द्योतक है। उन साहित्यकारों की काव्य-कृतियाँ उल्काओं की भांति दसों दिशाओं को केवल क्षण भर के लिए उज्ज्वलित करके अनन्त में खो जाती हैं, जो श्रद्धा के साथ अपने पूर्ववर्त्ती महापुरुषों, प्रतिभाशाली कवियों का अध्ययन करके उनकी विचारधाराओं को आत्मसात् नहीं करते और न ही युगीन प्रतिभाओं से प्रभावित होते हैं। उन्हीं कलाकारों की कृतियाँ स्थायी साहित्य की कोटि में आती हैं, जो अत्यन्त मनोयोग और आदर से उन सफल कलाकारों का अध्ययन करते हैं और उनके अन्तःकरण में पैठ कर सत्य के मोती खोज लाते हैं।

दिनकर का साहित्य हमें जीवन के विशाल-सम्बन्ध से जोड़ता है। जीवन के विभिन्न अंगों के लिए टिकाऊ सिद्धान्तों को खोजकर उनमें समन्वय स्थापित करना दिनकर की विशेषता है। उनके साहित्य का प्रेरणा-स्रोत बहुमुखी है। उन्होंने गवेषणात्मक प्रयत्नों द्वारा साहित्य के क्षेत्र का विस्तार किया है और उसके लिए नई दिशाएँ एवं सम्भावनाएँ खोली हैं। वे ऐसे 'शुद्ध साहित्यिक' नहीं है जो केवल अपने अन्तस् से ही सम्पूर्ण विचार-सामग्री निकाल कर मकड़ी की भाँति, साहित्य की सृष्टि करते हैं और जिन्हें गवेषणात्मक अन्वीक्षण, विमर्श एवं दूसरों के सद्विचारों की गुण-ग्राहिता की अपेक्षा ही प्रतीत नहीं होती।

दिनकर ने अपने पूर्ववर्ती महा पुरुषों, साहित्यिक-विभूतियों और स्वसमकालीन साहित्य महारथियों से पर्याप्त प्रेरणाप्राप्त की है। वे उनसे सामान्यतः प्रेरित ही नहीं वरन् खूब प्रभावित हुए हैं। उन्होंने स्वयं स्वीकार किया है :—'जहाँ तक याद है, कविता लिखने की प्रेरणा मुझ में नाटक और रामलीला देखकर उत्पन्न हुई।..... यह भी प्रथम विश्वयुद्ध की समाप्ति के ही आप-पास की बात है, जब मैं आठ-दस साल का रहा होऊँगा। सन् १९२० ई० में कानपुर के 'प्रताप' में 'एक भारतीय आत्मा' की वह कविता छपी जिसे उन्होंने लोकमान्य तिलक की मृत्यु पर लिखा था। इस कविता का मुझ पर अत्यन्त प्रभाव पड़ा। अब मैं पत्र-पत्रिकाओं में कविताएँ ढूँढ-ढूँढ कर पढ़ने लगा। यह देश में असहयोग का जमाना था और जो भी पत्र-पत्रिका मेरे हाथ लगती, उसमें पढ़ने को कोई राष्ट्रीय कविता मिल ही जाती।'

'पत्र-पत्रिकाओं से रस पाकर जब मैं समकालीन काव्य पुस्तकों की ओर

बढ़ा, तब मुझे 'भारत-भारती' मिली, 'जयद्रथ वध' और 'शकुन्तला' तथा 'किसान' पढ़ने का अवसर मिला एवं जब श्री रामनरेश त्रिपाठी का 'पथिक' निकला, मैं उस ग्रन्थ में आपादमस्तक डूब गया। 'पथिक' मुझे इतना पसन्द आया जितना और कोई ग्रन्थ नहीं रुचा था। उन्हीं दिनों मैंने 'पथिक' के अनुकरण पर 'वीरबाला' और 'जयद्रथ वध' के अनुकरण पर 'मेघनाद वध' ये दो खण्ड काव्य लिखने आरम्भ किये, किन्तु दोनों के दोनों प्रयास तीन चार सर्गों तक चल कर ही अवरुद्ध हो गये।'

'अपनी तत्कालीन (छायावाद कालीन) रुचि का स्मरण करने पर मुझे ऐसा याद आता है कि छायावादी युग में भी मेरे सबसे प्रिय कवि मैथिली शरण, माखनलाल, सुभद्रा, नवीन और रामनरेश त्रिपाठी ही थे। कालिज में मुझ में शेली और वर्डस्वर्थ दोनों के लिए उत्साह था और बंगला सीख कर तभी मैंने रवीन्द्र और नज़रूल से भी परिचय बढ़ा लिया था। पीछे, जब मैं नौकरी करने लगा, तब मैंने उर्दू सीखी और इकबाल तथा जोश का भक्त हो गया।'

'छायावादी कवियों में से एक समय श्री लक्ष्मीनारायण मिश्र और जनार्दन प्रसाद झा 'द्विज' की कविताओं को मैंने भी पढ़ा था।..... यह भी विचित्र बात है कि निराला जी की कविताओं से अधिक समीपता मेरी 'पन्त' जी की कविताओं से रही है और 'प्रसाद' से बढ़कर मैं श्री मैथिली शरण के पास रहा। और जो लोग मुझसे कुछ पहले या बाद में लिखते रहे हैं, उनके बीच भी मेरी रुचिगत आत्मीयता श्री भगवतीचरण वर्मा और श्री रामसिंहासन सहाय 'मधुर' (बलिया-वाले), नरेन्द्र, बच्चन, सुमन, नैपाली और नागार्जुन से ही बैठती है।'

दिनकर के उपर्युक्त कथन से तथा उनकी काव्य-कृतियों के अनुशीलन से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि उनकी काव्य-प्रतिभा को सजग एवं जागरूक बनाने और उसके अन्तः स्रोत को समय-समय पर खुल कर बहाने में अनेक युगीन परिस्थितियों ने योग दिया है।

राजनीतिक पीठिका :

दिनकर के प्रेरणा-स्रोत का पता लगाने के लिए हमें युग की प्रवृत्तियों और प्रेरणाओं का विश्लेषण करना होगा। यह ऐतिहासिक सत्य है कि अंग्रेज जाति के राजनीतिक, सांस्कृतिक और साहित्यिक प्रभाव से भारत में नये युग का सूत्रपात हुआ; आधुनिक युग के लगभग सभी भारतीय चिन्तक, विचारक और साहित्य-स्रष्टा पाश्चात्य वाङ्मय, राजनीति और साहित्यकला से प्रभावित हैं। पश्चिम की भारतीय जीवन के लिए सबसे बड़ी देन है वैज्ञानिक-चेतना। इस नवागत वैज्ञानिक दृष्टि से भारतीय जीवन में बाह्य एवं मानसिक दोनों प्रकार का कायाकल्प कर दिया।

यहां के नेताओं एवं बुद्धि जीवियों ने अनुभव किया कि जहाँ अंग्रेजी शासन वैज्ञानिक चेतना उत्पन्न करने में भारत के लिए वरदान सिद्ध हुआ है वहाँ दासता ही उसके समस्त पिछड़ेपन का मूल कारण है। दासता से मुक्ति पाये बिना भारत में आत्माभिमान और गौरव-भावना का उदय नहीं हो सकता, जो किसी भी जीवित जाति के जीवन एवं जागरण का प्रतीक होता है। प्रत्येक प्रकार की सृजनात्मक प्रतिभा के विकास के लिए राजनीतिक स्वाधीनता अनिवार्य है। सबसे पहले बाल गंगाधर तिलक ने 'स्वाधीनता मेरा जन्मसिद्ध अधिकार है' के सिंहनाद की गर्जना की और भारत की सुप्त चेतना में नवजागरण की बेला आई। तब से लेकर १९४७ तक का सारा इतिहास राजनीतिक स्वाधीनता के संघर्ष का इतिहास है।

यों तो स्वाधीनता के संघर्ष का सूत्रपात ईसा की उन्नीसवीं शताब्दी में ही हो गया था, किन्तु उसकी पूर्ण-परिणति बीसवीं शताब्दी में हुई। इस शती में आकर भारत की राजनीति ने एक नई करवट बदली। अंग्रेजों के प्रभुत्व एवं शोषक शासन-प्रणाली के विरुद्ध प्रथम विस्फोट १८५७ में हुआ। तभी से राजनीतिक स्वतन्त्रता की चिनगारी कभी दबे रूप में और कभी खुले रूप में प्रकट हो रही थी। १८५७ के बाद भारतीय राजनीति में युगान्तर उपस्थित हुआ। १८८५ में अखिल भारतीय कांग्रेस की नींव पड़ी और उसकी देखरेख में स्वतन्त्रता-प्राप्ति के प्रयत्न संचालित हुए। कांग्रेस के प्रारम्भिक प्रयत्न सुधारमात्र तक सीमित थे। आगे चलकर वह देश की समस्त राजनीति का केन्द्र बन गई। उसने 'स्वशासन' की मांग को अपना लक्ष्य बनाया।

कांग्रेस के बढ़ते प्रभाव को रोकने के लिए ब्रिटिश नौकरशाही ने दमन-नीति का आश्रय लिया। यहाँ से कांग्रेस के अन्तर्गत दो प्रमुख दलों की स्थापना हो गई, जिन्हें गरम दल (उग्रदल) और नरमदल (सौम्य दल) नाम दिया गया। उग्रदल के नेताओं में पंजाब-केसरी लाला लाजपतराय, बाल गंगाधर तिलक और विपिनचन्द पाल प्रमुख थे। इन्होंने राजनीतिक चेतना के साथ क्रान्ति-भावना को भी प्रज्वलित किया। सौम्य-पन्थी सुरेन्द्र नाथ बनर्जी, फिरोजशाह मेहता और गोखले शान्तिपूर्ण उपायों से केवल शासन सुधार के समर्थक थे। इन दो विचारधाराओं के अतिरिक्त एक तीसरी विचारधारा भी खुले रूप में खेल रही थी—वह थी आतंकवादी विचार-धारा (terrorism)। आतंकवाद के पोषक हिंसात्मक साधनों से भी अत्याचारी शासन को उखाड़ फेंकने पर तुले हुए थे।

तिलक अपने समय के सर्वाधिक प्रभावशाली राजनीतिज्ञ थे। उनकी मृत्यु के उपरान्त केवल भारतीय राजनीति में ही नहीं, बल्कि विश्व की राजनीति में एक

नये युग का सूत्रपात हुआ, जिसे गांधी-युग का नाम दिया गया है। गांधीजी के नेतृत्व में भारतीय जनता ने राष्ट्र-व्यापी सत्याग्रह एवं असहयोग आन्दोलन छेड़े। राजनीतिक मंच पर गांधी जी के आने से भारतीय राजनीति में एक अभूतपूर्व अध्याय जुड़ा। उन्होंने विराट् चेतना द्वारा भारत की सोई जनशक्ति को विभिन्न रूपों में उद्‌बुद्ध किया। सत्य, प्रेम और अहिंसा उनके राजनीतिक शस्त्र थे। गांधी जी ने केवल राजनीति में ही नहीं, वरन् धार्मिक, आर्थिक एवं सांस्कृतिक—सभी क्षेत्रों में भारत की कोटि-कोटि जनता को अनुप्रेरित किया। शरीर-बल की अपेक्षा आत्मिक-बल पर उनका विशेष आग्रह था। आज का नया भारत उनकी ही देन है।

इस राजनीतिक भूमिका को दृष्टि में रखकर जब हम दिनकर के साहित्य का अध्ययन करते हैं, तो उनके साहित्य पर इन तीनों विचार-धाराओं का प्रभाव स्पष्ट लक्षित पाते हैं। इस सत्य की उपेक्षा नहीं की जा सकती कि दिनकर का कवि-हृदय गांधी जी की नरम नीति की अपेक्षा तिलक की उग्रनीति एवं आतंकवाद से विशेष प्रभावित है। उनकी पुरानी कविताएं आतंकवाद तथा उग्रभावना से अनुप्राणित हैं। कहीं-कहीं तो उन्होंने गांधीवाद को भारतीय राजनीति के अननुकूल सिद्ध करने का कवित्वमय प्रयास किया है। हाँ, बाद की कविताएँ अवश्य गांधी जी का गुणगान करती हैं।

अपनी प्रसिद्ध क्रान्तिकारी कविता 'हिमालय' (१९३३) में कवि वीररस के नाम पर युद्ध और विध्वंस का आह्वान करता है। गांधी जी की शान्ति और धर्मनीति के स्थान पर वह रक्तिम क्रान्ति और आतंकवाद की मांग करता है—

'रे रोक युधिष्ठिर को न यहाँ,
जाने दे उसको स्वर्ग धीर।
पर, फिरा हमें गाण्डीव-गदा
लौटा दे अर्जुन-भीम-वीर।
कह दे शंकर से आज करें,
वे प्रलय-नृत्य फिर एक बार।
सारे भारत में गूँज उठे,
'हर हर बम' का फिर महोच्चार।'

यहाँ स्पष्ट ही 'युधिष्ठिर' गांधी का और 'अर्जुन-भीम' तत्कालीन आतंक एवं हिंसावादियों के प्रतीक हैं। आतंकवाद को कवि नवयुग की 'शंख-ध्वनि' नाम देता है। युद्ध को वह 'चिर-अनघ और शाश्वत-पवित्र' मानता है।

'स्वदेशी-आन्दोलन' ने बंगाल में एक नवीन जागृति उत्पन्न की। भारत का नया खून क्रान्तिकारी षड्यन्त्रों एवं बम-विस्फोटों के रूप में आतंकवाद का आश्रय

ले रहा था। उसे इसकी प्रेरणा 'अराजकवाद' से मिली थी। राजनीतिक क्षेत्र में इस आतंकवाद का समर्थन लोकमान्य तिलक ने १९०८ में मुजफ्फरपुर के बम विस्फोट का समर्थन करके किया था जिसके फलस्वरूप उन्हें ८ वर्ष का कारावास मिला। वायसराय पर बम, अलीपुर षड्यन्त्र, काकेरी केस, मेनपुरी षड्यन्त्र आदि अनेक आतंककारी कार्य उस समय हुए। सरदार भगतसिंह, बी० के० दत्त, रामप्रसाद बिस्मिल, चन्द्रशेखर आज़ाद, योगेश चटर्जी आदि इस काल के आतंकवादी ज्योतिष्क-पिण्ड थे। दिनकर के काव्य में यही उत्कट आतंकवादिता सर्वोपरि है। देश के इसी आतंकाकुल तारूण्य की प्रतिध्वनि उनके तत्कालीन काव्य में मुखरित हैं—

'शंख के तारुण्य गिरि चढ़ फूँकता,
आ प्रभंजन ! ध्वस्त हो बन की जरा।
अट्टहासी ! आ, विकट युगदेव ! आ,
जोहती रण-क्लान्त पन्थ वसुन्धरा।'

बोरस्टल जेल के अमर शहीद यतीन्द्रनाथ दास की मृत्यु पर १९२९ ई० में कवि ने 'बागी' शीर्षक कविता में अपनी हार्दिक संवेदना प्रकट की है :—

'मां रोती, बहनें कराहतीं,
घर घर व्याकुलता जागी।
उपल-सरीखे पिघल-पिघल,
तुम किधर चले मेरे बागी।'

सन् १९४२ का जन-विद्रोह और 'आजाद-हिन्द-फौज' का मुक्ति-अभियान भारतीय स्वाधीनता संग्राम की दो प्रमुख ऐतिहासिक घटनाएँ हैं। १९४२ का 'भारत छोड़ो' का नारा जहाँ भारतीय जनजागृति का परिचायक है, वहाँ निहत्थे भारतीयों पर विदेशी शासन के नग्न अत्याचारों एवं दमन की बर्बरता का भी। श्री जय प्रकाश नारायण १९४२ की जनक्रान्ति के लोकप्रिय नायक के रूप में सदैव प्रतिष्ठित रहेंगे। उस समय उनका क्रान्तिकारी और कर्मठ आदर्श चरित्र जनता के आकर्षण का प्रमुख केन्द्र रहा था। दिनकर 'जयप्रकाश' के उस ओजस्वी एवं कर्मनिष्ठ रूप से अत्यधिक प्रभावित हुए हैं और उनकी प्रशस्ति लिख कर उन्होंने अपनी अगाध श्रद्धा की भावनांजलि अर्पित की है—

'जय हो, भारत के नये खड्ग,
जय तरुण देश के सेनानी।
जय नई आग ! जय नई ज्योति,
जय नये लक्ष्य के अभियानी।

स्वागत है, आओ, काल-सर्प के-
फण पर चढ़ चलने वाले ।
स्वागत है, आओ, हवन कुंड में
कूद स्वयं बलने वाले ।

'जयप्रकाश' जी का व्यक्तित्व त्याग और बलिदान का मूर्तिमान रूप है। वह सर से कफन बाँध कर आज़ादी की बलि वेदी पर सर्वस्व न्यौछावर करने वाले नेता के रूप में प्रशंसा के पात्र हैं—

'कहते हैं उसको 'जयप्रकाश'
जो नहीं मरण से डरता है।
ज्वाला को बुझते देख, कुंड में,
स्वयं कूद जो पड़ता है ।
है जयप्रकाश वह जो न कभी
सीमित रह सकता घेरे में ।
अपनी मशाल जो जला,
बांटता फिरता ज्योति अंधेरे में ।'

नेताजी 'सुभाषचन्द्र बोस' भारतीय जनता के हृदय-सम्राट् हैं। उनका समस्त जीवन त्याग और बलिदान की कहानी है। उन्होंने किन विषम परिस्थितियों में देश को त्यागा और स्वदेश-प्रेम की मशाल लिए वे देश-विदेशों में स्वाधीनता का अलख जगाते फिरे ? 'आज़ाद-हिन्द-फौज' की वीरता और देशानुराग की अनन्य भावना का देश वासियों पर जो प्रभाव पड़ा—वह अवर्णनीय है। उसी 'आजाद-हिन्द-फौज' के प्रति अपनी श्रद्धाम्दोलित अनुभूति का प्रकाशन 'सरहद के पार से' कविता में कवि ने किया है। स्वयं को 'आज़ाद-हिन्द-फौज' का सैनिक कल्पित करके कवि कहता है—

'जन्म-भूमि से दूर, किसी बन में या सरित किनारे,
हम तो लो, सो रहे लगाते आज़ादी के नारे।
× × ×
आये थे हम यहां देश-माता का मान बढ़ाने,
स्वतन्त्रता के महायज्ञ में अपना हविष चढ़ाने ।'

'आज़ाद-हिन्द-फौज' के सैनिकों ने देश-भक्ति और राष्ट्रीय-ध्वज के सम्मान में अपने रक्त की धारा बहा दी थी। उन्होंने अन्तिम दम तक अपने राष्ट्रीय-ध्वज का अपमान नहीं होने दिया ; उसे छिनने नहीं दिया—

'यह झण्डा, जिसको मुर्दे की मुट्ठी जकड़ रही है,
छिन न जाय इस भय से अब भी कस कर पकड़ रही है।
थामो इसे, शपथ लो, बलि का कोई क्रम न रुकेगा,
चाहे जो हो जाय, मगर, यह झण्डा नहीं झुकेगा।
इसके नीचे ध्वनित हुआ आजाद-हिन्द का नारा।
बही देश भर में लोहू की यहाँ एक हो धारा।'

स्पष्ट है कि दिनकर का विद्रोही कवि केवल क्रांति का पुजारी नहीं है, वह आतंक और अराजकता का भी समर्थक है। जैसा कि पहले कहा गया है कि वह गांधी की शान्ति और अहिंसा की नीति से बहुत कम प्रभावित है, जहाँ कहीं हुआ भी है, वहाँ उसका युग-पुरुष के विशाल व्यक्तित्व के प्रति केवल श्रद्धावनत आभार प्रदर्शन मात्र है; कवि का विचार-साम्य उससे मेल नहीं खाता।

इधर बाद की कविताओं में उन पर गांधीवाद की छाप पड़ी है। गांधी जी की हत्या के बाद कवि ने उनकी आवश्यकता और अभाव को अनुभव किया है। गांधी के प्रति अपनी श्रद्धाभावना को समर्पण करने के लिए दिनकर ने एक पृथक काव्य लिखा है—'बापू'। इसमें युग-पुरुष का शब्द-चित्र अंकित है। यह काव्य दो भागों में विभक्त है। पूर्वार्ध, गांधी जी की 'नौआखाली-यात्रा' पर समाप्त होता है और उत्तरार्ध शोक-काव्य के रूप में है। इसमें गांधी जी को शान्ति का दूत और मनुज के सहज प्रेम का अधिकारी कहा है—

'तू सहज शान्ति का दूत, मनुज-
के सहज प्रेम का अधिकारी।
दृग में उढ़ेल कर सहज शील,
देखती तुझे दुनिया सारी।

गांधी की हत्या राष्ट्रीय-क्षति है, वह मानवता की विगर्हणा है, भारत के लिए कलंक की वस्तु है। कवित्व शक्ति और मर्माहत भावना दोनों की दृष्टि से यह रचना अपना विशेष महत्त्व रखती है।

एक सफल एवं उच्च कोटि का साहित्यकार प्रतीकों, वैयक्तिक एवं सामूहिक कल्पनाओं के द्वारा युगीन समस्याओं को वाणी देता है। राजनीति को वह सृजनात्मक शक्ति के रूप में ग्रहण करता है। यदि कवि अपनी मानसिक दुर्बलताओं, विकृतियों और विवशताओं का शिकार नहीं है, तो वह राजनीति को अपनी वैयक्तिक अनुभूति के अनुरूप ढाल कर व्यक्त करेगा। वह उससे प्रभावित अवश्य होगा किन्तु आक्रान्त नहीं। दिनकर का काव्य भी युग की राजनीति का स्पष्ट दर्पण है।

— ० —

दिनकर की काव्य-भाषा और छन्दोविधान

डा० अम्बाप्रसाद 'सुमन'

हिन्दी-काव्य-साहित्य में भाषा-क्रान्ति के लिए द्विवेदी-युग अपना प्रमुख एवं शाश्वत अस्तित्व बनाये हुए रहेगा। भारतेन्दु-युग में खड़ी बोली ने काव्य के प्रांगण में जिस रूप से पदार्पण किया था उसका दृढ़तापूर्ण अस्तित्व भगवान् के विराट् रूप की भाँति शनैः शनः बढ़ता चला गया और आगे चलते-चलते उसमें व्याकरणिक परिमार्जन को लेकर ओज, माधुर्य, प्रसाद आदि गुणों की मनोहारिणी शैली में भावाभिव्यक्ति की पूर्ण क्षमता भी आ गई; क्योंकि उसे अयोध्यासिंह उपाध्याय, मैथिलीशरण गुप्त, प्रसाद, पन्त, निराला, महादेवी और दिनकर जैसे कुशल कवियों की लेखनी का बल प्राप्त हो चुका था। उसी उत्कृष्ट, प्राँजल तथा विभिन्न भावोद्-भावक रूप में आज हमारी खड़ी बोली कविवर दिनकर की काव्य-धारा में भी आनन्द-विहार कर रही है। रसोद्रेक अथवा भावोद्बोधन में भाषा तथा छन्द का बहुत बड़ा योगदान होता है; कविवर दिनकर की भाषा अपने इस योगदान में सफल सिद्ध हुई है अथवा नहीं; यहाँ यही हमें देखना है क्योंकि भाषा काव्य का कला-पक्ष है या कहिए कि भाव का प्रेषक तत्त्व है।

भाषा वाक्यों से, वाक्य पदों से, पद शब्दों से और शब्द मूल प्रकृति तथा प्रत्ययों के योग से अपने वास्तविक अस्तित्व को अभिव्यक्त किया करते हैं। इन सभी के अन्तराल में कवि की भावरूपिणी सृष्टि समाविष्ट रहती है। भाषा तो भावों की संवाहिका है ही। अतः शब्द-शक्ति का सच्चा पारखी कवि ही अपने हृदयस्थ भावों की प्रेषणीयता में साफल्य प्राप्त कर सकता है। कोई भाव सरलता के सहज रूप में अभिव्यक्त हो सकेगा अथवा उसे वक्रोक्ति[1] का चमत्कार प्रदान करना पड़ेगा अथवा उसको छटा लोकोक्ति-मुहावरे के माध्यम से ही अधिक मनोहर प्रतीत होगी; इसे भाषा की आत्मा और प्राणशक्ति को पहचानने वाला कलाविज्ञ कवि ही ठीक तरह

1. वाग्वैदग्ध्यपूर्ण विचित्र उक्ति को वक्रोक्ति कहते हैं—(आचार्य कुन्तक के मतानुसार)

समझ सकता है। अपनी अनुभूति में वही कवि पाठकों का आत्मरमण करा सकता है जिसे शब्द की शक्ति तथा उसकी परिधि का पूरा-पूरा ज्ञान है। भाषा और भाव दोनों मिलकर ही तो काव्य कहाते हैं —'शब्दार्थौ काव्यम्'। वास्तव में भाषा काव्य की शरीरयष्टि है।

रूप-सौन्दर्य और गुण-सौन्दर्य की अनुभूति तो संसार के अन्य मानवों को भी होती है। किन्तु उन मानवों से काव्यस्रष्टा कवि में विशेषता यह है कि रूप-सौन्दर्य और गुण-सौन्दर्य के प्रति काव्यकार अधिकतम रूप में संवेदनशील होता है और उस दुहरे सौन्दर्य को वह अपनी सुन्दर अभिव्यक्ति के माध्यम से संसार के समक्ष प्रस्तुत करके तिहरा बना देता है। शब्द, वृत्ति[1], अलकार[2], वक्रोक्ति[3], ध्वनि, छन्द आदि के रूप में अभिव्यक्ति का सौन्दर्य ही तो प्रकट होता है। भाषा का सौन्दर्य इन्हीं में निहित है। अतः दिनकर के काव्य की भाषा की विवेचना वास्तव में अभिव्यक्ति के सौन्दर्य की विवेचना है।

दिनकर प्रमुखतः गीतकाव्य के कवि हैं। वैसे उन्होंने 'कुरुक्षेत्र', 'रश्मिरथी' आदि प्रबन्ध-काव्य भी लिखे हैं। जब कवि के हृदय की घनीभूत वेदना स्वच्छन्दतापूर्वक कोमलकान्तपदावली में संगीतात्मकता की स्वरलहरी के साथ एक दम फूट पड़ती है तभी गीत-काव्य का जन्म होता है। अतः गीतकाव्य की भाषा में भावोद्बोधन एवं रसोद्रेक की शक्ति अधिक घनीभूत तथा वेगवती होती है। जब बहिर्मुखी कवि किसी विश्वविश्रुत चरितनायक के प्रेरणादायी वृत्त या घटना को काव्य-सूत्र में गूँथना चाहता है तब प्रबन्धकाव्य की सृष्टि होती है। ऐसे काव्यों की भाषा में निहित शक्ति अधिक तो होती है किन्तु अपना स्थायी प्रभाव मन्थर गति से चलकर ही उत्पन्न करती है। हमारा विवेच्य विषय यही है कि हम कविवर श्री दिनकर जी के गीतकाव्यों तथा प्रबन्धकाव्यों की भाषा का विवेचन प्रस्तुत करें और उनका छन्दोविधान भी।

उपर्युक्त अनुच्छेद में जो बात अभिव्यक्ति के सम्बन्ध में हमने कही है, उससे दिनकर जी के अन्तस् का विवेकी कवि पूर्णतः परिचित है। 'रश्मिरथी' की भूमिका में वह स्वयं लिखते हैं—

"कविता केवल चित्र, चिन्तन और विरल संगीत के धरातल पर जा अटकी है और जहाँ भी स्थूलता एवं वर्णन के संकट में फँसने का भय है, उस ओर कविकल्पना जाना नहीं चाहती। लेकिन स्थूलता और वर्णन के संकट का मुकाबिला किये

1. "शब्दतत्त्वाश्रयाः कश्चित् अर्थतत्त्वयुतोपरा"—(ध्वन्यालोक ३।४८)
2. "सौन्दर्यमलङ्कारः"—(वामन)
3. "वक्रोक्तिरेव वैदग्ध्यभङ्गीभणितिरुच्यते"—(कुन्तक)

बिना कथाकाव्य लिखने वाले का काम नहीं चल सकता। कथा कहने में, अक्सर, ऐसी परिस्थितियाँ आकर मौजूद हो जाती हैं जिनका वर्णन करना तो ज़रूरी होता है, मगर वर्णन काव्यात्मकता में व्याघात डाले बिना निभ नहीं सकता।" मर्मज्ञ कवि के इस कथन से आचार्य भामह के मत को पुष्टि होती है जिन्होंने 'वार्ता' को अकाव्य माना है—

"गतोऽस्तमर्को भातीन्दुर्यान्ति वासाय पक्षिणः।
इत्येवमादि किं काव्यं वार्तामेनां प्रचक्षते ॥"

(भामह, काव्यालंकार २।८७)

गीतकार कवि दिनकर की काव्य-भाषा की प्रस्तुत विवेचना के आधार हमारे लिए 'रेणुका', 'रसवन्ती', 'सामधेनी' और 'इतिहास के आँसू' हैं और प्रबन्ध-काव्यकार कवि दिनकर की भाषा का स्वरूप यहाँ प्रमुखतः 'कुरुक्षेत्र' और 'रश्मिरथी' के आधार पर किया गया है।

कवि की भाषा लेखक या व्याख्यानदाता की भाषा से पृथक् हुआ करती है। काव्यस्रष्टा कवि सूचना नहीं देता, यह कार्य तो इतिहासकार का है। कवि कोरा तथ्य-निरूपण नहीं करता, यह काम गणित शास्त्री का है। कवि वस्तुविश्लेषण नहीं करता, यह काम वैज्ञानिक का है। कवि उपदेश नहीं देता, यह काम धर्म प्रचारकों का है। कवि अक्षुण्ण अनुकृति नहीं करता, यह काम फोटोग्राफर का है। वह तो वास्तव में अपनी अनुभूति को कल्पना, बुद्धि और राग के संयोग-सहित समुचित शब्दों के माध्यम से सर्वानुभूति बना देता है जिसमें सत्य शिवत्व एवं सौन्दर्य का स्वरूप प्राप्त करता है। इसके लिए उसे उपमान-विधान अर्थात् अप्रस्तुतयोजना का भी सहारा लेना पड़ता है। उपमानों के माध्यम से व्यक्त होने वाला शब्द-चित्र संश्लिष्ट होने के साथ-साथ संवेदनात्मक अधिक होता है। यही कवि की भाषा की अद्भुत शक्ति है। कवि का 'कमल' और कवि का 'इन्द्र' यदि कहीं उपमान के रूप में आता है तो वहाँ वह कोरा 'कमल' या 'इन्द्र' ही नहीं है अपितु अपनी दसों दिशाओं के वातावरण, वस्तु-सामग्री और वैभव से विभूषित महान् रसोद्बोधक प्रतीक-प्रतिनिधि है। यदि कवि ने किसी के लिए 'इन्द्र' शब्द को उपमान के रूप में अभिव्यक्त किया है तो निश्चय ही वह व्यक्ति कवि की अनुभूति में पुरुषत्व से ऊँचे देवत्व को प्राप्त कर चुका है। उसका राजसी वैभव स्वर्गीय आभा से आभासित है। उसमें देवत्व और राजत्व स्वर्गीय विभूतियों को समेटकर समाविष्ट हुए हैं। रूपसाम्य और गुणसाम्य से पृथक् होकर केवल प्रभावसाम्य को लेकर उपस्थित होने वाले अनेक प्रतीक कवि के काव्य में पाठकों की संवेदना जगाते हैं और साधारणीकृत रूप में भावोद्बोधन करके रस की धारा में हमें अवगाहन कराते हैं। कारण यह है कि कवि

अर्थात् सच्चा कलाकार योगी की भाँति समाधिगत होकर अतीन्द्रिय जगत् को देखता है। उसकी भाव-भूमि संप्रज्ञात समाधि में बनती है। यही वास्तविक प्रेरणा-भूमि है। वितर्क को पार करके विचार और आनन्द की रम्यस्थलियों में ही वह आत्म-रमण करता रहता है और आनन्द की लहरें लेता रहता है। तभी तो उससे स्वतः निःसृत वाणी अखिल सृष्टि को रस प्रदान करती है। 'रेणुका' में 'हिमालय के प्रति' शीर्षक कविता को पढ़ने पर ऐसा कौन भारतवासी होगा जो स्वाभिमान और आत्मगौरव की अनुभूति न करे। कविवर दिनकरजी का हिमालय हिमशिलाओं तथा प्रस्तरों का पुंज मात्र नहीं, अपितु वह एक धीर, वीर, गम्भीर तथा अप्रतिम समाधिस्थ साधक है जिसे अब नव जागरण करना है, नवयुग की चेतना से अपने को चेतन बनाना है—

हिमालय के सम्बोधन से कवि को भारतवासियों का जगाना अभीष्ट है और नये ढंग से तथा नये वेग से—

"ले अँगड़ाई उठ, हिले धरा,
कर निज विराट स्वर में निनाद।
तू शैलराट्! हुंकार भरे,
फट जाय कुहा, भागे प्रमाद।
तू मौन त्याग, कर सिंहनाद,
रे तपी आज तप का न काल।
नवयुग-शंखध्वनि जगा रही,
तू जाग, जाग, मेरे विशाल।" —('रेणुका' से)

दिनकर की कविता की भाषा सरल है। उसमें प्रसाद गुण पूरी तरह से पाया जाता है। किसी कवि ने उन कवियों के लिए ठीक ही कहा है जो बहुत कठिन भाषा में बारीक बात कहते हैं—

"अगर अपना कहा तुम आप ही समझे तो क्या समझे।
मजा कहने का तब है एक कहे और दूसरा समझे।"

काव्य में चाहे लक्ष्यार्थ प्रधान हो और चाहे व्यंग्यार्थ; वह आनन्द तभी देगा जब उसका अभिधेयार्थ स्पष्ट होगा। मूलतः अभिधा ही तो लक्षणा और व्यंजना की आधार-भूमिका है। इसीलिए सरल और सहज बोधगम्य शब्दावली कविता का असली प्राणतत्त्व है। रेणुका, हुंकार और रसवन्ती की काव्य भाषा इसका पूर्ण समर्थन करती है। इसका यह अर्थ नहीं कि दिनकरजी ने अपने काव्य-ग्रन्थों में ऐसे शब्दों का प्रयोग ही नहीं किया जिनके लिए पाठकों को कोष देखने की आवश्यकता

पड़ती हो। यदि कवि ऐसा न करें तो साहित्यिक अल्पप्रचलित शब्द जीवित कैसे रह सकते हैं ? इसीलिए वैदर्भी और पांचाली रीतियों के माध्यम से कवि दिनकर ने जहाँ माधुर्य और प्रसाद गुण की छटा छिटकाई है, वहाँ आँख की बरौनियों के लिए **'पपनी'** और गन्ध देने के अर्थ में **'मँह-मँहकर'** जैसे स्थानीय प्रयोग भी किये हैं—

"पपनी पर आँसू की बूँदे, मोती-सी शबनम-सी।"

—(रसवन्ती, बालिका से बधू, पृ० १५)

"मँह-मँहकर मंजरी गले से मिल किसको चूमेगी ?"

—(रसवन्ती, बालिका से बधू, पृ० १७)

'कुरुक्षेत्र' के प्रथम सर्ग के प्रथम छन्द में श्वेत के अर्थ में प्रयुक्त 'वलक्ष' भी ऐसा ही है जिसका अर्थ जानने के लिए शब्द-कोष देखना पड़ेगा और उन पंक्तियों का अन्वय समझने के लिए भी चतुर पाठक को उन्हें दो-तीन बार पढ़ना भी पड़ेगा—

"वह कौन रोता है वहाँ—
इतिहास के अध्याय पर,
जिसमें लिखा है, नौजवानों के लहू का मोल है,
प्रत्यय किसी बूढ़े कुटिल नीतिज्ञ के व्याहार का;
जिसका हृदय उतना मलिन जितना कि शीर्ष **वलक्ष** है।"[1]

—(कुरुक्षेत्र, प्रथम सर्ग, पृष्ठ १)

भाषा की दृष्टि से कविवर दिनकर हमें 'कुरुक्षत्र' में जितने अधिक क्लिष्ट प्रतीत होते हैं, उतने 'रश्मिरथी' में नहीं। 'रश्मिरथी' जैसे कथाकाव्य में तो वे पूर्णतः प्रसादगुण के पुजारी सिद्ध होते हैं। आचार्य मम्मट ने लिखा है कि जो सूखे ईंधन में आग की भाँति तथा स्वच्छ वस्त्र में जल की भाँति मन में शीघ्र व्याप्त हो जाता है, वह प्रसाद गुण है।[2]

---

1. कई-बड़े कवि जब बुद्धितत्त्वमय स्वरूप में कुछ विचित्र शब्दावली देना चाहते हैं तब 'वलक्ष' जैसे अप्रयुक्त शब्द भी लिख देते हैं। सूर ने 'रोलो' के लिए 'बन्दन' और तुलसी ने 'जल' के लिए 'वन' शब्द का प्रयोग किया है—

"गोरँ भाल बिन्दु बन्दन, मनु इंदु प्रात-रवि काँति"—(सूरसागर, ना० प्र० स० १०।७०४)
"पाइन तें बनवाहन काठ को कोमल है जल खाइ रह्यो है"—(कवितावलि, अयो० छन्द ७)

2. "शुष्केन्धनाग्निवत् स्वच्छजलवत् सहसैव यः।
व्याप्नोत्यन्यत् प्रसादोऽसौ सर्वत्र विहितस्थितिः॥"

—(आचार्य मम्मट, काव्यप्रकाश, अष्टम उ० ७० का०)

मुहावरेदार सरल और प्रभावशालिनी भाषा लिखने में दिनकर जी सफल सिद्ध हुए हैं। प्रश्नवाचक वाक्यों के द्वारा सरस सन्देश देकर हमें नवीन रागिनी सुनाते हुए राष्ट्र को प्राणवान् इसी कवि ने बनाया है—

"गीत, अगीत कौन सुन्दर है ?
गाकर गीत विरह के तटिनी, वेगवती बहती जाती है,
दिल हलका कर लेने को, उपलों से कुछ कहती जाती है।
तट पर एक गुलाब सोचता—"देते स्वर यदि मुझे विधाता,
अपने पतझड़ के सपनों का मैं भी जग को गीत सुनाता।"
गा-गाकर बह रही निर्झरी,
पाटल मूक खड़ा तट पर है।
गीत, अगीत कौन सुन्दर है ? -- (रसवन्ती, गीत अगीत, पृ० १३)

'गीत-अगीत' शीर्षक से इस कविता में सिद्ध कर दिया है कि अगीत (मौन) का सौन्दर्य 'गीत' के सौन्दर्य से कहीं अधिक है। तटिनी के तट पर मूक खड़े हुए पाटल की आँखों की मौन-भावनाएँ जितना आकर्षण रखती हैं, उतना आकर्षण गा-गाकर बहने वाली निर्झरी में नहीं। लज्जा, शील और प्रेम से परिपूर्ण नेत्र तथा उनसे निकलकर कपोलों पर बहने वाले शान्त एवं मूक आँसू मन पर जो प्रभाव डाल सकते हैं, वह प्रभाव वाणी नहीं डाल सकती। निःसन्देह इस अगीत के सौन्दर्य को गीत त्रिकाल में भी नहीं पा सकता।

'रश्मिरथी' में कर्ण गंगा के तट पर कुन्ती से जो अपनी बात कह रहा है, उसमें भी प्रश्नवाचक वाक्य के द्वारा अद्भुत प्रभाव उत्पन्न हो गया है। यह दिनकर जी की भाषा-शैली की अपनी अद्वितीय विशेषता है—

"तुमने जनकर भी नहीं पुत्र कर जाना,
उसने पाकर भी मुझे तनय निज माना।
अब तुम्हीं कहो कैसे आत्मा को मारूँ ?
माता कह उसके बदले तुम्हें पुकारूँ ?"
(रश्मिरथी, पंचम सर्ग, पृ० ८५)

साहित्यदर्पणकार पंडित विश्वनाथ के मतानुसार रसात्मक वाक्य का नाम ही 'काव्य' है। परन्तु यह रसात्मकता केवल विभावानुभावों और संचारियों से ही उत्पन्न नहीं होती अपितु पदविन्यास और छन्दों से भी फूटती है। काव्य के लिए 'रागतत्त्व' जितना आवश्यक है, उतना ही भाषा-सौन्दर्य के लिए 'छन्द'। कविता की भाषा छन्द पर आरूढ़ होकर जिस गति एवं आरोहावरोह से चलती है, उसका प्रभाव

ही निराला होता है। रीति,[1] गुण, अलंकार आदि की भाँति छन्द भी कविता की शरीर-यष्टि के लिए आवश्यक हैं। छन्द की लय कविता के माधुर्य में योग देती है। आचार्यों ने विशिष्ट रसों के लिए विशिष्ट छन्दों का विधान किया है। छन्दोमयी कविता का आनन्द दुहरा होता है। उसमें काव्यकला और संगीतकला दोनों ही एक-रस होकर आत्मसात् हो जाती हैं। अतएव छन्दोमय काव्य अकेली कला नहीं अपितु ऐसी दुहरी कला है जिसमें शब्द-सौन्दर्य और नाद-सौन्दर्य का रस मिला रहता है।

कविवर दिनकर जी की पूर्व कालीन कृतियों में गीतों का प्राधान्य है। वास्तव में गीत कई छन्दों के समन्वयात्मक स्वरूप हैं। गीत की टेक में यदि कोई एक छन्द होता है तो उसके अन्तरा में किसी अन्य छन्द के लक्षण घटते हैं। इसलिए छन्दःशास्त्र के अनुसार गीतों में छन्दों का विश्लेषण करना हम यहाँ उचित नहीं समझते। हाँ, 'कुरुक्षेत्र' और 'रश्मिरथी' आदि प्रबन्ध-काव्यों के छन्दों का विवरण देना ही अधिक उचित एवं उपयुक्त रहेगा। साथ में गीतेतर मुक्तक कविताओं के छन्दोविधान पर भी हम प्रकाश डालने का प्रयत्न करेंगे।

सफल कवि की लेखनी शब्दों और छन्दों पर पूरा अधिकार रखती है। शब्द उसकी नोक पर थिरकते हैं और छन्द उसकी गति पर ताल देते हैं। कवि की भाव-धारा और प्रसंग-वर्णन के परिवेश में प्रयुक्त शब्द भी अपना विशिष्ट अर्थ देने लगते हैं। निम्नांकित छन्द की अन्तिम दो पंक्तियों में आये हुए **'अंगार** और **'शृंगार'** शब्दों के अर्थक्षितिज का विस्तार दृष्टव्य है। बलिदान, उल्लास और राष्ट्र-प्रेम की भाव-धारा जिस गति के साथ निम्नांकित 'दिगपाल' छन्द में बही है; उसमें कवि के छन्दो-ज्ञान का अद्भुत परिचय निहित है। बारह-बारह मात्राओं की यति वाले इस चौबीस मात्राओं के छन्द-रूपी रथ पर चढ़कर कवि की शब्दावली जिस गति में चरणन्यास करती है, उसी गति में राष्ट्रप्रेम से परिपूर्ण बलिदान का वेगवान् आह्वान भी सुनाई पड़ता है—

४ ३ ५ ४ ३ ५
"धुँधली हुई दिशाएँ, छाने लगा कुहासा।
४ ३ ५ ४ ३ ५
कुचली हुई शिखा से, आने लगा धुआँ-सा॥

---

1. "पद-संघटना रीतिः"—(विश्वनाथ, साहित्यदर्पण)
"वचनविन्यासक्रमो रीतिः" (राजशेखर)।
"विशिष्टपद रचना रीतिः विशेषोगुणात्मा"—(वामन)

कोई मुझे बता दे, क्या आज हो रहा है ?
मुँह को छिपा तिमिर में, क्यों तेज रो रहा है ?
दाता पुकार मेरी, संदीप्ति को जिला दे।
बुझती हुई शिखा को, संजीवनी पिला दे।
प्यारे स्वदेश के हित, अंगार माँगता हूँ।
चढ़ती जवानियों का, शृंगार माँगता हूँ॥[1]—दिग्पाल छंद
—(सामधेनी, आग की भीख, पृ० ५८)

'रसवन्ती', 'सामधेनी', 'इतिहास के आँसू', 'कुरुक्षेत्र' और 'रश्मिरथी' काव्यों पर एक दृष्टि डालने से विदित होता है कि कवि को 'सार' नामक मात्रिक छन्द अधिक प्रिय है। आचार्यों ने बताया है कि सार छन्द के प्रत्येक चरण में २८ मात्राएँ होती हैं किन्तु चरणान्त में दो गुरु होते हैं। उदाहरण कवि के शब्दों में ही देखिए—

४ ३ ३ २ ४ ४ ४ ऽ४ऽ
"पीला चीर कोर में जिसकी चकमक गोटा-जाली :
३ ३ २ ३ ३ २ ४ ८ऽऽ
चली पिया के गाँव उमर के सोलह फूलोंवाली॥"[2]—सार छन्द
—(रसवन्ती, बालिका से बधू, पृ० १५)

× × × ×
२ ४ ५ ३ २ ३ ३ २ ऽ२ ऽ२
"ओ अशेष ! निःशेष बीन का एक तार था मैं ही !
४ २ ५ ३ २ ३ ३ २ २ २
स्वर्भू की सम्मिलित गिरा का एक द्वार था मैं ही !"—सार छन्द
—(सामधेनी, गीत तृतीय, पृ० ७)

× × × ×
२ ४ २ ३ ५ २ १०
"ओ भारत की भूमि वन्दिनी ! ओ जंजीरोंवाली !
तेरी ही क्या कुक्षि फाड़कर जन्मी थी वैशाली ?

---

1. उर्दू के प्रसिद्ध कवि इकबाल की निम्नांकित कविता 'दिग्पाल' छन्द में गायी जा सकती है—

"सारे जहाँ से अच्छा, हिन्दोस्ताँ हमारा।
हम बुलबुलें इसकी, यह गुलिस्ताँ हमारा॥

2. कुछ छन्दःशास्त्री इसे 'ललितपद' नाम भी देते हैं।

वैशाली ! इतिहास-पृष्ठ पर अंकन अंगारों का।
वैशाली ! अतीत गह्वर में गुंजन तलवारों का ॥"—सार छन्द
—(इतिहास के आँसू, वैशाली, पृ० ४५)

× × × ×
६ २ २ २ २ २ ३ ३ २ ऽ४ऽ
"ब्रह्मचर्य के प्रण के दिन जो रुद्ध हुई थी धारा।
कुरुक्षेत्र में फूट उसी ने बनकर प्रेम पुकारा ॥
बही न कोमल वायु, कुंज मन का था कभी न डोला।
पत्तों की झुरमुट[1] में छिपकर विहग न कोई बोला ॥
चढ़ा किसी दिन फूल, किसी का मान न मैं कर पाया।
एक बार भी अपने को था दान न मैं कर पाया ॥"—सार छन्द
—(कुरुक्षेत्र, चतुर्थ सर्ग, पृ० ५६,६०)

× × × ×
४ २ ५ ७ २ ४ ऽ४ऽ
"दीनों का संतोष भाग्यहीनों की गद्‌गद वाणी।
नयनकोर में भरा लबालब कृतज्ञता का पानी ॥
हो जाना फिर हरा युगों से मुरझाये अधरों का।
पाना आशीर्वचन प्रेम विश्वास अनेक नरों का ॥"—सार छन्द
—(रश्मिरथी, चतुर्थ सर्ग, पृ० ५८)

उपर्युक्त स्थलों में सार छन्द को देखकर यह कहना पड़ता है कि कविवर दिनकर जी का विश्वास है कि शृंगार, करुण आदि कोमल रसों की कविताओं के लिए 'सार' छन्द अधिक उपयुक्त है। यह मात्रिक छन्द इन रसों की उद्‌बुद्धि में सहायक सिद्ध होता है। ब्रजभाषा के प्रसिद्ध कवियों ने ऐसे कोमल रसों के लिए 'सवैया' नामक छन्द को अधिक उपयुक्त समझा था। हिन्दी-साहित्य के भक्तिकाल और रीतिकाल की कविताएँ प्रायः 'सवैया' छन्द में लिखी हुई मिलती हैं। इन बातों से हमें मानना पड़ेगा कि छन्द और रसोद्रेक का भी अन्योन्याश्रय-सम्बन्ध हुआ करता है।

दिनकर जी ने 'रेणुका' में कई प्रकार के मात्रिक छन्दों का प्रयोग किया है। उनमें **पद्धरि, ताटंक, सरसी, शृंगार, लावनी और वीर छन्द** अधिक आकर्षक और प्रसिद्ध हैं।

---

1. यह शब्द वास्तव में पुंलिंग है। कवि ने स्त्रीलिंग में लिखा है।

५ ३ ४ ४
"साकार दिव्य गौरव विराट,
४ २ ७ ३
पौरुष के पूँजीभूत ज्वाल।
मेरी जननी के हिम-किरीट,
मेरे भारत के दिव्य भाल।"—पद्धरि छन्द
—(रेणुका, हिमालय के प्रति, पृ० ४)

× × × ×

तीस मात्राओं का एक छन्द 'ताटंक' कहलाता है। इसके चरणान्त में मगण (SSS) होता है यदि मगण का बन्धन समाप्त कर दिया जाय तो यही लावनी[1] या 'ख्याल' कहलाने लगता है। ताटंक और लावनी के उदाहरण—

३ ३ ४ ४ २ ३ ३ ६ SSS २
"चलो जहां निर्जन कानन में वन्य कुसुम मुसकाते हैं।
मलयानिल झूलता, झूलकर जिधर नहीं अलि आते हैं॥"
—('कविता की पुकार' में ताटंक छन्द)

× × × ×

३ ३ २ ६ २ ३ ३ २ ६
"पहन शुक्र का कर्णफूल है दिशा अभी भी मतवाली।
रहते रात रमणियाँ आईं ले-ले फूलों की डाली॥"
—('कविता की पुकार' में लावनी[2] छन्द)

× × × ×

सरसी छन्द में २७ मात्राएँ होती हैं और अन्त में ऽ। (गुरु-लघु) का होना आवश्यक है—

३ ३ २ ६ २ ३ ५ ऽ ३।
"लहर-लहर पर लहराते हैं मधुर प्रभाती गान।
भुवन स्वर्ग बन रहा उड़े जाते ऊपर को प्राण॥"
—(कविता की पुकार, सरसी छन्द)

× × × ×

---

1. कथावाचक पं० राधेश्याम की रामायण प्रायः 'ताटंक' और लावनी छन्दों में है।

2. राष्ट्रकवि श्री मैथिलीशरण गुप्त कृत 'पंचवटी' खण्डकाव्य का छन्द भी लावनी ही है यहीं-कहीं 'ताटंक' के भी दर्शन होते हैं?

चरणान्त में गुरु-लघु वाला सोलह मात्राओं का एक मात्रिक छन्द 'शृंगार' कहलाता है जिसका 'रेणुका' में प्रयोग है—

५ २ २ ३ ४
पुजारिन की बन कंठ-हिलोर।
३ ४ २ २ २ ३
भिगो दूँगी अग-जग का छोर॥"

—(कविता की पकार, शृंगार छन्द)

कवि उस जगन्नियन्ता सृष्टिकर्ता की तो सृष्टि है ही, किन्तु साहित्य का वह स्रष्टा भी है। कवि नई कविता के साथ-साथ नये 'छन्दों' की भी सर्जना करता है। प्रसाद जी ने अपने 'आँसू' नामक काव्य में जिस १४ मात्रा वाले छन्द की सर्जना की है, उसका नाम ही 'आंसू' पड़ गया है। प्रसाद के 'आँसू' का आँसू छन्द—

२ ६ ४ २
"जो घनीभूत पीड़ा थी,
४ २ ४ ४
मस्तक में स्मृति-सी छाई।
दुर्दिन में आँसू बनकर,
वह आज बरसने आई।"—

छन्दःशास्त्र में पहले-से एक 'सखी' नामक छन्द प्रचलित था जिसमें १४ मात्राओं के साथ चरणान्त में मगण (sss) अथवा नगण (Iss) होता था। प्रसाद जी ने उसमें स्वच्छन्दता ग्रहण की और अन्तिम मगण या यगण का बन्धन समाप्त करके आँसू काव्य में एक नये छन्द की सृष्टि की। तब छन्दःशास्त्रियों ने उनका नाम 'आँसू' ही रख दिया। 'रेणुका' के 'कस्मैदेवाय' शीर्षक कविता के छन्द को यदि हम 'दिनकर' छन्द कह दें तो असंगत न होगा, क्योंकि सोलह मात्रा वाले इस छन्द का प्रयोग कवि ने अपने काव्य-ग्रन्थों में बहुत जगह किया है—

३ ५ ३ ३ २
"देख कलेजा फाड़ कृषक दे—
३ ३ ४ २ ४
रहे हृदय-शोणित की धारें।
बनती ही उन पर जाती हैं,
वैभव की ऊँची दीवारें॥"

उपर्युक्त उदाहरणों से पाठकों को ऐसा प्रतीत हुआ होगा कि दिनकर जी ने अपनी कविताएँ मात्रिक छन्दों में ही लिखी हैं। किन्तु ऐसी बात नहीं है। 'कुरुक्षेत्र' के द्वितीय सर्ग में वार्णिक छन्दों का भी प्रयोग है। 'मनहर' या 'कवित्त' नामक अक्षरात्मक छन्द में ३१ अक्षर होते हैं और यति १६ और १५ अक्षरों पर होती है। महाभारत के उपरान्त युधिष्ठिर के मन की दशा कवि ने कवित्त (घनाक्षरी) छन्द में इस प्रकार वर्णित की है—

३ २ १ ४ ५ १
"जानता कहीं जो परिणाम महाभारत का,
२ २ २ १ ४ १ ३
तन-बल छोड़ मैं मनोबल से लड़ता।
तप से सहिष्णुता से त्याग से सुयोधन को,
जीत नई नींव इतिहास की मैं धरता॥
और कहीं वज्र गलता न मेरी आह से जो,
मेरे तप से नहीं सुयोधन सुधरता।
तो भी हाय, यह रक्तपात नहीं करता मैं,
भाइयों के संग कहीं भीख माँग मरता॥"—कवित्त
—(कुरुक्षेत्र, द्वितीय सर्ग, पृ० १०)

'कुरुक्षेत्र' के तृतीय, चतुर्थ और सप्तम सर्गों में २८ मात्राओं वाले 'ललितपद' का और पंचम सर्ग में २२ मात्राओं वाले राधिका छन्द का प्रयोग हुआ है—

३ ३ २ ६ २
"समर निंद्य है धर्मराज पर,
३ ३ २ २ २
कहो शान्ति वह क्या है?
जो अनीति पर स्थित होकर भी,
बनी हुई सरला है॥"—ललितपद छन्द
—(कुरुक्षेत्र, तृतीय सर्ग, पृ० २१)

× × × ×

५ ३ ५ ३ २ २ २
"शारदे! विकल संक्रान्ति-काल का नर मैं;
कलिकाल-भाल पर चढ़ा हुआ द्वापर मैं;
संतप्त विश्व के लिए खोजते छाया।
आशा में था इतिहास-लोक तक आया॥"—राधिका छन्द
—(कुरुक्षेत्र, पंचम सर्ग, पृ० ६७)

'रश्मिरथी' के प्रथम सर्ग में 'ललित पद', द्वितीय में लावनी, तृतीय में पद्धरि, चतुर्थ में सार और ललितपद, पंचम में राधिका, और सप्तम में सुमेरु नामक मात्रिक छन्द हैं—

।ऽ ।ऽ ऽ
"इसी के त्रास में अन्तर पगा था।
।ऽ ।ऽ ऽ
हमें वनवास में भी भय लगा था॥
।ऽ ।ऽ ऽ
कभी निश्चिन्त मैं क्या हो सका था?
।ऽ ।ऽ ऽ
न तेरह वर्ष सुख से सो सका था॥"—सुमेरु छन्द
—(रश्मिरथी, सप्तम सर्ग, पृ० १८३)

सुमेरु छन्द में १९ मात्राएँ होती हैं और १०-९ पर यति। आदि में वर्ण लघु होता है और चरणान्त में यगण (।ऽऽ)। उक्त उद्धरण में पूर्णतया सुमेरु छन्द का निर्वाह हुआ है।

अन्त में दिनकर जी के सम्पूर्ण काव्यों पर दृष्टि डालने के उपरान्त यह स्वीकार करना पड़ता है कि भाषालालित्य के साथ-साथ विविध छन्दों की राग-माधुरी उनकी कविताओं में पूरी तरह मिलती है। उनकी व्यंजनामयी सरल सरस वाणी में राष्ट्र का स्वर गूँजता है। उनके भाव, भाषा और छन्दों में स्वदेश की मिट्टी की वह गन्ध मिलती है जो सच्चे प्रगतिवाद को नवचेतना प्रदान करती है।

— ० —

श्री रामधारीसिंह 'दिनकर' : एक परिचय

आचार्य शिवपूजन सहाय

भारत-वसुन्धरा की शृंगारहारावली पुण्यसलिला गंगा के तट-प्रान्त में अनादि काल से अनेक ऋषि और मनीषी होते आये हैं। बड़े-बड़े कवि और दार्शनिक, धर्म-धुरीण, राजर्षि, रणधीर वीर, मूर्द्धन्य साहित्यकार और धर्माचार्य भी हुए हैं। भारतीय सभ्यता के आलोक की दिव्य रश्मियाँ पहले-पहल उसी प्रदेश में उदित हुईं। बिहार में भी गंगा की पार्श्ववर्त्ती भूमि अनेक यशोधन पुरुषपुङ्गवों के शुभ जन्म से धन्य हुई है। राष्ट्रभाषा हिन्दी के गौरवालंकार राष्ट्रकवि 'दिनकर' भी उसी रत्नगर्भा भूमि की अमूल्य देन हैं।

बिहार-राज्य के मुँगेर जिले में गंगा-तटस्थ सिमरिया-घाट के सन्निकट 'सिमरिया' ग्राम में, २९ सितम्बर को, सन् १९०८ ई० में, 'दिनकर' जी का जन्म हुआ था। उनके यशस्वी जीवन और उनकी तेजस्विनी कवित्वशक्ति से उनके पिता श्री रविनाथसिंह जी के पुण्य-प्रताप का सहज ही अनुमान किया जा सकता है। धन्य है वह धर्मशीला जननी, जिसकी कोख में ऐसा लोकरंजक कवि उत्पन्न हुआ। भारतीय धर्मशास्त्रों के मतानुसार संतान की कीर्त्ति में ही उसके माता-पिता की धर्मप्राणता झलकती है। 'दिनकर' जी की प्रतिष्ठा और ख्याति वह झलक स्पष्ट दिखाती है।

बिहार में सरहपाद से आजतक जितने हिन्दी कवि हुए हैं उनमें दिनकर जी का विशिष्ट स्थान है। महाकवि विद्यापति से आधुनिक कवि-परम्परा तक दृष्टिपात करने से यह प्रत्यक्ष अनुभव होता है कि बिहार के हिन्दी कवियों में सरहपाद और विद्यापति के बाद कोई ऐसा कवि न हुआ, जिसकी प्रसिद्धि समस्त भारत में व्याप्त हो सकी हो तथा जिसने विदेशों में भी हिन्दी की महिमा प्रदर्शित की हो। उपर्युक्त दोनों पुराने कवियों को भी उनके अपने जीवन-काल में ही देश-विदेशों में उतना विख्यात होने का सौभाग्य प्राप्त नहीं हुआ था जितना 'दिनकर' जी को। यह हिन्दी के लिए और विशेषतः बिहार के लिए स्वभावतः बड़े गर्व का विषय है।

'दिनकर' जी की कविता जैसी ओजस्विनी होती है वैसा ही आकर्षक उनका गद्य भी होता है। वह सफल कवि हैं तो समर्थ निबन्धकार भी हैं। उनकी रचनाओं की यह एक बड़ी विशेषता है कि उनमें कहीं दुरूहता नहीं होती। कविता में उनकी रससिद्धता जितनी दिखाई पड़ती है, गद्य में उतनी ही प्राञ्जलता भी। उनकी गद्य-रचनाओं में कितने ही ऐसे स्थल मिलते हैं जिनमें काव्य की छटा दीख पड़ती है। उनके काव्यग्रंथों की तरह उनके गद्यग्रथ भी भाव और भाषा की सरसता तथा प्रौढ़ता से पाठक को प्रभावित करते हैं। उनकी रचनाओं के अन्दर दो धाराएँ बहुत स्पष्ट हैं—एक भारतीय संस्कृति की और दूसरा राष्ट्रीय भावना की। दोनों धाराओं में निर्मलता और अगाधता के साथ प्रखरता भी यथेष्ट है।

'दिनकर' जी की प्रारम्भिक शिक्षा उनके अपने गांव की पाठशाला में ही हुई। पटना जिले के मोकामा-घाट-हाईस्कूल से वह मैट्रिक पास हुए। सन् १९३२ ई० में पटना-कालेज से ग्रेजुएट होकर वह अपने जिले के बरबीधा-हाईस्कूल में एक वर्ष प्रधानाध्यापक रहे। सन् १९३४ ई० से १९४३ तक सब-रजिष्ट्रार के पद पर योग्यता-पूर्वक काम करके उन्होंने अपनी कार्यदक्षता की ओर सरकार का ध्यान आकृष्ट किया। फलस्वरूप १९४३ से १९५० तक बिहार-सरकार के प्रचार-विभाग में राज-पत्रित अधिकारी रहने के बाद १९५० से १९५२ तक मुजफ्फरपुर के लंगटसिंह-कालेज में हिन्दी-विभाग के अध्यक्ष-पद को गौरवान्वित किया। तत्पश्चात् १९५२ से अद्या-वधि वह केन्द्रीय संसद् के माननीय सदस्य हैं। १९५५-५६ में वह राजभाषा-आयोग के भी सदस्य थे।

अनेक साहित्यिक और सांस्कृतिक संस्थाओं से वह सम्बद्ध हैं। बिहार-राष्ट्र-भाषा-परिषद् (पटना) के सचालक-मण्डल के वह एक प्रमुख सदस्य हैं। इसके अति-रिक्त साहित्य अकादमी और संगीत-नाटक-अकादमी (नई दिल्ली), आल-इण्डिया-रेडियो की प्रोग्राम ऐडवाइजरी कमेटी, सेण्ट्रल बोर्ड आफ फिल्म सेन्सर्स (बम्बई), हिन्दुस्तानी अकादमी (इलाहाबाद) तथा नागरी-प्रचारिणी सभा (काशी) के भी वह सदस्य हैं। इससे संसद् के सदस्यों में उनकी महत्ता स्वयंसिद्ध है।

बिहार के साहित्यकारों में सर्वप्रथम 'दिनकर' जी को ही भारत-सरकार ने १९५९ में 'पद्मभूषण' की उपाधि से सम्मानित किया और १९६१ में उनके प्रसिद्ध ग्रन्थ 'संस्कृति के चार अध्याय' पर पाँच हजार रुपये का सर्वश्रेष्ठ साहित्यिक पुरस्कार भी बिहार में पहले-पहल उन्हीं को दिया। अपनी प्रतिभा के बल से वह राजा और प्रजा दोनों के सम्मान-भाजन हुए।

उनकी कविता-पुस्तकों पर भी कई पदक पुरस्कार मिले हैं। केवल 'कुरुक्षेत्र' पर भारत-सरकार से दो हजार, साहित्यकार-संसद् (प्रयाग) से एक हजार और

उत्तरप्रदेश की सरकार से बारह सौ रुपये के पुरस्कार प्राप्त हुए हैं तथा काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा से द्विवेदी-पदक भी मिला है। 'रश्मिरथी' को भी द्विवेदी-पदक और उत्तरप्रदेश की सरकार से आठ सौ रुपये का पुरस्कार मिल चुका है। उनकी बालोपयोगी रचना (मिर्च का मजा) भी भारत-सरकार द्वारा पाँच सौ रुपये से पुरस्कृत हुई है। बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद् ने अखिलभारतीय काव्य-पुरस्कार-प्रतियोगिता में उनके 'नीलकुसुम' नामक काव्य पर एक सहस्र मुद्रा का सम्मान-पुरस्कार प्रदान किया था।

नवम्बर १९५५ में वह 'वारसा' (पोलैण्ड) के अन्तर्राष्ट्रीय कवि-सम्मेलन में भारतीय कविता का प्रतिनिधित्व करने को योरुप गये थे और १९६१ में सांस्कृतिक शिष्टमण्डल के साथ सोवियत रूस भी गये। दोनों यात्राओं में उन्होंने विदेशी विद्वानों के समाज में हिन्दी की गौरव-गरिमा बढ़ाई। उनके आकर्षक व्यक्तित्व और उनकी ओजस्विनी वाणी ने सर्वत्र विदेशी साहित्यकारों को हिन्दी की प्रभविष्णुता तथा शक्तिमत्ता की ओर आकृष्ट किया।

'दिनकर' जी ने सन् १९२३ ई० में अपनी पहली कविता लिखी थी, जो १९२५ में जबलपुर (मध्यप्रदेश) के हिन्दी-मासिक 'छात्र-सहोदर' में छपी थी। राष्ट्रीय गीतों की उनकी पहली पुस्तक 'बारडोली-विजय' १९२८ ई० में सर्वप्रथम प्रकाशित हुई थी, जिसके दो साल बाद उनका 'प्रणभंग' नामक खण्डकाव्य प्रकाश में आया। 'कुरुक्षेत्र' और 'रश्मिरथी' नामक उनके दो प्रबन्धकाव्य क्रमशः १९४६ और १९५२ में निकले थे, जो कई विश्वविद्यालयों में पाठ्यग्रंथ भी निर्धारित हो चुके हैं। उनके काव्य-संग्रहों में रेणुका, हुंकार, रसवन्ती, सामधेनी, धूपछाँह और चक्रवाल हिन्दी-संसार में पर्याप्त प्रसिद्धि और प्रतिष्ठा प्राप्त कर उनकी कीर्त्ति के विस्तार में सहायक हुए हैं। 'चक्रवाल' की प्रस्तावना में उन्होंने हिन्दी-कविता की प्रगति का जो विश्लेषणात्मक विवेचन किया है वह इस बात का साक्षी है कि वह हिन्दी-साहित्य के इतिहास के भी मर्मज्ञ हैं और उसके क्रम-विकास की गति-विधि का सूक्ष्मदर्शिता से निरीक्षण करने में सजग तथा दक्ष भी।

उनकी स्वतन्त्र कविता-पुस्तकों में द्वन्द्वगीत, बापू, इतिहास के आँसू, धूप और धुआँ, दिल्ली, नीम के पत्ते, नील कुसुम आदि अपने-अपने विषय की सुन्दरतम रचनाएँ हैं। उक्त प्रथम पुस्तक १९३९ में ही प्रकाशित हुई थी और विश्वविद्यालय के पाठ्यक्रम में भी स्वीकृति हुई। उससे उनकी गहरी सूझ और दार्शनिक प्रवृत्ति का अच्छा परिचय मिलता है। वह इतिहास के बड़े मेधावी अध्येता रहे हैं, अतः इतिहास के मार्मिक प्रसंगों की काव्यात्मक अभिव्यंजना में उनका कौशल वस्तुतः

दर्शनीय है। 'इतिहास के आँसू' और 'दिल्ली' तथा 'बापू' की लोकप्रियता यहाँ तक बढ़ी-चढ़ी है कि इनकी रचनाएँ अनेक सभा-सम्मेलनों में स्वयं कवि को ही असंख्य बार सुनाने के लिए बाध्य होना पड़ा है।

'चित्तौर का साका' और 'मिर्च का मजा' उनकी दो बालोपयोगी कविता-पुस्तकें हैं, जिनकी सुबोध भाषा यह प्रमाणित करती है कि जैसे वह संस्कृतनिष्ठ भाषा लिखने में क्षमताशाली हैं वैसे ही मुहावरेदार सुगम भाषा लिखने में भी सिद्धहस्त हैं। 'धूप और धुआँ' तथा 'नीम के पत्ते' पढ़ते समय भी यही बात ध्यान में आती है। किन्तु गद्य ही यदि कवि की कसौटी है तो कहना पड़ेगा कि उनकी कविता पुस्तकों के समान ही उनकी गद्यरचनाएँ भी भाषा पर उनके असामान्य अधिकार का पता देती हैं।

'मिट्टी की ओर' उनकी सबसे पहली प्रकाशित गद्य-पुस्तक है, जिसमें उनके आलोचनात्मक निबन्ध संगृहीत हैं। यह पहले-पहल १९४६ में प्रकाशित हुई थी। इसके बाद उनका एक उत्कृष्ट निबन्ध-ग्रन्थ 'अर्द्धनारीश्वर' १९५२ में निकला, जिसकी काफी चर्चा हिन्दी-जगत् में हुई। 'रेती के फूल' में जो निबन्ध हैं वे उपर्युक्त निबन्धों के समान गम्भीर और गवेषणापूर्ण प्रतिभात होने पर भी भाव-भाषा की सादगी के लिए दिलपसंद नमूने सामने लाते हैं। उनकी एक अनूठी गद्य-रचना 'उजली आग' १९५६ में प्रकाशित हुई थी, जिसमें उनकी लिखी लघु कथाएँ संकलित हैं। उनका गद्य उनके अन्य गद्य-ग्रन्थों से अधिक चमत्कार पूर्ण जान पड़ता है। लघु कथाओं की भाषा में हृदयाह्लादिनी शैली के उत्तमोत्तम गुण परिलक्षित होते हैं। यों तो उनके तीन अन्य गद्यग्रन्थों—हमारी सांस्कृतिक एकता, भारत की सांस्कृतिक कहानी, संस्कृति के चार अध्याय—में भी ठौर-ठौर पर वक्रता और लाक्षणिकता की बहार भाषा की तरल सरसता में चार-चाँद लगाती चलती है, जिससे उनके अपरिचित पाठक को भी यह आभास मिल जाता है कि इन गद्यग्रन्थों का रचयिता कोई कुशल कवि ही होगा।

उनका नया महाकाव्य 'उर्वशी' हिन्दी के आधुनिक महाकाव्यों की परम्परा में एक अभूतपूर्व काव्यग्रन्थ है, जिसमें कल्पना के उत्तुंग शिखर से वर्णन-सौन्दर्य, भाव-माधुर्य और भाषा-सौष्ठव की त्रिवेणी प्रवाहित होती हुई दृष्टिगोचर होती है। शृंगार रस की ऐसी चरम परिणति सहसा कहीं दृष्टिगत नहीं होती। यह रमणीय काव्य अपने पाठक को ऐसा रसानुभूति-निमग्न कर देता है कि वह अपनी मनोभावना और मनोदशा व्यक्त करने योग्य नहीं रह पाता। इसके द्वारा 'दिनकर' जी ने साहित्य-क्षेत्र में एक ऐसा रस का सोता बहाया है जिसके तटवर्त्ती प्रेमतीर्थ में रस-पिपासुओं

का मेला हमेशा लगा रहेगा। वास्तव में यह महाकाव्य राष्ट्रभाषा हिन्दी का 'अभिज्ञान-शाकुन्तल' है।

'दिनकर' जी प्रत्येक साहित्यसेवी के सुहृद् हैं। उनके शरीर का डीलडौल जैसा भव्य है, उनका हृदय भी वैसा ही विशाल है। उनसे मिलने वाला व्यक्ति उनकी सहृदयता और विनोदप्रियता से आप्यायित हुए बिना नहीं रहता। उनके स्वर में जो घन-घोष है वह उनके पुरुषत्व के तेज की दीप्ति दिखाता है। वह पौरुष के कवि हैं। उनकी वाणी राष्ट्रीय चेतना को उद्बुद्ध करती है। उसमें कहीं युद्ध की ललकार है, कहीं बलिदान की प्रेरणा। देश के उमंगी युवकों का वह प्रतिनिधित्व करते हैं। सांस्कृतिक भावनाओं को उनसे उत्तेजना मिलती है। पद-दलितों और शोषितों तथा किसानों और मजदूरों की करुण-पुकार उनकी कविता के माध्यम से देश-भर में व्याप्त हुई है।

बिहार-हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के रजत-जयन्ती-महाधिवेशन का सभापतित्व सन् १९५८ में उन्होंने ही किया था। उससे पहले ही वह १९४४ में जयपुर के अखिल-भारतीय कवि-सम्मेलन की अध्यक्षता कर चुके थे। अनेक सभा-सम्मेलनों और गोष्ठियों को उन्होंने सनाथ किया है। जहाँ कहीं वह पहुँच जाते हैं उनके व्यक्तित्व और स्वर की बुलन्दी सब पर घटाटोप छा जाती है। उनकी साहित्यसेवा का क्रम निरंतर गतिशील है। संभव है कि भविष्य में उनकी प्रतिभा के प्रसाद से हिन्दी की अधिकाधिक गौरववृद्धि हो। परमात्मा उनको चिरायु करें कि राष्ट्रभाषा हिन्दी का मस्तक गर्वोन्नत बना रहे।

— ० —

कविवर दिनकर

श्री बनारसीदास चतुर्वेदी

उस दिन की मुझे अच्छी तरह याद है जब पटने की एक साहित्यिक मीटिंग में मैंने अपने भाषण में कहा था—

"यदि दिनकर अफ्रीका में होते तो मैं उनसे मिलने के लिए ही अफ्रीका जाता।"

उपस्थित जनता ने करतल ध्वनि से मेरे इस कथन का स्वागत किया था, पर सम्भवतः यह बात बिहार के कुछ वयोवृद्ध कवियों को अच्छी नहीं लगी और उनमें से एकाध का पत्र भी मेरे पास आया था। उनकी इस असहमति का कारण क्या था, यह मैं निश्चयपूर्वक नहीं कह सकता। उन पर यह इल्जाम लगाना कि दिनकर जी की बढ़ती हुई कीर्ति के प्रति वे ईर्ष्यालु थे, मेरे लिए हिमाकत होगी। इसलिए यही समझना चाहिए कि मेरे कथन में उन्हें अत्युक्ति की मात्रा दीख पड़ी।

बात दरअसल यह थी कि मैं अपने स्वभावानुसार दिनकर जी के प्रेम में—साहित्यिक प्रेम में—फंस गया था और प्रेमी व्यक्ति में सन्तुलन तलाश करना, गधे के सिर से सींग तलाश करने के समान, निरर्थक है—अव्यापार है।

अगर धृष्टता न समझी जाय तो मैं अपनी साहित्यिक फिलासफी पर कुछ निवेदन कर दूँ। पहले मैं अपने नगर के ही निवासी कविवर पं० श्रीधर पाठक का भक्त था, उसके बाद राष्ट्रकवि मैथिलीशरण जी गुप्त ने मुझे प्रभावित किया। तत्पश्चात् मैं कविरत्न पं० सत्यनारायण जी के व्यक्तित्व से और उनकी मनोहर कविताओं से आकर्षित हो गया था। इनके बाद हिन्दी के जिन कवियों का भक्त मैं बनता गया, उनकी सूची काफी विस्तृत है। एक बार तो मैंने 'विशाल-भारत' में बन्धुवर सियाराम शरण जी के विषय में एक लेख लिखा था, जिसका शीर्षक था—'मेरी रुचि के कवि: श्री सियाराम शरण गुप्त'। कविवर दिनकर जी इस लम्बी

सूची में काफी देर से आए, पर आते ही उन्होंने मेरे समस्त हृदय को ग्रहण कर लिया।

अपनी साहित्यिक रुचि की उन्नति के—या अवनति के—कुछ भी कहिए, कारण मेरी भक्ति में निरन्तर परिवर्तन होते रहे हैं। सफल व्यक्तियों के प्रति मेरे हृदय में विशेष आकर्षण नहीं और साधन-सम्पन्न व्यक्ति तो मुझे बिल्कुल ही आकर्षित नहीं करते। अब मैं अपनी श्रद्धा के पुष्प मुख्यतया संघर्षशील व्यक्तियों के ही चरणों में समर्पित करना चाहता हूँ। एक बार मज़ाक के मूड में मैंने एक तुक-बन्दी की थी—

"रस एक का लेकर दूसरे से मनभावनी यों मन में मचली।
नित प्रेमी नवीन बनाती रही, फिर भी यह रही चुनरी उजली।
कली प्रेम में ही मदमाती रही, मंडराते रहे यां अनेकों अली।
अली, एक की होके रहूंगी न मैं, शुचि साहित में परकीया भली।"

मुझे यह बात ईमानदारी के साथ स्वीकार कर लेनी चाहिए कि दिनकर जी मेरे साहित्यिक प्रेम की परिधि से अब बाहर जा चुके हैं। निस्सन्देह यह उनकी अयोग्यता का सूचक नहीं है, बल्कि मेरे दृष्टिकोण में परिवर्तन का एक प्रमाण है।

पर साथ ही साथ मैं यह भी कहूँगा कि लगभग १८-१९ वर्ष तक मेरे हृदय पर उनका एकाधिपत्य रहा। मैं उन्हें साहित्य-जगत् का एक करिश्मा समझता रहा और अब भी यह मानता हूँ कि अपनी सुन्दर कविताओं को स्मरण शक्ति के भरोसे इतने ओजस्वितापूर्ण ढंग पर पढ़ना केवल उन्हीं के हिस्से में आया है। सन् १९५२ में मैंने सूचना एवं प्रसारण मन्त्री डा० केसकर को लिखा था—"बन्धुवर, दिनकर जी हिन्दी-जगत् के एक आश्चर्यमय व्यक्ति हैं और उनकी 'रश्मि-रथी' को उनके मुख से सुनना सर्वोच्च कोटि का मानसिक भोजन है। क्या ही अच्छा हो यदि आप उनकी ओजस्वी वाणी को टेप पर रिकार्ड करा लें।" यह बात साढ़े नौ बरस पहले की है। मेरा अब भी यह विश्वास है कि दिनकर जी जैसे महाकवि बहुत बरसों बाद हिन्दी ही क्या किसी भी साहित्य में आते हैं।

दिनकर जी की वे कविताएं, जो उन्होंने अपने अन्तर्द्वन्द्व के समय में लिखी थीं, मुझे खासतौर से प्रिय हैं—'बंधी है लेखनी, लाचार हूँ मैं' यह पंक्ति अब भी मेरे कानों में गूँज रही है। उसी बंधी हुई लेखनी को उन्मुक्त करने में इन पंक्तियों के लेखक का भी कुछ हाथ रहा है, और दिनकर जी कभी-कभी आधी गम्भीरता और आधे मज़ाक के साथ कहते हैं—"आपने कम से कम ७५,००० रुपये का हमारा

नुकसान करा दिया है।" दिनकर जी इस रकम को बराबर बढ़ाते ही जाते हैं, फिर भी मेरा यह विश्वास है कि लगी लगाई नौकरी छोड़ने से सचमुच उन्हें जबरदस्त आर्थिक हानि हुई है।

मैं कोई कवि नहीं और कविता मर्मज्ञ भी नहीं। इसलिये यदि मैं दिनकर जी के कवित्व की आलोचना करूँ तो अनधिकार चेष्टा होगी। हाँ, अपनी रुचि की बात तो कह ही सकता हूँ। मेरा ख्याल है कि दिनकर जी की प्रतिभा का सर्वोत्कृष्ट उदाहरण 'कुरुक्षेत्र' में ही मिलता है। यद्यपि 'हुंकार' में भी काफी ओज और प्रसाद गुण विद्यमान है, तथापि दिनकर जी के जीवन-दर्शन की पूरी झांकी 'कुरुक्षेत्र' में ही होती है।

दिनकर जी के कवित्व के विकास के साथ-साथ व्यक्तित्व का विकास कितना हुआ है, यह प्रश्न ही दूसरा है। राजनैतिक क्षेत्र में प्रवेश करने पर बड़े से बड़े साहित्यिक की प्रतिभा को ठेस पहुँचती है, क्योंकि दोनों क्षेत्रों के मान-दण्ड अलग-अलग हैं और साहित्य-क्षेत्र में जो चीज़ अक्षम्य दुर्गुण मानी जाती है, वही राजनीति में दुर्लभ गुण। यह बात निश्चित है कि दिनकर जी दिल्ली को पूर्ण रूप से कभी नहीं अपना सके और उसे छोड़ने की हिम्मत भी उनमें नहीं हुई। मुझे आशा थी कि वह कभी गुरुदेव कवीन्द्र श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर की तरह अपना एक छोटा-सा आश्रम कायम करेंगे, जो नवीन साहित्यिकों के लिए एक तीर्थ-स्थल बन जायगा, पर अपनी अस्वस्थता के कारण वह ऐसा करने में समर्थ नहीं हुए। एक बार उन्होंने मुझसे कहा था—"हिन्दी-भवन में आपको जो अनुभूतियाँ हुई हैं, उनको सुनने के बाद भला मैं किसी संस्था को कैसे स्थापित कर सकता हूँ?"

यहाँ मैं अपनी एक हार्दिक अभिलाषा को प्रकट कर देना चाहता हूँ। सन् १९१८ से मैं कवीन्द्र श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर के शान्ति-निकेतन-का तीर्थयात्री रहा हूँ और १९२०-२१ में तो चौदह महीने वहाँ रहने का भी अवसर मुझे मिला था। पहले मुझे आशा थी कि कभी पं० श्रीधर पाठक का पद्मकोट, आंशिक रूप से ही सही, एक तीर्थ बन जायगा। इसी प्रकार मैंने यह भी आशा की थी कि राष्ट्रकवि मैथिली-शरण जी गुप्त बेतवा नदी के तट पर कोई सुन्दर आश्रम कायम करेंगे। कविवर दिनकर जी से भी मुझे ऐसी ही उम्मीद थी। दरअसल मेरा ही यह दोष था, क्योंकि जो साधन गुरुदेव को प्राप्त थे, और आदर्शवाद की जितनी पूँजी उनके पास थी, उनके एक अंश की भी आशा हिन्दी के किसी कवि से नहीं की जा सकती। अपनी इस भूल को मैं स्वीकार करता हूँ। कवीन्द्र श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर के तराजू पर तो सभी कवि हल्के ही साबित होंगे।

यहाँ पर अपने दृष्टिकोण के एक अन्य परिवर्तन का भी जिक्र कर देना जरूरी है। महापुरुषों के गुणगान करने की अपेक्षा अब तथाकथित क्षुद्र पुरुषों में महत्त्व को तलाश करना मुझे कहीं-कहीं अधिक रुचिकर प्रतीत होने लगा है। कविवर नागार्जुन की वह पंक्ति "जो नहीं हो सके सफल-काम, मैं करता हूँ उनको प्रणाम" मेरे लिये मोटो या आदर्श वाक्य बन गई है।

यदि मेरे पास समय होता और कुछ साहित्यिक योग्यता भी, तो मैं अपने पुराने श्रद्धापात्रों की रचनाओं का यथोचित मूल्यांकन करता और अपनी निष्पक्ष सम्मति हिन्दी-जनता के सम्मुख उपस्थित करता। कवि या लेखक की रचना के पीछे जो व्यक्तित्व होता है, वही मेरे लिए खास चीज है। ऐसे बहुत से लेखक और कवि मेरे देखने में आये हैं, जो अपनी साहित्यिक कृतियों की अपेक्षा निम्नतर धरातल पर हैं, जबकि मैं इस परिणाम पर पहुँच चुका हूँ कि कलाकार को अपनी कृतियों से कहीं अधिक ऊँचे दर्जे का होना चाहिए। किसी पर फैसला देना मेरा काम नहीं और दोष-दर्शन की नीति को मैं अत्यन्त धृष्टतापूर्ण मानता हूँ। मैं यह भी जानता हूँ कि कोई भी कवि या लेखक सदैव कल्पना की सर्वोच्च उडान पर निरन्तर नहीं रह सकता। एक अंग्रेज लेखक का कथन है—"Do not judge me by what I am but what I aspire to be." यानी—"जो कुछ मैं हूँ उससे मेरे बारे में निर्णय नहीं कीजिये, बल्कि जो कुछ बनने की मेरी आकांक्षा है उससे।" 'रश्मि-रथी' के कितने ही पद्यों से मैं अत्यन्त प्रभावित रहा हूँ और उनकी ध्वनि अब भी मेरे कानों में गूँजती रहती है। एक बार तो दिनकर जी के साथ मैं दिल्ली से मथुरा जा रहा था, तो मार्ग में मोटर खराब हो गई और हम लोग एक चाय की दुकान पर बैठे बैठे अपने समय का सदुपयोग करते रहे। उस समय ढाई घण्टे तक दिनकर जी ने काव्य की जो धारा प्रवाहित की, उसे मैं अपने जीवन की एक चिरस्मरणीय घटना मानता हूँ। सबसे अधिक आश्चर्य की बात यह थी कि एक कुत्ता ढाई घण्टे तक वहीं ध्यानावस्थित पड़ा हुआ 'रश्मि-रथी' को सुनता रहा। मेरा विश्वास पुनर्जन्म में है और मैं समझता हूँ कि वह धर्मराज युधिष्ठिर के इतिहास-प्रसिद्ध श्वान-शिरोमणि का अवतार था। इस प्रकार वह मोटर दुर्घटना हम दोनों के लिए—मेरे और उस कुत्ते के लिए—बड़ी सौभाग्यपूर्ण सिद्ध हुई। कहा जाता है कि मामा और भानजे को एक साथ यात्रा न करनी चाहिए। यद्यपि मैं अन्ध-विश्वासों में यकीन नहीं रखता, तथापि तब से दिनकर जी के साथ यात्रा करने से डरने लगा हूँ।

जिन असाधारण कठोर परिस्थितियों से ऊपर उठकर दिनकर जी उन्नति के शिखर पर पहुँचे हैं, उनका अन्दाजा केवल इसी से लग सकता है कि जब वह ढाई वर्ष के ही थे, उनके पिता जी का स्वर्गवास हो गया। उनके संघर्षमय जीवन की कहानी किसी उपन्यास से कम हृदयद्रावक और मनोरंजक तथा स्फूर्तिप्रद नहीं। जो

लोग कविवर दिनकर जी से ईर्ष्या रखते हैं, उन्हें यदि दिनकर जी के संघर्षों का पता लग जाय तो उनकी ईर्ष्या करुणा में परिवर्तित हो सकती है। यद्यपि पारिवारिक परिस्थितियों और शारीरिक अस्वस्थता ने उनको झकझोर डाला है, तथापि उनके कवि को दबोचने में वे बिल्कुल असफल रही हैं। दिनकर जी की एक कविता को, जो उन्होंने मेरे एक जन्म-दिवस पर भेंट की थी, यहाँ उद्धृत करने का मोह मैं नहीं छोड़ सकता—

मुक्त वाणी—

चाहे जो भी फसल उगा ले, तू जलधार बहाता चल,
जिसका भी घर चमक उठे, तू मुक्त प्रकाश लुटाता चल।
रोक नहीं अपने भीतर का स्रोत किसी के भी भय से,
मन में उठें भाव जो उनको गीत बनाकर गाता चल!
तुझे फिक्र क्या, खेती को प्रस्तुत है कौन किसान नहीं?
जोत चुका है कौन खेत? किस को मौसम का ध्यान नहीं?
कौन समेटेगा, किसके खेतों से जल बह जायेगा?
इस दुविधा में पड़ा अगर तो बाकी फिर ईमान नहीं।
तू जीवन का कंठ, दमित इसका कोई उत्साह न कर,
रोक नहीं आवेग प्राण के, संभल-संभल कर आह न कर।
उठने दे हुंकार हृदय से, जैसे वह उठना चाहे,
किसका कहाँ बक्ष फटता है, तू इसकी परवाह न कर।
हम पर्वत पर की पुकार हैं, वे घाटी के वासी हैं,
वन में भी वे गृही और हम गृह में भी संन्यासी हैं।
वे लेते कर बन्द खिड़कियाँ डर कर तेज हवाओं से,
झंझाओं में खोल पंख उड़ने के हम अभ्यासी हैं।।

२४ दिस० १९५३ ई० —दिनकर

निस्सन्देह दिनकर जी की आकांक्षाएं अपने सर्वोत्तम रूप में इस कविता में प्रकट हुई हैं।

मैं व्यक्तिगत रूप से दिनकर जी का अत्यन्त ऋणी हूँ। अपनी सर्वोत्तम रचनाएं 'विशाल-भारत' को भेज कर उन्होंने मेरे पत्र का गौरव बढ़ाया था और जब मामा यमराज (जमना मैया के भाई के नाते!) मुझसे मेरे अल्पसंख्यक सत्कर्मों की सूची मागेंगे, तो मैं उनसे विनम्रतापूर्वक यही कहूँगा "कविवर दिनकर जी की जो थोड़ी-सी सेवा मुझसे बन पड़ी, उसे आप मेरे पुण्य के खाते में लिख सकते हैं।"

मुझे विश्वास है कि दिनकर जी की कुछ धाराप्रवाह कविताएँ मुझे वैतरणी में अधिक गोता खाने से बचा लेंगी।

— ० —

हातिम

श्री सुहेल अज़ीमाबादी

हातिमताई का किस्सा आपने ज़रूर पढ़ा या सुना होगा। इतिहास का हातिम अरब के एक कबीले का सरदार था, जिसके दान की कहानियां अरब से निकलकर सारी दुनियाँ में फैल गई और तरह-तरह से मशहूर हुई। हातिम बड़ा दानी था। उसके दरवाजे से कभी कोई निराश नहीं लौटा। अगर किसी दिन कोई दान लेने वाला नहीं आता, तो उसकी खुशी में कमी हो जाती थी। और वह खुद इतना निराश हो जाता, जैसे उसी को दान नहीं मिल सका हो।

मगर उर्दू-साहित्य में हातिम और भी बड़ा हो गया। "आराइशे महफिल" में जिस हातिम के किस्से बयान किये गए हैं, वे अरब के ऐतिहासिक हातिम से बहुत बड़ा है। वह केवल दानी ही नहीं, बहादुर, जियाला और दूसरों के लिये अपनी जान खतरे में डालने वाला भी है। उसे दूसरों की कठिनाइयों को दूर करने में मजा आता है। कठिन-से-कठिन भार उठा लेता है। दूसरे की मुराद पूरी करने के लिये बड़ी-से-बड़ी मुसीबतों का सामना करता है। जंगल-जंगल, पहाड़-पहाड़ और रेगिस्तान रेगिस्तान घूमता है। न नदी को नदी समझता है और न समुन्दर को समुन्दर। मगर अपना वायदा पूरा करता है। जिसकी मदद की ठानता है, उसे पूरा करके दम लेता है। अरब का हातिम सम्पत्ति दान करता है और वो किस्से का हातिम सर्वस्वदान करता है। पर, घूम फिरकर दोनों एक ही काम करते हैं और वह है दूसरों को मदद।

मालूम नहीं, आप जानते हैं या नहीं। हम हिन्दुस्तानी साहित्यिकों के बीच भी एक हातिम न अरब कबीले का सरदार है और न किसी कहानी का हीरो। यह हातिम अरब के कबीले के सरदार की तरह धन का मालिक नहीं। और न 'आराइशे महफिल' के हीरो हातिम की तरह जानहार। लेकिन उसका दिल बहुत बड़ा है। और दोनों हातिम की सम्मिलित और बुनियादी सिफत इसमें मौजूद है। यानी दूसरों की मदद करने की भावना तथा अपनी दुनियाँ में यानी साहित्य की दुनिया में किसी को परेशान देखता है, तो खुद भी परेशान हो जाता है। और चाहे

कितनी ही कठिनाई सामने क्यों न आएं, उसकी सहायता करने को कदम आगे बढ़ा देता है।

साहित्यिक दुनिया का यह हातिम खुद भी साहित्यिक है, कवि और लेखक। और इसका नाम है श्री रामधारी सिंह 'दिनकर'। आप मेरी बात से शायद अचंभे में पड़ जाएं। लेकिन अचंभे की कोई बात नहीं। अगर आप इन्हें जानते हैं तो फिर मेरी बात से सहमत होंगे। अगर नहीं जानते, तो मेरा विश्वास कीजिये। और जरा जानने की कोशिश कीजिये। आप मेरी सच्चाई के कायल हो जाएंगे। दिनकर जी को मैं सन् '३७ से जानता हूँ। जब वे ब्रिटिश सरकार के नौकर थे। फिर भी कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी के अखबार 'जनता' में छपने के लिये अपनी कविताएं भेजा करते थे। जो पढ़ने वालों के दिलों को गरमाती थीं। लोग दिनकर जी का पूरा नाम नहीं लेते थे। शायद सरकारी जासूस पता ठिकाना जान ले। फिर भी एक बार उनकी नौकरी पर बन आई। बहुत से हेरफेर के बाद अब वह सरकारी नौकरी के चक्कर से निकलकर पालियामैंट के मेम्बर हैं। उस समय से अब तक की उनकी जिन्दगी मेरे सामने है। और जब भी उनकी बात छिड़ती है तो मुझे 'आराइशे महफिल' का हातिमताई याद आ जाता है। अगर उनके पास अरब सरदार हातिम की तरह धन होता, तो धन से भी मदद करते। मगर वो मध्य वर्ग के आदमी हैं। और खुद भी बहुत सी जिम्मेदारियों का बोझ ढोये हुए हैं। दूसरों की मदद से कभी बाज नहीं आए। वह इस दुनिया में बहुत बड़ा दिल लेकर आये हैं। दूसरों की मदद करने में उन्हें मजा आता है। दिनकर जी की इन्सानियत, मित्रों के लिये प्रेम-भाव, बेगर्ज दोस्ती और दूसरों को लाभ पहुँचाने की भावना ऐसी खूबियां हैं, जो आम तौर पर कम पायी जाती हैं। इन्हीं खूबियों की वजह से वह मित्रों के प्रिय हैं और साहित्य-समाज में ऊँची जगह के मालिक। उनके दोस्तों की संख्या बहुत बड़ी है। हर वर्ग और हर प्रकार के लोग उनके दोस्त हैं। और सब के लिये उनके दिल में प्यार है। और उन्हें हर एक की फिक्र रहती है। लेकिन साहित्यिकों के लिये उनके दिल में केवल प्यार ही नहीं, प्रेमभाव ही नहीं, बल्कि साहित्यिक दोस्त उनकी कमजोरी हैं।

सुबह का समय है। आप दिनकर जी से मिलने गए हैं। वो आपका हंसकर स्वागत करेंगे। खातिर करेंगे। आपसे बातें करेंगे। हंसेंगे, बोलेंगे, साहित्य से राजनीति तक के विषय पर। और बहुत सा समय बीत जाएगा। एकाएक उनको एक बात याद आ जाएगी। और वह चौंक पड़ेंगे। अरे, अच्छा याद आया। अगर आपसे ज्यादा मेलजोल नहीं, तो क्षमा मांग लेंगे। अगर मेलजोल ज्यादा है, तो फिर कहेंगे। अरे भाई, तुम भी चलो, फलां आदमी से मिलना है। यह फलां आदमी कोई मिनिस्टर या अफसर होगा। एक दोस्त है बेचारा, अगर इसका काम हो जाए तो अच्छा है।

फिर वे तैयार हो जाएंगे। अगर बात कोई छिपाने की नहीं, और आपके पास समय भी है, तो आपको भी जरूर ले जाएंगे। और वहाँ पहुँचकर उस आदमी की सिफारिश करेंगे और पूरी कोशिश करेंगे कि उस आदमी का काम बन जाए। आप देखेंगे कि इस कोशिश में खुद उनके दस बारह रुपये खर्च भी हो गए। और अगर वह आदमी साहित्यिक है, तब फिर दिनकर जी का जोश दुगुना, तीन गुना बढ़ जाएगा। अगर वह काम हो गया तो ऐसे खुश होंगे कि खुद उनका अपना ही काम हो गया। फिर दूसरे दिन किसी दूसरे के काम के लिए, किसी दूसरे के पास पहुंचेंगे और यह सिलसिला चलता ही रहेगा। अगर कोशिश करने पर भी किसी का काम न हो सका तो फिर दिनकर जी ऐसे दुःखी हो जाएंगे कि कोई बड़ा मुकदमा हार कर बैठे हों। बार-बार उसी की बात करेंगे। और उसकी मदद की कोई दूसरी तरकीब सोचते रहेंगे।

कवि और लेखक दिनकरजी की कमजोरी हैं। लेकिन यह जरूरी नहीं कि लेखक और कवि हिन्दी का ही हो। किसी भाषा का भी हो, दिनकरजी उसे अपनी बिरादरी का आदमी समझते हैं और उसके लिए चिंतित रहते हैं। फलां बीमार है, उसके इलाज का इन्तजाम होना चाहिए। फलां बेकार है, उसके लिए काम ढूँढ़ना चाहिए। फलां कवि या लेखक ने सारी जिन्दगी साहित्य की सेवा की है, मगर अब तक उसे वो जगह नहीं मिली जिसका वह हकदार है, उसके लिए कुछ करना चाहिए। अगर 'पद्म भूषण' या 'पद्म श्री' ही मिल जाए, तो भी साहित्य-साधना का मान हो जाए। कौपी राइट ऐक्ट तो इस तरह बनना चाहिए कि लेखकों को ज्यादा से ज्यादा मदद पहुँच सके और उनकी जिन्दगी इज्जत और आराम से कट सके। उनको समाज में ऊँची जगह मिले। उनके बच्चों का भविष्य सुरक्षित हो। इस कोशिश में वे अपना बहुत-सा समय और पैसा भी खर्च करते रहते हैं। लेकिन इससे भी बड़ी बात यह है कि वे नये लिखनेवालों का दिल खोलकर स्वागत करते हैं; उनकी हिम्मत बढ़ाते हैं, उन्हें टोकते भी हैं, और रोकते भी हैं, समझाते और बतलाते भी हैं, और अगर कोई नया लेखक सचमुच कोई अच्छी चीज लिखे, तो फिर दिनकरजी दिल खोलकर उसकी सराहना करते हैं। हर जगह उसकी तारीफ करते हैं। लोगों से बार-बार कहते हैं और उसकी किताब पढ़ने को कहते हैं। इतनी तारीफ करते हैं, कि कभी-कभी लोग उकताने लगते हैं। मगर दिनकरजी का जी नहीं भरता है। वे साफ-साफ कहते हैं कि इन्हीं नये लिखनेवालों से तो भविष्य की सारी उम्मीदें हैं और इसलिए इन नये पौधों की देख-भाल जरूरी है। पुराने लोगों को जो कुछ करना था, कर चुके। नये लोगों को बढ़ाओ। उन्हीं से साहित्य भी बढ़ेगा। उनसे जितना भी हो सकता है, नये लिखने वालों को बढ़ने में मदद देते हैं। ये

मामूली बात नहीं है। हम और आप दोनों जानते हैं कि आम तौर पर एक लेखक या कवि दूसरे लेखक या कवि को किस तरह घूर कर देखता है और उसके फूलने-फलने पर कुढ़ता है। दिनकरजी दूसरे लेखकों को फूलते-फलते देखकर खुश होते हैं। वे उस लेखक की बात पर विश्वास रखते हैं, जिसने कहा था—"जो भी अच्छा साहित्य पैदा करता है, वो मेरा ही काम करता है। यह भी जरूरी नहीं कि मैं जानूँ भी कि कौन क्या कर रहा है।"

दिनकरजी बहुत हंसमुख और खुशमिजाज आदमी हैं। खूब हँसते और बोलते हैं। इतनी जोर से हँसते हैं कि छत टूट कर गिरने का डर लगता है। आप जब भी जाएँ दिल खोलकर मिलेंगे, बातें करेंगे और खुश होंगे। अगर आपसे ज्यादा मुलाकात है, और देर करके उनसे मिलने गए हैं, तो आपसे शिकायत भी करेंगे कि इतने दिनों तक कहाँ गायब थे। लेकिन अगर कहीं उस समय उनके दिमाग में कोई कविता चक्कर काट रही है, या निबन्ध कुलबुला रहा हो, और वे कागज कलम लेकर बैठे हों तो फिर उनकी सहानुभूति कम हो जाती है वह नौकर को जरूरत के मुताबिक बातें कहकर कमरा बन्द करके लिखने बैठते हैं। हो सकता है कि नौकर आपसे कह दे कि दिनकरजी बाहर गए हैं और वे कमरे में लिख रहे होंगे। अगर आपसे जान पहचान ज्यादा है तो नौकर आपसे कह देगा कि वो लिख रहे हैं। इसके बाद आप भी कोई अखबार उठा लीजिये और पढ़िये और इन्तजार कीजिए कि किसी मंजिल पर आकर कविता या निबन्ध रुके तो दिनकरजी कमरे से निकलें और आप उनसे मिलें। मगर कोई ऐसे समय जाए ही क्यों। दिनकरजी के लिखने का समय सुबह सवेरे होता है या दोपहर को। उस समय वो सरस्वती के सामने से उठकर ब्रह्मा के पास भी जाने के लिए तैयार नहीं हो सकते। आदमी तो खैर आदमी ही है और जब सरस्वती धीरे-धीरे दूर हो जाती हैं, तब फिर दिनकरजी वही बागोबहार आदमी हैं।

मगर यह न समझ लीजिएगा कि दिनकरजी को गुस्सा नहीं आता है। खूब आता है, और उतने ही जोर से जितने जोर से प्यार आता है। उनके गुस्से करने का ढंग भी निराला है। उन्हें गुस्सा कहीं भी आ सकता है। दोस्तों में भी और मन्दिर में भी। अगर कोई ऐसा आदमी उन्हें रंज पहुँचाये जिससे उनका कोई खास सम्बन्ध नहीं, तो उनको गुस्सा तो आएगा लेकिन इतना नहीं जितना किसी दोस्त या जान-पहचान वाले से। और जब वे किसी से गुस्सा हो जाते हैं, तो विश्वास कीजिये कि उसे केवल कत्ल करना ही रह जाता है। वरना अपने ख्याल में दिनकरजी उस आदमी को हर सजा दे लेते हैं। तय कर लेते हैं कि उससे सारे सम्बन्ध खत्म।

हो सकता है कि ख्याल ही ख्याल में उसे कत्ल भी कर डालते हों। मगर जब वही आदमी सामने आ जाता है, अपनी गलती मान लेता है, और अपने किए पर अफसोस जाहिर करता है, या किसी तरह चाहे झूठ ही सही, उनकी तसल्ली करा देता है तो दिनकरजी का सारा गुस्सा हवा बनकर उड़ जाता है और वे देखते-देखते बिलकुल बदल जाते हैं। गुस्से का बादल कभी बरस कर खुल जाता है और कभी बिना बरसे ही छट जाता है और दिनकरजी सारी बातें भूल जाते हैं। जैसे कोई बात ही नहीं थी और उनको गुस्सा आया ही नहीं था। अगर कोई दोस्त सफाई न दे सका तो दस-पन्द्रह दिन या महीना भर गुस्सा जरूर रहता है। मगर धीरे-धीरे खुद ही उतर जाता है और कुछ दिनों में वह बात भी भूल जाते हैं। दिनकरजी का दिल सागर है जिसमें ज्वार-भाटा तो थोड़ी देर के लिए आता है, मगर तूफान नहीं आ सकता और न उसका बन्ध टूट सकता है। बस एक उबाल आया और शान्त हो गया।

दिनकरजी ने बहुत काम किये हैं। बहुतों को लाभ पहुँचाया है और तरह-तरह से। सीमेंट की परमिट से लेकर नौकरी तक दिलवायी है। उन कामों की सूची बड़ी लम्बी है और अब भी दिनरात इसी फिक्र में रहते हैं। मगर भूले से भी यह नहीं सोचते, कभी उनको भी बदला देगा। या उन्हें भी कभी उससे काम लेना है। बल्कि किसी का काम करने के बाद उन्हें याद भी नहीं रहता कि उन्होंने कभी किसी का काम किया है। अलबत्ता जब कभी किसी दोस्त से कभी इनको दुख पहुँचता है, तो वे बहुत दिनों तक दुखी रहते हैं मगर फिर उसे भी भूल जाते हैं, अगर ऐसे आदमी को कोई काम पड़ जाए जिससे उनको दुख पहुँचा है, तो भी उसका काम जरूर कर देंगे। शायद यह उनकी आदत है। अपनी आदत से मजबूर होकर दूसरों की मदद करते हैं। इसमें न कोई दिखावा होता है और न कोई गरज। यह भी जरूरी नहीं कि उनका कोई दोस्त आकर उनसे अपनी कोई जरूरत कहे। अगर उन्हें मालूम हो जाए कि उनके किसी दोस्त को जरूरत आन पड़ी है, तो वे खुद ही उसका काम करने की कोशिश करेंगे और उनसे इस सिलसिले में जो हो सकेगा, उससे बाज नहीं आएँगे और काम करने के बाद यह भी कह देंगे कि उनका रंज अभी खत्म नहीं हुआ है। यह भी देखा है कि लोगों ने उनसे काम लिया है, और उन्हें खूब तंग भी किया है मगर जब काम हो गया है, तो एक ही शहर में रहते हुए भी कभी उनसे नहीं मिले। मगर दिनकरजी ने कभी उनकी शिकायत नहीं की। यह बड़प्पन कम लोगों को नसीब होता है।

दिनकरजी कवि हैं, लेखक हैं, लेकिन मैं उनकी कविता के बारे में नहीं कह रहा हूँ और कह भी नहीं सकता। इसके सिवा कि उनकी कविताएँ मुझे अच्छी

लगती हैं। मेरा हिन्दी का ज्ञान उतना नहीं कि कोई राय दूँ। यह जानता हू कि दिनकरजी बहुत पढ़ते हैं, बहुत याद रखते हैं। उर्दू शायरों का कलाम उन्हें बहुत याद है। खासकर गालिब और इकबाल का। वे चकबस्त, जोश, जिगर और ज़मील के भी बड़े प्रशंसक हैं। इकबाल के विचारों के विरुद्ध होने पर भी उनकी प्रशंसा करते हैं। इकबाल राष्ट्र और संस्कृति की बुनियाद धर्म पर रखते हैं। दिनकरजी उसके कायल नहीं हैं। वह भारत में मिली-जुली सभ्यता के मानने वाले हैं। फिर भी इकबाल को बड़ा कवि मानते हैं और उनके प्रशंसक हैं। जब दिनकरजी की पुस्तक 'संस्कृति के चार अध्याय' छपी तो बाज कट्टर हिन्दुओं ने उन्हें जी खोलकर बुरा-भला कहा। उनकी किताब जलायी गई तो दिनकरजी खूब हँसे और बोले ..... 'किताब तो जलायी जा सकती है, मगर उससे सचाई तो नहीं बदल सकती। इतिहास को बदला तो नहीं जा सकता"। दिनकरजी कट्टर राष्ट्रवादी हैं। मगर प्रतिक्रियावादी नहीं हैं। इसके विरुद्ध प्रगतिवाद के साथ हैं। राष्ट्रीयता की बुनियाद धर्म, भाषा और प्रदेश नहीं। वह ऐसे छोटे बन्धनों के खिलाफ हैं। वे एक विशाल भारतीय राष्ट्रीयता के कायल हैं। धर्म, भाषा, प्रदेश का भेद-भाव न हो, सब अलग धर्म भाषा और प्रदेश के खानों में बँटे रहने पर भी खुद को हिन्दुस्तानी जानें और मानें। मुझे याद है, दो साल पहले उत्तर भारत की एक महिला उनसे मिलीं। इस महिला के पति दक्षिण भारत के थे और माँ-बाप उत्तर भारत के। महिला खुद कायस्थ थीं और उनके पति ब्राह्मण। दिनकरजी ने जब यह जाना तो उन्हें मुबारकबाद दी और बोले, जब तक ये बंधन नहीं टूटेंगे, भारत की विशाल राष्ट्रीयता मजबूत नहीं हो सकती। बड़ा बनने के लिए यह जरूरी है कि हम सब छोटी-छोटी बातों को दिमाग में न आने दें।

दिनकर जी सारे हिन्दुस्तान में फिरते हैं। सारे हिन्दुस्तान में उनके दोस्त भरे हैं। उनमें हिन्दू भी हैं और मुसलमान भी, सिख और ईसाई भी और सबके सब उन्हें बहुत प्यारे हैं। मगर साहित्यिक बिरादरी उन्हें सबसे ज्यादा प्यारा है। साहित्यिकों में वे सबसे ज्यादा खुश रहते हैं। पुराने साहित्यिकों को आदर देना और छोटों को प्यार देना, कोई उनसे सीखे। अच्छा साहित्य कहीं पैदा हो रहा हो, किसी भाषा, में किसी प्रदेश में, वो उसे सारे देश की दौलत और पूँजी समझते हैं, जिसका बंटवारा नहीं हो सकता। आखिर में गुण की एक बात और बताऊँ। दिनकर जी जल्दी किसी से रज नहीं होते। छोटी-मोटी बातों को टाल जाते हैं। और आप चाहते हैं वो रज हो ही जाएँ, तो उसकी भी एक तरकीब है। आप उसको काम में लाकर देखिए। पहले दिनकर जी बड़े शौक से कवि-सम्मेलनों में जाया करते थे। मगर तीन वर्ष से कवि-सम्मेलनों में जाना उन्होंने बिल्कुल ही छोड़ दिया है। अगर आप चाहते

हों कि दिनकर जी आप से रंज हो ही जाए। तो, एक कवि-सम्मेलन का इंतजाम कीजिए। और उनसे ही कहिए कि उसमें वे भी चल वे साफ-साफ इंकार कर देंगे। आप जिद शुरू कर द। फिर देखिए, दिनकर जी आप से कैसे रज होते हैं। ऐसे रज हो जाएँगे कि संभालना मुश्किल हो जाएगा, लेकिन फिर मना लेने का नुस्खा भी आसान है। वो कवि सम्मेलन में तो खैर नहीं जायेंगे। मगर उनका गुस्सा खत्म हो जायेगा। और आप उनकी हमदर्दी हासिल कर लेंगे। दिनकर जी से बा यह कह दीजिए कि आप को उनकी मदद की जरूरत है। फिर देखिये, गुस्सा खत्म करके बड़ी गम्भीरता से आपकी मदद करने की बातें शुरू कर देंगे। जब तक आपका काम खत्म न हो जाय, चैन न लेंगे।

यह है चरित्र हिन्दी के कवि श्री रामधारीसिंह 'दिनकर' का। मैं नहीं जानता कि आप मेरे ख्याल से सहमत होंगे या नहीं। मगर मुझे तो ऐसा लगता है कि दिनकर जी पिछले जन्म में हातिमताई थे। जो किस्से कहानियों के रास्ते साहित्य में आए। फिर साहित्य की दुनिया से इस दुनिया में आए। और, अब दूसरे ढंग से अपना काम कर रहे हैं। अपनी कविता में जो इनका धन है, उसे लुटा रहे हैं और दूसरों के काम आ रहे हैं।

— ० —

दिनकर : एक संस्मरण

श्री मनोरंजन एम ए०

(१)

जहाँ तक याद है दिनकर ने मुझे एक बार बतलाया था कि उसने मुझे पहले पहल सन् १९२८ में देखा था जब मुज़फ़्फ़रपुर में पं० पद्मसिंह शर्मा के सभापतित्व में अखिल भारतवर्षीय हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन का अधिवेशन हुआ था। उस अधिवेशन में मैंने अपना स्वागत-गान सुनाया था—'वैशाली के आँगन में, सीता के स्नेह-सदन में।' वह गीत लोगों को बहुत पसंद आया था। दिनकर को भी वह बहुत भाया था। ऐसा स्वयं दिनकर ने ही मुझे बाद में बतलाया।

किन्तु, मैंने उस समय दिनकर को देखा तो नहीं ही था—उसके विषय में कुछ सुना भी नहीं था क्योंकि तब तक हमारे साहित्याकाश में दिनकर का दिव्य उदय नहीं हुआ था। मैंने पहले पहल दूर से ही उसकी कनक-किरणें तब देखीं जब सन् १९३३ में डा० काशी प्रसाद जायसवाल के सभापतित्व में मुंगेर वाले प्रादेशिक हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के अधिवेशन में उसने अपने गौरव पूर्ण 'हिमालय' के उत्तुंग शिखरों पर दण्डायमान हो 'मेरे नगपति, मेरे विशाल' के अन्तराल से अपना दिव्य प्रकाश फ़ैलाया था। मैं उन दिनों हिन्दू-विश्व-विद्यालय में अंग्रेजी का सहायक प्राध्यापक था। उस सम्मेलन में सम्मिलित होने का सुअवसर मुझे प्राप्त नहीं हुआ था। किन्तु मित्रों तथा समाचार पत्रों के माध्यम से दिनकर की प्रचुर प्रशंसा सुनने का सौभाग्य मुझे प्राप्त हुआ। लोगों ने मुझे बतलाया कि दिनकर सुन्दर कविताएँ लिखता तो है ही, वह उन्हें कहता भी है बहुत अच्छे ढग से। उसकी अपनी निराली शैली है जिसका अनुकरण सहज ही कोई नहीं कर सकता। उसकी आवाज में जादू है और जनता मंत्रमुग्ध होकर उसे सुना करती है—सुनती ही रह जाती है। पाठ समाप्त हो जाने पर भी उसकी ध्वनि कानों में गूँजती ही रहती है।

सन् १९३४ के प्रलयंकारी भूकम्प के बाद जब मैं अपने कुलपति महामना मालवीय जी की अनुमति से दो महीने की छुट्टी ले पटने में सेवार्थ दो महीने ठहरा था

तब की मुझे याद है कि एक दिन हमारे कतिपय मित्रों ने दिनकर की 'नई दिल्ला' तथा 'हिमालय' आदि कुछ कविताएँ मेरे सामने रखकर मुझसे कहा था कि मैं उन्हें सस्वर सुना दूँ। मैंने प्रयत्न भी किया, किन्तु, उन लोगों को मेरा पाठ जंचा नहीं। स्पष्ट शब्दों में उन्होंने मुझे बतला दिया कि मैं फेल हो गया। दिनकर की शैली निराली है। वह बड़े ही प्रभावोत्पादक ढंग से अपनी कविताएँ सुनाता है। मेरे जी में और भी उत्सुकता हुई कि दिनकर को देखता, दिनकर को सुनता।

(२)

मेरी यह लालसा पूरी हुई सन् १९३५ में जब पटने से मेरे पास मेरे भाई वेनीपुरी का पत्र आया कि वहाँ एक वृहत् कवि-सम्मेलन का आयोजन हो रहा है और अच्छा हो, यदि मैं भी उसमें सम्मिलित होऊँ। पं० माखनलाल चतुर्वेदी उसका सभापतित्व करेंगे। पं० बनारसीदास चतुर्वेदी उसमें भाषण देंगे तथा बिहार के नव-युवक कवि दिनकर, केसरी और नेपाली प्रभृति अपनी कविताएँ सुनायेंगे। वेनीपुरी उन दिनों योगी के सम्पादक थे और मैं तब भी बनारस में ही था।

मैं अपने को रोक न सका और यथा समय उस अधिवेशन में सम्मिलित हुआ। वह अधिवेशन मुझे सदा याद रहेगा और विशेषत: याद रहेगा पं० बनारसीदास जी का सौहार्द, पं० माखनलाल जी का सौम्य व्यक्तित्व तथा धाराप्रवाह रससिक्त साहित्यिक भाषण एवं दिनकर का प्रभावशाली व्यक्तित्व तथा ओजपूर्ण कविता-पाठ :—

"सुनूँ मैं सिंधु, क्या गर्जन तुम्हारा ? स्वयं युगधर्म की हुंकार हूँ मैं।"

लम्बा तकड़ा शरीर, सौम्य-स्निग्ध मुख-मंडल, गौर-वर्ण, छोटी-छोटी मूंछें, तब मूंछ वे भी रहते थे—मैं भी रखता था। कर्जन का प्रभाव हम पर बाद में पड़ा। किन्तु, सबसे अधिक प्रभावोत्पादक था उनका कविता पाठ। "मेघरन्ध्र में बजी रागिणी अब तो हिन्दुस्तान जगे।'

ओज—दिनकर के कवि का प्रधान गुण है ऐसा ही मैंने महसूस किया। आज भी मेरी वही धारणा है, यद्यपि दिनकर के कवि तथा मननशील विचारक ने अपनी बहुमुखी प्रतिभा के प्रचुर प्रमाण दिए हैं।

(३)

दिनकर के विषय में मैंने जो कुछ भी सुना था उससे कहीं बढ़कर उसे पाया। कवि तो मुझे भाया ही, किन्तु, मानव ने मुझे जिस प्रकार अपनाया उसे पाकर मैं फूला नहीं समाया। 'वज्रादपि कठोराणि मृदूनि कुसुमादपि।' दिनकर ने मुझे अपना जो स्नेह प्रदान किया वह मेरे जीवन की अमूल्य निधि है। मुझे इसी

बात का विशेष गौरव है कि मैं दिनकर का प्रिय, पूज्य और समादरणीय भया हूँ और वह है मेरा प्यारा छोटा भाई।

इस सम्बन्ध में मैं उसकी दो चिट्ठियों की प्रतिलिपि दे रहा हूँ। पहली चिट्ठी जो उसने लिखी वह थी एक पोस्ट-कार्ड पर, दूसरी चिट्ठी आई थी एक लिफाफे में। पोस्ट कार्ड लिखा था उसने 'P. O. लालगंज, Dt. मज़फ़्फ़रपुर' से, तिथि थी—७. १. ३६।

"प्रिय भाई मनोरंजन जी !

प्रणाम।

महारथी जी से मालूम हुआ कि उस दिन आप सिर्फ पाँच मिनट बाद ही पुस्तक-भंडार पधारे थे। नहीं मिल सकने का बड़ा दुःख है। मैं ऐसी अवस्था में था कि अधिक देर तक ठहर नहीं सकता था। क्षमा करेंगे।

आपने 'शहीद स्मृति' नाम की कोई कविता लिखी है। कल की चिट्ठी में बनारसीदास जी ने उसका जिक्र किया है। क्या मैं विनम्रतापूर्वक उसकी कापी भेजने के लिए आप से निवेदन कर सकता हूँ ? उसे देखने के लिए मैं बड़ा ही उत्सुक हो उठा हूँ।

आपने अपने संग्रह का नाम शायद 'गुनगुन' रखा है। 'गायक हूँ कुछ गा लेता हूँ' की दृष्टि से यह मौजूँ है, किन्तु, आज के Theme को व्यक्त करने वाला यह नाम नहीं है। कुछ और material नाम चुनिए। आप तो सिर्फ़ गुनगुनाते ही नहीं, गरजते भी हैं।

मैं अभी दो महीनों तक यहीं रहूँगा। बदल कर आया हूँ।

आपका—

दिनकर"

बाद में लाल-स्याही से लिखा हुआ था "It would be a better thing if you could correspond with me. "साफ़ शब्दों में, मैं आप से पत्र-व्यवहार रखना चाहता हू।"

(४)

हम लोगों का पत्र-व्यवहार शुरू हुआ। मैंने एक पत्र उसे लिखा 'शहीदस्मृति' की प्रतिलिपि भेजते हुए और उससे अनुरोध किया कि वह बनारस आवे क्योंकि वहाँ के छात्र उसे सुनने को अत्यन्त उत्सुक थे। कतिपय कारणों से दिनकर उस पत्र का उत्तर न दे सका तो मैंने एक दूसरा पत्र उसे लिखा। उसका उत्तर लालगंज से ही

आया, किन्तु, भूल से तारीख एक साल पीछे की पड़ गई—२२. १. ३५। जनवरी में भूत-बाधा जल्दी छोड़ती नहीं। पिछला साल खामखाह कभी-कभी कलम की नोक पर आ ही जाया करता है।

पत्र इस प्रकार है—

'मेरे प्रिय, पूज्य और समादरणीय भैया,

कल शाम को आपका १६-१-३६ का पत्र मिला। सच है, उत्तर में विलम्ब कर के मैंने गलती की। उसका कारण भी है। लेकिन, आपने यह क्या किया? क्या आप ऐसी भी चिट्ठी लिख सकते हैं? पलक मारते मेरी नीयत पर आपने संशय कर लिया इसके लिए मैं क्षमा नहीं कर सकता।

आपके पत्र मिलने के बाद मैं समस्तीपुर चला गया। वहाँ Court में मेरा witness था। उसके बाद घर जाना पड़ा। घर पर भतीजी को शादी है। तीन फरवरी का लग्न है, लड़के के पिता के पास लग्न भेजा गया। अभी स्वीकृति या अस्वीकृति की कोई सूचना नहीं है। इसी suspense में हूँ। आठ दिनों से चिन्ता ऐसी बढ़ गई है कि सिवा court attend करने के कोई काम नहीं कर सकता। इसी से आपको उत्तर नहीं लिख सका। 'बच्चन' की भी एक लम्बी चिट्ठी उसी दिन आई थी। उसका भी उत्तर नहीं लिख सका हूँ। अस्तु।

तार भी मिला। आपकी चिट्ठी भी। ब्रह्मदेव के पत्र भी। आने की उत्कट इच्छा भी है। लेकिन पराधीनता की पीड़ा भोगनी है। आ भी सकूँगा तो रविवार के प्रातःकाल और उसी दिन शाम को चल देना पड़ेगा। Permission के लिए लिखा है। देखिए, आ गया तो आ भी सकता हूँ। मैंने तार का जबाब भी दे दिया था।

दूसरी बात। अगर लग्न स्वीकार कर लिया गया तो मुझे शायद घर जाना पड़े और तब शायद नहीं आ सकूँगा। मगर लग्न नहीं माना गया तो अवश्य आऊँगा। लेकिन Permission का बखेड़ा है।

His Majesty के death से प्रोग्राम में कोई परिवर्तन हो तो लिखिए। ऐसा न हो कि मैं आप के यहाँ आऊँ और अधिवेशन रहे ही नहीं। मुझे तार से सूचना दें। मैं अगर आऊँगा तो रविवार को ही। शनैश्चर को Court करके चल देना होगा। रात की ट्रेन में चढ़ूँगा। बनारस जब पहुँचूँ। किन्तु, Permission नहीं आया तो माफ़ करेंगे।

आपने ऐसा पत्र लिखकर मुझे लज्जित क्यों किया? इस पत्र को मैं एक बार से अधिक पढ़ नहीं सका। कोशिशें बहुत की। यह "आप" काँटे की तरह आँखों

में चुभता है। अगर दूसरे पत्र में 'आप' का प्रयोग किया तो चिट्ठी बैरंग वापस जायगी। समझ रखें।

मैं आप के प्रथम पत्र का उत्तर, अगर रविवार को आ नहीं सका तो लिख कर पीछे दूँगा।

३ फरवरी को अगर घर पर शादी रही तो मुंगेर भी आना मुहाल रहेगा।

आपका—

दिनकर

और भी लिखा है—

"सुना है रेणुका की बड़ी निन्दा हो रही है"

"कविता की नकल अवश्य जायगी।" "सूली ऊपर सेज पिया की सूली से डरना कैसा?"

"दूसरी चिट्ठी ब्रह्मदेव की है। वह आपके College के Second year का छात्र है। उसने अपना पता नहीं लिखा इसीलिए आप के पास भेज रहा हूँ। माफ करें।"

(५)

पत्रों में काट-छाँट करना मुझे अनुचित जान पड़ा। इसी से अविकल प्रतिलिपि दे दी है। सार्वजनिक व्यक्तियों के जीवन में व्यक्तिगत-सी कोई भी बात नहीं रह जाती। हमारे राष्ट्रकवि पद्मभूषण दिनकर से बढ़कर सार्वजनिक जीवन और किस का होगा?

— ० —

दिनकर भैया

श्री ब्रजकिशोर 'नारायण'

मैं उस दिनकर को नहीं जानता जो राष्ट्रकवि कहा जाता है। मैं उस दिनकर को भी नहीं पहचानता, जिसे 'पद्मभूषण' की पदवी से प्रतिष्ठित किया गया है, और उस दिनकर से भी मेरा परिचय नहीं है, जो हिन्दी का सर्वशक्तिमान कवि और विचारक है।

मैं उस दिनकर को जानता हूँ जिस की संज्ञा के प्रत्यय में 'भैया' का विशेषण है और जो अपनी इसी विशिष्टता से मेरे जैसे कई अनुजों का एकदम आत्मीय बन गया है।

आत्मीयता विशेषण की वस्तु नहीं है, स्थापना की है और उस स्थापना में स्वाभाविकता पहली आवश्यकता है। दिनकर भैया की सैकड़ों स्वाभाविकताओं में से केवल एक की ही चर्चा यहाँ कर रहा हूं ताकि उन पर दे रही "सृष्टि और दृष्टि" का मौजूँपन बना रहे और मैं एक अनकही कथनी को कह पाने का पुण्य प्राप्त कर सकूँ।

खड़्गपुर (मुंगेर) के एक साहित्य-समारोह में डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी के साथ यात्रा करते हुए दिनकर जी ने श्रीकृष्ण सेवा-सदन के विशाल अहाते में आधी रात को मुझे जगाकर कहा—'नारायण ! उठो ! मुझे तुमसे एक बहुत जरूरी बात करनी है।" मैं अकचका कर उठ बैठा ! उन्होंने खाट पर पलथी लगाते हुए चिन्तित स्वर में कहा—"तुम बड़े ही निर्भीक और सच्चे पुरुष हो, साफ-साफ बताओ कि मुझ में क्या-क्या दोष हैं। मैं उनका परिमार्जन करना चाहता हूँ।"

दिनकर भैया की स्वाभाविक आत्मीयता इस उभार पर ऊपर उठ आएगी, मैं इसकी कल्पना भी नहीं करता था। मैं आश्चर्य से उनकी ओर ताकने लगा। वह द्रवित भाव से बोले—'नारायण ! सच कहता हूँ, तुम मुझे मेरी गलतियों से वाकिफ कराओ ! आदमी अपने अपराधों से अवगत नहीं होता !"

उनके आग्रह को मैं टाल नहीं सका। दो टूक बातें उगल दीं। करेले की तरह कड़ुवी और नीम की तरह तीखी। उन्होंने उसे भेषज की तरह ग्रहण किया और बोले—'तुम्हारी बातें बहुत हद तक सही हैं मगर इस दुनिया की मजबूरियों को भी तुम जानते ही हो!"

खैर, इस प्रसंग पर उनसे दो घण्टों तक कई तरह का आलोड़न-विलोड़न चलता रहा और वे पारदर्शी हृदय-मस्तिष्क से सैकड़ों व्यक्तियों और घटनाओं की सोदाहरण चर्चा करते रहे। मैं अवाक् होकर सुनता रहा और गुनता भी। क्यों कि मैं देख रहा था कि उन में महानता के एक अप्रत्याशित तत्त्व का आविर्भाव हो रहा है। मेरे जैसे अनुज के लिए इससे बढ़कर उल्लासप्रद बात और क्या हो सकती थी? मैंने सोने के पहले पहली बार उनके पाँव छूए और कहा—"भैया! आप हिन्दी के ही नहीं, भारत भर के एक विलक्षण व्यक्तित्व के निर्माण में अपने निजत्व को आत्मसात् करने जा रहे हैं।"

दिनकर भैया मेरे इस वाक्य पर श्यामा रजनी में भी लज्जारुण हो उठे और मेरे सिर पर अपने दाहिने हाथ से हलकी-सी चपत जड़ते हुए बोल उठे—

—"शरारती कहीं का!!

— ० —